सैद्धान्तिकी

समय–समाज के संदर्भों की शोध–पत्रिका

प्रवेशांक 2008

संपादक

डा. व्रज कुमार पाण्डेय

डा. दीपक कुमार राय

अलका पब्लिकेशन्स

448, पॉकेट–5, मयूर विहार, फेज–I

दिल्ली–110091

वर्ष : 1 **अंक :** 1 ❑ अक्टूबर 2008

सैद्धान्तिकी

सैद्धान्तिकी भारत में समाचार पत्रों के निबंधक (आर.एन.आई.) द्वारा अनुमोदित है।

संरक्षक: डा. नवल किशोर
डा. पी. एन. सिंह
डा. एस. त्रिपाठी

परामर्श: डा. गिरीश मिश्र
डा. आर. एन. कुमार
डा. जी. पी. ओझा

संपादक मंडल: डा. कृष्ण कुमार सिंह
डा. विश्वमित्र प्रसाद चौधरी
डा. शशिकांत राय

प्रबंध संपादक: राम मुरारी

आवरण: दलबीर सिंह

साज-सज्जा : मो. सलीम अंसारी

संपादकीय सम्पर्क:

528, पॉकेट-5, मयूर विहार, फेज-1,
दिल्ली-110091
फोन : 011-43015270, 64683387
e-mail : editorialindia@yahoo.com

मूल्य : रूपये 50.00

मुद्रक एवं प्रकाशक शैलेन्द्र सेंगर द्वारा 448, पॉकेट-5, मयूर विहार, फेज-I, दिल्ली-110091 से प्रकाशित तथा बी. के. ऑफसेट, नवीन शाहदरा दिल्ली-32 से मुद्रित

नोट :

पत्रिका में प्रकाशित लेखकों के विचार अपने हैं। उसके लिए पत्रिका/संपादक/संपादक मंडल को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। पत्रिका से सम्बंधित किसी भी विवाद के निपटारे के लिए न्याय क्षेत्र दिल्ली होगा।

सम्पादकीय

यदि किसी समाज, किसी देश में शोध हो रहे हैं तो यह माना जाना चाहिए कि वहाँ लगातार बेहतर होने की संभावनाएँ सांस ले रही हैं। कहीं भी, किसी भी विषय में हो रही शोधात्मक गतिविधियाँ जिज्ञासाओं और प्रश्नों को जीवित रखे हुए है और एक बेहतर शोध किसी प्रश्न का बेहतर उत्तर होता है। ऐसे में बेहतर उत्तरों–समाधानों को लोगों के बीच आना चाहिए। एक स्तरीय और सक्षम शोध–पत्रिका यह काम बखूबी कर सकती है। गहन अनुसंधान की ईमानदार और अनुसंधान को प्रोत्साहित करने के निमित्त हम सबने मतादर्श नामक शोध–पत्रिका प्रकाशित करने का निर्णय लिया है। इस क्षेत्र में संभावनाएँ बहुत हैं; कोशिशें कम हुई हैं। हुई हैं तो आमतौर पर कमतर साबित हुई हैं। हमारी प्रतिबद्धता वैज्ञानिक दृष्टिकोण से लैस समग्र एवं विशद विवेचन तथा वस्तुनिष्ठ 'एप्रोच' के साथ है। इन मानकों पर खरे उतरते शोधात्मक आलेख ही हम प्रस्तुत करें, इसका ध्यान हम विशेष रूप से रखेंगे। ज्ञान निरंतर समृद्ध होता जा रहा है, और प्रविधि निरंतर सूक्ष्म। दिग्गज विद्वानों, शोधार्थियों, छात्रों के लिए तो उन सब चीजों के साथ 'अपडेट' होते रहना जरूरी है ही, आम आदमी जो अपने समय–समाज की गतिविधियों में रूचि ले रहा हो, उनके लिए भी ये पत्रिका उपयोगी बनें–हम इसका भी ख़्याल रखेंगे। पढ़ने–पढ़ाने का माहौल और रूचि का विकास कर सकें; वैज्ञानिक चेतना और प्रगतिशील सोच का प्रसार कर सकें; स्तरीय अनुसंधान को प्रोत्साहित और प्रकाशित कर सकें तो यह हमारे प्रयासों की सफलता होगी और इस सफलता को ही हम जारी रखना चाहेंगे। यदि इसमें असफल रहे तो अपनी असफलताओं को हम जारी नहीं रखेंगे। हम लगातार बेहतर नहीं हुए तो उसी जगह पर हम अपने पाठकों को भी नहीं रखेंगे। हम पत्रिका बंद कर देंगे। उम्मीद है कि इस पत्रिका के पाठकों को इसमें कुछ न कुछ उपयोगी मिलेगा। प्रवेशांक आपके हाथों में आप सबकी हार्दिकता की अपेक्षा लिए।

डा. व्रज कुमार पाण्डेय
डा. दीपक कुमार राय

इस अंक में

इतिहास
ब्राह्मणवादी प्रतिक्रिया एवं प्रतिगामिता के विरूद्ध बौद्ध धर्म का प्रगतिशील स्वर
(ई. पूर्व 600 से 200 ई. पूर्व) के विशेष संदर्भ में : *डॉ. दीपक कुमार राय* 6-13

इतिहास
सविनय अवज्ञा आन्दोलन के दौर में किसान आन्दोलन : *डॉ॰ प्रेम सिंह* 14-22

हिन्दी साहित्य
साहित्य के सामाजिक प्रयोजन का प्रश्न और लघुपत्रिका आंदोलन : *डॉ॰ कुमारी आशा* 23-27

हिन्दी साहित्य
त्रिलोचन शास्त्री की कविताएँ- एक विहंगम दृष्टि : *डा. महेश प्रसाद सिंह* 28-31

संस्कृत साहित्य
चतुर्वर्गसंग्रह में धर्म एवं मोक्ष-चिन्तन : *डॉ. मधु बाला सिन्हा* 32-33

राजनीति विज्ञान
गांधी दर्शन में अहिंसा की अवधारणा : *सरोज राम* 34-35

राजनीति विज्ञान
नारी सशक्तिकरण में महात्मा गाँधी का योगदान : *डॉ. अशोक कुमार* 36-38

राजनीति विज्ञान
नयी पंचायती व्यवस्था में महिलाएं : *मोनालिसा* 39-41

इतिहास
बाल गंगाधर तिलक के राजनीतिक एवं सामाजिक सुधार संबंधी विचार:
एक समीक्षात्मक अध्ययन : *मो. इरशाद खान* 42-44

राजनीति विज्ञान
वर्तमान शासन व्यवस्था और राजनीतिक दल : *अखलाख अहमद* 45-47

राजनीति विज्ञान
भारत में मुस्लिम समुदाय की समस्याऐं एवं निदान:
एक समीक्षात्मक अध्ययन : *गजनफर आलम एवं मो॰ इरशाद अली* 48-50

राजनीति विज्ञान
''शीतयुद्ध'' स्वरूप, समकालीन, प्रासंगिकता एवं शीतयुद्धोत्तर काल में
विश्व व्यवस्था का स्वरूप : *मनोज कुमार* 51-53

राजनीति विज्ञान
मार्गेन्थाउ का यथार्थवादी सिद्धान्त: एक आलोचनात्मक अध्ययन : *शाहजाद अहमद अंसारी* 54-56

राजनीति विज्ञान
वर्त्तमान संदर्भ में प्लेटो के शिक्षा सिद्धान्त की सार्थकता : *हरिनारायण प्रसाद चौरसिया* 57-59

संस्कृत साहित्य
गीता एक अनुशीलन : *डॉ॰ ममता पाण्डेय* 60-62

राजनीति विज्ञान
सर्व धर्म समभाव : *डॉ॰ नागेन्द्र कुमार शर्मा* 63-66

राजनीति विज्ञान
भारत के संदर्भ में मानवाधिकार और मौलिक अधिकार का तुलनात्मक अध्ययन: *कल्पना* 67–68

राजनीति विज्ञान
भारतीय लोकतंत्र: एक ऐतिहासिक अवलोकन: *सुशील कुमार मंडल* 69–70

राजनीति विज्ञान
न्यायिक व्यवस्था में सुधार हेतु सकारात्मक प्रयास : *डॉ॰ प्रमोद कुमार* 71–72

राजनीति विज्ञान
भारत में चुनाव सुधार: एक समीक्षात्मक अध्ययन : *डॉ॰ विद्यावति सिंह* 73–74

उर्दू साहित्य
फैज अहमद फैज की शायरी का एक रंग यह भी : *मो॰ कसीम अख्तर* 75–76

राजनीति विज्ञान
नक्सलवादी आन्दोलन और हिंसा : *रमेश कुमार चौधरी* 77–80

राजनीति विज्ञान
भारतीय संविधान में समानता का अधिकार : *डा. कुमार बिनोद प्रभात एवं डा. राम संजीवन सिंह* 81–82

Sociology
Self Concept and Educational Aspiration of Scheduled Caste Students
Dr. Paresh Kumar, Dr. Dhananjay Kumar Singh, Dr. Vijay Pratap Kumar 83-86

Political Science
Transition from Socialism to Bhudan : *Dr. Vidya Bhushan Srivastawa* 87-89

Indian Economy
Industrial Development and Growth of Small Sector in Bihar
during the Period 1951 & 1990: *Dr. Antara Kumari* 90-92

Commerce
Concept : "The Management of Manpower Planning" : *Dr. Dilip Kumar Sahu* 93-102

Indian History
"The Confluence of Indian Culture and Islam" : *Dr. Moon Arif Rahman* 103-106

Current Affairs
Amarnath Land Allotment Controversy : *Dr. Raghwendra Kishore* 107-109

Labour and Social Law
Corporate Social Responsibility in Modern India : *Dr. Pushpa Raj Gautam* 110-116

Labour and Social Law
Child Labour in India: Causes, Governmental Policies and the Role of Education
Dr. Vidya Pati Gautam 117-123

Sociology
Islam, Modernity and Justice for Women : *Dr. Ashok Kumar* 124-128

Political Science
A Model of Contests for Power: *Dr. Anand Bhushan* 129-130

Political Science
Vote Buying or Turnout Buying? Machine Politics and the Secret Ballot with
Special Reference to Argentina: *Dr. Usha Vidyarthi* 131-133

Political Science
Plato's Critique of Hedonism in the Philebus: *Dr. Asha Kumari* 134-136

Philosophy
Gandhian Ideas in Philosophy—Arati Modak 137-140

English
Comedy of Humours—Sumit Kumar Dey 141-144

इतिहास

ब्राह्मणवादी प्रतिक्रिया एवं प्रतिगामिता के विरुद्ध बौद्ध धर्म का प्रगतिशील स्वर (ई. पूर्व 600 से 200 ई. पूर्व) के विशेष संदर्भ में

डॉ. दीपक कुमार राय

मौर्य साम्राज्य के पतन और ब्राह्मणों के राज्यारोहण को ब्राह्मण प्रतिक्रिया स्वरूप देखा जाता है। यह सामाजिक और धार्मिक प्रतिक्रिया की राज-नैतिक अभिव्यक्ति थी।

वस्तुतः बौद्ध धर्म तथा ब्राह्मणवाद के मध्य संघर्ष भारतीय इतिहास की एक सच्चाई है।[1] मौर्य साम्राज्य के पतन और ब्राह्मणों के राज्यारोहण को ब्राह्मण प्रतिक्रिया स्वरूप देखा जाता है।[2] यह सामाजिक और धार्मिक प्रतिक्रिया की राजनैतिक अभिव्यक्ति थी। यह सही है कि वर्णभेद और जातिभेद की व्यवस्था पर निर्णायक चोट तो बौद्ध और जैन आन्दोलन भी नहीं कर पाए परन्तु जन्म आधारित श्रेष्ठता पर सतत् सवाल खड़े करते रहे।[3] जाहिर है कि इससे सर्वाधिक असुविधा ब्राह्मणों को ही हुई। मनुस्मृति को इस युग की रचना माना जा सकता है।[4] इस ग्रन्थ में ब्राह्मणों की उत्कृष्टता का उत्कट् निदर्शन है।[5] बौद्धों के द्वारा की गई क्षति की पूर्ति के निमित्त ब्राह्मणों को अपनी विशिष्टताओं को बनाए रखने हेतु कुछ अतिरिक्त प्रयास भी करने पड़े जिसके तहत् काफी कठोर आचार संहिता का प्रतिपादन हुआ।[6] यह कुपित नियमन था एवं स्वाभाविक रूप से इसकी गाज शूद्रों एवं वैश्यों पर ही गिरनी थी। अपने विशिष्ट ज्ञान के आधार पर इन्हीं का सर्वाधिक शोषण करते थे, तो अब और अधिक विशिष्टता के तर्क पर और अधिक शोषण होने लगा। बुद्ध के विचार-प्रचार और अशोक के सदाशयी क्रियान्वयन से निम्नवर्णों की बेहतरी की जो कुछ भी थोड़ी आस बंधी थी, उसे सिरे से खारिज कर दिया गया।

अशोक की धारणा थी कि धर्म के प्रचार से मानव देवताओं से मिलेंगे।[7] इसी धारण के तहत धर्म महामात्रों ने जनजातीय लोगों के बीच धर्म का प्रचार भी किया। जो धर्म प्रचारित हुआ रहा होगा, शरीर उसका जो भी रहा हो, उसकी आत्मा में बौद्ध धर्म ही बसता रहा होगा, जिससे प्रभावित होकर विशाल जनजातीय समुदाय सभ्य समाज की ओर प्रस्थान करता है। खाद्य संग्राहक न रह कर करद कृषक बनता है। यह उत्संस्करण की सुविचारित नीति थी।[8] यानी धन और जन पर सुनियोजित कब्जा। इस तरह अशोक के राजनैतिक प्रभामण्डल के तले यह बौद्धों की सुविचारित नीति का सूत्रपात था कि अधिकाधिक लोग भेदभाव रहित धर्म भी स्वीकार करें और राजस्व भी दें ताकि राजनैतिक शक्ति भी बढ़े।

परन्तु इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप ही ब्राह्मण समाज शकों एवं यवनों को अपने में समाहित करता है। वे उत्कृष्ट योद्धा थे। और विजेता थे। इस आधार पर उनकी सामाजिक और राजनैतिक हैसियत थी। वैसे इस म्लेच्छ वर्ग का स्वाभाविक सम्मिलन तो बौद्धों के साथ होना चाहिए था क्योंकि वहां तो जाति-वर्ण, ऊँच-नीच, जन्म कर्म का कोई विचार ही नहीं था। परन्तु ब्राह्मण धर्म झटपट इन्हें क्षत्रिय वर्ण में शामिल कर लेता है। यहाँ उनके जन्म-कर्म का कोई विचार नहीं किया जाता। तर्क यह है कि विदेशी जातियां मूलतः क्षत्रिय हैं। मनु महाराज की व्यवस्था है द्रविण, कम्बोज, यवन, शक, पहलव और खस जातियां क्षत्रिय ही थी जो क्रियालोप से एवं ब्राह्मणों के सम्पर्क में न रहने के कारण शूद्रत्व को प्राप्त हुई।[9] परन्तु पुनश्च सम्पर्क में आने के कारण उनका क्षत्रियत्व वापस लौटा हुआ माना गया एवं उन्हें क्षत्रिय वर्ण में स्थान दिया गया। पतंजलि ने भी शकों को विदेशी होने के बाद भी अस्पृश्य नहीं माना है।[10] महाभारत के अनुशासन पर्व में वर्णित है कि युद्ध कर्म करना विदेशी जातियों का मूल कर्म था। अतः उन्हें क्षत्रिय वर्ण में स्थान दिया गया।[11] यहां एक स्वाभाविक जिज्ञासा सप्रश्न होती है कि यदि युद्ध कर्म ही क्षत्रित्व का आधार था तो महान् धनुर्धारी कर्ण जीवन पर्यन्त सूत-पूत्र क्यों और किस आधार पर बना रहा?

विदेशी जातियों के प्रति यह सदाशयी लचीलापन कहीं आन्तरिक चुनौतियों एवं प्रतिरोधों के परिशमन हेतु बाहरी समर्थन की आवश्यकता के तहत तो नहीं था?

जीवन की व्यवस्था के संदर्भ में भी हल्की सी प्रतिक्रिया के दर्शन होते हैं। बौद्धों द्वारा श्रमण विचार धारा को पुष्ट किया गया। जैन मत भी इसी विचार धारा का पोषक था। तत्कालीन समाज में इसका बड़ा असर देखा गया क्योंकि काफी बड़ी आबादी स्त्री-पुरुष श्रमण जीवन की ओर आकर्षित हुई। यह पहले से चले आ रहे ब्राह्मण धर्म की आश्रम व्यवस्था के सिद्धान्तों के प्रतिकूल बैठता था।

बहुत संभव है कि उसी की प्रतिक्रिया स्वरूप मनु ने सुव्यवस्थित गृहस्थ जीवन पर बल दिया हो। उन्होंने प्रतिपादित किया कि गृहस्थ रहते हुए ही मनुष्य धर्म और समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्वों का सम्यक् निर्वहन कर सकता है। अतः गृहस्थ आश्रम ही सर्वश्रेष्ठ है।[12] अन्यत्र भी गृहस्थाश्रम की महत्ता के प्रतिपादक साक्ष्य पाये जाते हैं।[13] संन्यास को पापिष्ठा कहा गया है।[14]

ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्धों के भिक्षु जीवन के प्रति इस युग में एक नकार का भाव स्वतः ही प्रतिक्रिया का रूप लेकर उभरता है। एक तो पहले से ही ब्राह्मण संन्यासियों की अच्छी-खासी जमात थी। उस पर जैन एवं बौद्ध भिक्षुओं की बाढ़ तो वास्तव में एक बोझ थी। इसी से संदर्भित एक अन्य रोचक तथ्य विमर्श्य हो जाता है कि क्यों तत्कालीन सभी ग्रंथ चाहे बौद्ध चाहे जैन चाहे ब्राह्मण निरपवाद रूप से दान के सद्गुणों का बखान करते नहीं अघाते।[15] यह परजीवी जमात के पालन पोषण का सुनियोजित अभियान था, जिसमें आश्चर्य जनक रूप से सभी धर्म सम्प्रदायों में आपसी एका के दर्शन होते हैं।

इस शोध आलेख में चयनित काल विशेष के दौरान प्राचीन भारतीय इतिहास एवं समाज की आधारशिला वर्ण व्यवस्था के विकास एवं स्वरूप को लेकर भी कुछ प्रश्न उठाए गए हैं।

प्रो. राम शरण शर्मा ने अपने वैदुष्य विवेचन में इस व्यवस्था के बारे में जो अभिमत दिया है वह ज्यादा सुसंगत प्रतीत होता है। वे किसानों, कारीगरों, भाड़े के मजदूरों और खेतिहर गुलामों के द्वारा उत्पन्न सामाजिक अधिशेष के उपभोग के निमित्त वर्णव्यवस्था को आविष्कृत पाते हैं।[16]

ऋग्वैदिक, उत्तर वैदिक और वैदिकोत्तर यानी आलोच्य कालावधि की और क्रमिक विकास के क्रम में अर्थव्यवस्था विकसित होती है। निर्वाह की अर्थव्यवस्था जैसे-जैसे अधिशेष और उपभोग की अर्थव्यवस्था की ओर प्रयाण करती है, वर्ण व्यवस्था उतनी ही अनुदार, संकीर्ण और जटिल होती गई है। दस्तकारी और कृषि में लौह तकनीक के प्रयोग से किसान भरण-पोषण से अतिरिक्त भी पैदा करने लगा। दस्तकारी में विकास ने किसानों को बेहतर औजार तो उपलब्ध कराए ही, उच्च सामाजिक तबके के लिए भोग-विलास के अवयव भी उपलब्ध कराए। यहीं पर ब्राह्मण विचारकों ने एक सर्वथा नवीन सामाजिक तंत्र की नींव डाली, ताकि आलोच्य कालावधि में आर्थिक प्रगति, विकास एवं विस्तार का फल मजदूरों एवं कृषकों को न मिलकर राजाओं और पुरोहितों को मिले।[17] इस अद्भुत सामाजिक तंत्र, व्यवस्था और संगठन को वर्णव्यवस्था कहा गया। यह जन्मगत आधारों पर लोगों को स्तरीकृत करने की मानवगत कोशिश थी,[18] न कि दैवी विधान। यह ऐसी व्यवस्था थी जिसमें मूल उत्पादनकर्त्ता निम्नतम पायदान पर रहे और अधिशेष के व्यवस्थापक, वितरक एवं उपभोक्ता सामाजिक संगठन के शीर्ष पर विराजमान हुए। वैश्य-शूद्र श्रम पर आधारित इस सामाजिक संरचना में ब्राह्मण और क्षत्रिय, किसानों और कारीगरों द्वारा किए गए श्रम एवं तद्जन्य धन पर आराम की जिन्दगी जीते थे। चूंकि बौद्ध एवं जैन विचारधाराओं के 'प्रचार-प्रसार' या उस व्यवस्था के पोषकों की भाषा में कहें तो 'उकसावे' के कारण कभी-कभी इस व्यवस्था के गहरे संकट में पड़ जाने की संभावना भी सताती रही होगी।

गौतम धर्म सूत्र में गौतम ने यह प्रतिपादन किया है कि 'अनेक जातियों तथा श्रेणियों के लोग, जो सदा अपना कर्तव्य पालन करते हुए जीवनयापन करते हैं, वे मृत्यु के उपरान्त अपने सत्कर्मों का फल भोगते हैं।

अतः यह व्यवस्था निर्बाध चलती रहे, इसके लिए पुनर्जन्म सिद्धान्त की व्यूह रचना की गई। गौतम धर्म सूत्र में गौतम ने यह प्रतिपादन किया है कि 'अनेक जातियों तथा श्रेणियों के लोग, जो सदा अपना कर्तव्य पालन करते हुए जीवनयापन करते हैं, वे मृत्यु के उपरान्त अपने सत्कर्मों का फल भोगते हैं और अपने पुण्य के अवशिष्ट भाग के प्रताप से ऐसे श्रेष्ठ देशों, जातियों तथा परिवारों में जन्म लेते हैं, जो सुन्दरता, दीर्घ जीवन, वेदज्ञान, सदाचरण, धन, सुख तथा बुद्धिमत्ता से युक्त होते हैं। जो इसके विपरीत कार्य करते हैं, वे नष्ट हो जाते हैं और पुनः विभिन्न निम्न स्थितियों में जन्म लेते हैं।[19] आपस्तम्ब की व्यवस्था कुछ और आगे की है कि नीची जातियों के लोग यदि अपने विहित कर्तव्यों का निष्ठपूर्वक पालन करते हैं तो अगले जन्मों में उच्च जातियों में जन्म लेते हैं।[20] मनु ने व्यवस्था दी है कि वैश्य और शूद्र अपने निर्धारित कर्मों से विच्युत न हो, नहीं तो भारी दुर्व्यवस्था फैल जाएगी।[21] लगे हाथ इन दोनों वर्णों के विहित कर्मों का भी जायजा लेते चलें, जिनमें इनका प्रधान कर्तव्य कृषि, पशुपालन, व्यापार-वाणिज्य एवं

सुश्रुषावार्ता इत्यादि बताया गया है। वैश्य उत्पादन एवं समृद्धि के आधार थे परन्तु सत्ता के शीर्ष पर इनकी कोई भूमिका नहीं थी। शूद्रों की स्थिति तो अत्यन्त शोचनीय थी क्योंकि उनकी उत्पत्ति ब्रह्मा के पैरों से मानी गयी है। वह सेवक वर्ग था। उच्चवर्णों की परिचर्या ही उसका प्रधान कर्तव्य था। वह इनके जूठन और छाड़न पर ही पल सकता था।[22] और चूंकि यह उसके पिछले जन्मों का कर्मफल है इसलिए कुड़बुड़ाने का कोई कारण नहीं यदि कारण हो भी तो कोई औचित्य नहीं क्योंकि इस जन्म में अपने-अपने विहित वर्ण कर्मों को निर्लिप्त भाव से करते जाने पर ही अगले जन्मों में उच्चतर वर्णों में जन्म संभव था।

इस प्रकार एक ऐसी व्यवस्था को जन्म दिया गया जो जगत् और जीवन में प्रतिवाद की सीमा निर्धारित करती है[23] या यूं कहें कि विरोधों की धार को भोथरा बनाती है। यह चालाक दिमाग द्वारा उसर भूमि में रूग्ण बीजों की अच्छे उर्वरकों के साथ खेती है। भावी जीवन में दण्ड और पुरस्कार की व्यवस्था ब्राह्मणवाद की आधारशिला है।[24] एक तो यह मलाई मार लेने की चालाकी थी और दूसरे, जन्म-जन्मांतरों तक उसे सुरक्षित रखने की साजिश भी थी। इसलिए जैसे-जैसे प्राविधिक शक्तियों के विकास के चलते अर्थव्यवस्था समृद्ध होती गई उसके अधिकाधिक लाभ हड़पने के लिए सामाजिक जकड़बन्दी बढ़ती गई। अधिग्रहण के मामले को लेकर पुरोहितों और राजाओं के मध्य भी वैमनस्य एवं कटुता के दर्शन होते हैं। परन्तु क्योंकि दोनों के हित एक ही थे अत: वैश्यों-शूद्रों के विरुद्ध एक जुट हो जाने की आपसी समझदारी उनमें विकसित हो गई थी।

कुछ विचार 'विवाह' नामक संगठन के स्वरूप और उसके निहितार्थों को लेकर भी मेरे मन-मस्तिष्क में उमड़ रहे हैं। विवाह चूंकि परिवार एवं समाज के लिए एक अत्यावश्यक संस्था थी; चार पुरुषार्थों में से एक 'काम' की वैध एवं मर्यादित अभिव्यक्ति थी, परंतु फिर भी इसे प्राचीन व्यवस्थाकारों ने, मुझे ऐसा लगता है कि, उच्चवर्णों की हित साधाना के लिए हथियार के रूप में व्यवहृत कर लिया लेकिन इस हित साधाना में उच्च वर्णों की स्त्रियों को कुछ ज्यादा ही कीमत चुकानी पड़ी।

पहले, मातृ सत्ता और स्त्रियों की अर्थिक स्वतंत्रता का विवाह के प्रकारों पर पड़ने वाला प्रभाव विश्लेष्य हो उठा है। विवाह के आठ प्रकारों में पहले चार जो धर्म्य एवं स्वीकृत प्रकार के हैं, उनमें केवल पिता की सहमति आवश्यक है और वे पहले दोनों वर्णों विशेषकर ब्राह्मणों के लिए विहित है।[25] कौटिल्य इनके धर्म्य एवं स्वीकृत होने के कारणों के पीछे पितृसत्तात्मक तत्वों की प्रमुखता बताते हैं[26] जो उचित ही प्रतीत होती है क्योंकि अधर्म्य या अस्वीकृत प्रकार जो निम्न वर्णों के लिए विहित थे, उनमें माता एवं पिता दोनों की सहमति आवश्यक थी।[27] यह विमर्श का विषय है कि माता की सहमति आवश्यक होते ही अंतिम चार प्रकार अधर्म्य क्यों हो गए?

क्या इसलिए कि उच्चवर्णों की स्त्रियों को, चूंकि कोई आर्थिक स्वायत्तता नहीं हासिल थी, क्योंकि वे उत्पादन कार्यों से विलग ही रहती थी, पुरुष या पति अपने हाथों की कठपुतली आसानी से बनाए रख सकता था। अपनी जीविका एवं भरण-पोषण के लिए उच्चवर्णी स्त्रिया अपने पतियों या पुरुषों पर ज्यादा आश्रित रहती थी, भले ही ऐश्वर्य पूर्ण जिन्दगी बिताती थी, परन्तु स्वतंत्रता का उपभोग कम ही कर पाती थी। सामाजिक मामले में उनकी राय अनाधिकार चेष्टा मानी जाती थी। एक अश्लील कोशिश जो आर्यों की महान् परम्परा में अपमानजनक प्रतीत होती थी कि कोई स्त्री समाज की विधायी शक्तियों में कैसे शामिल हो सकती है। इसके विपरीत निम्नवर्णी स्त्रियां अपने पतियों के साथ-साथ उत्पादन कार्यों में लगी हुई थी। इसलिए वे रंचमात्र ही सही आर्थिक स्वायत्तता का उपभोग करती थी और अपने परिवार, अपनी जाति में, कुछ हैसियत, अपने पति से इतर भी रखती थी। उसकी भी कुछ राय होती थी जिन्हें वह कम से कम वैवाहिक मामलों में तो व्यक्त कर ही सकती थी। बौधायन का यह मत समीचीन जान पड़ता है कि वैश्यों एवं शूद्रों की पत्नियां कृषि और सेवा कार्य में लगी रहने के कारण नियंत्रण में नही रखी जा सकती[28]। आर्यों के पुरुष वर्चस्व वाले समाज में सम्भवत: इस तत्व को आर्येत्तर मान कर अनादृत किया गया रहा होगा। तो प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृत साहित्य में स्त्री समानता, 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते' और प्रेम विवाह के अनेक उद्धरण एवं दावे क्या सिरे से ही खोखले थे? तब तो यह निष्कर्षण भी स्वाभाविक प्रतीत होता है कि धर्मोचित सामाजिक व्यवस्था कायम रखने के नाम पर उच्चवर्णों की स्त्रियों को गुलामी की स्थितियों तक धकेल दिया गया। किसी की राय का कोई महत्व न हो, ठीक है, परन्तु उसकी राय किसी चीज को अनैतिक बना जाय यह तो अपमान की पराकाष्ठा है।

विवाह के कुछ और पहलुओं पर भी गौर किया जाना चाहिए, मसलन 'तलाक' जिसकी सिर्फ अधर्म्य विवाह प्रकारों में अनुमति है। क्योंकि कौटिल्य प्रथम चार स्वीकृत विवाह प्रकारों में तलाक की अनुमति नहीं देते[29] यानी निजात की सूरत भी नहीं छोड़ते। पुनर्विवाह, नियोग एवं स्त्रियों के लिए पति प्रतीक्षावधि का निर्धारण बड़ा रोचक है एवं इतिहास के कुछ प्रच्छन्न पहलुओं को अनावृत्त भी करता है। विदेश गमन, व्यापारिक यात्राओं के चलते या किन्हीं कारणों से पति की प्रतिज्ञानुसार तय अवधि में नहीं लौट पाने की स्थिति यानी लम्बी अनुपस्थिति में कौटिल्य ने ब्राह्मण की पत्नी को चार वर्षों तक की प्रतिक्षावधि निर्धारित की है। पत्नी के बच्चे हों तो समय का अन्तर बनाए रखते हुए प्रतीक्षावधि बढ़ जाती है[30]। धर्मशास्त्रों में भी कमोबेश प्रतीक्षावधि को लेकर यही व्यवस्था विहित है। परवर्त्ती स्मृतिकारों ने सभी वर्णों के लिए प्रतीक्षा की अवधि को और बढ़ा दिया है। नारद ने शूद्र स्त्री के लिए तो प्रतीक्षा की कोई अवधि ही नही रखी है।[31]

वैदिक अध्ययन के निमित्त लम्बी यात्रा पर गये ब्राह्मण की पत्नी के लिए गौतम ने बारह वर्षों तक सहवास वर्जित

बताया है[32]। ऐसी स्थिति में कौटिल्य ने बच्चे वाली ब्राह्मणी के लिए बारह वर्षों का समय तो नि:संतान ब्राह्मणी के लिए दस वर्षों का समय अभिहित किया है[33]।

उपरोक्त स्थितियों के मद्देनजर प्रो. शर्मा ने दो विशिष्टताओं की ओर ध्यान आकर्षित किया है[34]। पहली यह कि प्रारंभिक धर्म शास्त्रों में विभिन्न वर्णों के लिए प्रतीक्षावधि परवर्ती स्मृतिकारों की अपेक्षा कम है और दूसरी निम्न वर्णों की स्त्रियों/पत्नियों के लिए प्रतीक्षा की समयावधि उच्च वर्णों की अपेक्षाकृत हर काल में कम है तथा विवाह विच्छेद भी इनमें अपेक्षाकृत आसान था।

उनके पहले निष्कर्षण की तर्कसंगत व्याख्या समाज में जनजातीय अवशेषों के प्रतीकों के रूप में की जा सकती है क्योंकि जनजातीय विशिष्टताओं के बचे रहने के कारण ही समाज में परिजनों की वृद्धि काम्य प्रतीत होती है। इसलिए पति की प्रतीक्षावधि कम रखी गई ताकि किसी भी तरह समागम से जन शक्ति बढ़े।

परंतु कालांतर में वर्ण आधारित समाज जब विकसित होता है और विविध बौद्धिक व्यायामों से वैश्य-शूद्रावलम्बी व्यवस्था में धन और श्रम का उपभोग सुविधाभोगी वर्गो द्वारा यानी प्रथम दो वर्णों के सदस्यों द्वारा होने लगता है तो ऐसी व्यवस्था की जाती है कि सुविधाभोगी वर्ग कम बढ़े और सुविधाएं, प्रकारान्तर से सुविधाएं मुहैया कराने वाले, अधिक बढ़ें।

इसलिए निचले वर्णों के लिए प्रतीक्षा की अवधि कम रखी गई ताकि उनके बीच स्वतंत्र समागम के अवसर ज्यादा बढ़ें और सुविधाएं मुहैया कराने वाले लोग ज्यादा बढ़ें। शूद्रों की पत्नियों को अगर बारह वर्ष प्रतीक्षा करवाई जाए तो फिर काम करने वाले हाथ कम पड़ जाएगें। अत: उच्च वर्णों में नियोग एवं पुनर्विवाह की व्यवस्था को भी हतोत्साहित किया गया[35]। परंतु शूद्रों के लिए इसकी अनुमति दी गई[36]। उच्च वर्णों में विधवा विवाह को या नियोग प्रथा को मान्यता देने का मतलब था सुविधा भोगी वर्ग की संख्या में वृद्धि और शूद्रों के लिए इसे अभिहित करने का तात्पर्य था सुविधाओं में वृद्धि के अवसरों का खुलना। समान वर्ण में विवाह[37] पर इसीलिए बल दिया गया कि ऊपरी वर्णों का निम्न वर्णों से सम्पर्क न बनने पाए[38]। एक सुविधाजनक दूरी बनी रहे और अगर अन्तर्वर्णी विवाह हो तो प्रथम दो वर्णों का आपस में ही हो[39]।

यह बड़ा रोचक प्रतीत होता है कि विवाह नामक संस्था का भी सुविधाभोगी उच्च वर्णों या कहें ब्राह्मण धर्म के व्यवस्थाकरों ने अपने हित-पोषण में किस चालाकी से इस्तेमाल किया। वस्तुत: यह मानसिकता भारतीय रेल यात्रियों की मानसिकता है कि हम तो घुस ही गए अब और कोई-न घुसने पाए। हर नया यात्री पहले से जमें लोगों की जगह तंग करता हुए प्रतीत होता है। वह यह भूल जाता है कि अभी पिछले स्टेशन पर वह स्वयं कितनी मुश्किलों से चढ़ा था। इसी तरह इस ब्राह्मणवादी व्यवस्था में सुविधाभोगी वर्ग सीमित संख्या चाहता है, क्योंकि हर नया व्यक्ति उसे अपनी सुविधाओं में सेंध लगाता और हिस्सा हड़पता नजर आता है। इसलिए ब्राह्मणों क्षत्रियों की पत्नियों के लिए पति की प्रतीक्षा की अवधि अधिक रखी गई, वैश्यों और शूद्रों की अत्यल्प। शूद्रों की तो कभी-कभी नहीं ही, ताकि कम से कम सुविधा भोगी अधिक से अधिक सुविधााओं को भोग सकें।

कोई भी शूद्र न तो वैदिक मंत्रों का श्रवण कर सकता था और न ही उनका उच्चारण क्योंकि गौतम ने ऐसी व्यवस्था दी है कि वैदिक मंत्रों को सुनने वाले शूद्र के कान में टीन या लाख का गला हुआ गरम पदार्थ डाल देना चाहिए।

यह शोध आलेख तत्कालीन शिक्षा की दशा और दिशा, उसके स्वरूप एवं क्रियान्वयन तथा उसके नियामकों की मंशा की पड़ताल की उत्प्रेरणा स्वरूप भी लिखा गया है। हिन्दू समाज के व्यवस्थाकारों ने प्राय: एकजुट होकर संस्कारों की संख्या सोलह बताई है।[40] इनमें से एक प्रमुख संस्कार 'उपनयन' भी था, जिसका सीधा सम्बंध व्यक्ति के बौद्धिक उत्कर्ष से है[41]। परंतु यह 'शूद्र' को छोड़ कर तीनों वर्णों के लिए था जिन्हें 'द्विज' भी कहा जाता था। वस्तुत: यह संस्कार सिर्फ द्विजों के लिए था शूद्रों के लिए नहीं[42]। अर्थात् जिस संस्कार का सीधा संबंध व्यक्ति के 'बौद्धिक उत्कर्ष' से था, उससे शूद्रों को वंचित रखा गया, क्यों? आपस्तम्ब धर्मसूत्र में शूद्र को उपनयन और वेदाध्ययन से वंचित रखा गया है[43]।

वैसे तो किसी भी शूद्र परंतु विशेषत: चाण्डाल की उपस्थिति मात्र से वैदिक पाठ बंद कर दिए जाते थे[44]। कोई भी शूद्र न तो वैदिक मंत्रों का श्रवण कर सकता था और न ही उनका उच्चारण क्योंकि गौतम ने ऐसी व्यवस्था दी है कि वैदिक मंत्रों को सुनने वाले शूद्र के कान में टीन या लाख का गला हुआ गरम पदार्थ डाल देना चाहिए, वैदिक ऋचाओं का पाठ करने पर शूद्र की जिह्वा काट ली जानी चाहिए परंतु यदि उसे वे मंत्र याद रह गए हों तो उसके शरीर के टुकड़े कर दिए जायं[45]। वशिष्ठ ने भी शूद्रों को धर्म संबंधी कोई भी ज्ञान रखने के सर्वथा अयोग्य घोषित किया है[46]। मनुस्मृति में भी शूद्र के आस-पास वेद पाठ निषिद्ध बताया गया है। आज की भाषा में कहें तो यह सारी की सारी कवायद सिर्फ इसलिए थी कि उस विशिष्ट ज्ञान से शूद्रों को वंचित रखा जाए जिसके आधार पर यह शोषण तंत्र चल रहा है। उन्हें इस खेल के नियम ही न पता चले, क्या पता, कभी वे भी खेलने लगे। आधुनिक संदर्भों

से जोड़कर इसे देखें तो यह 'ज्ञान का पेटेन्टीकरण' था जिसके आधार पर ब्राह्मण अपनी विशिष्टता बनाए रखना चाहते थे।

खैर ये तो वे लोग थे जिन्हें शिक्षा दी ही नहीं जाती थी परंतु जिन्हें दी जाती थी उनके चयन का आधार ऋग्वैदिक युग में भले ही उनकी ज्ञान पिपासा, जिज्ञासा एवं उनकी वृत्ति रही हो[48] परंतु आलोच्य कालावधि के समाप्त होते-होते शिष्य की आर्थिक स्थिति उसके चयन के लिए आवश्यक योग्यताओं में परिगणित हो गई।[49] तुलसीदास की पंक्तियां उतनी पहले भी कितनी समीचीन जान पड़ती है 'हरई शिष्य धन शोक न हरई' यानि शिष्य की चिन्ता, उसका शोक, उसकी ज्ञान पिपासा शान्त करना गुरू उद्देश्य नहीं रहा अपितु येन केन प्रकारेण धन हरण प्रधान लक्ष्य बन गया।

शारीरिक श्रम के प्रति घृणा का भाव अधीत काल की एक और विशेषता है जो कुछ अतिरिक्त विश्लेषण की मांग करती है। गौतम की व्यवस्था है कि यदि कोई आर्य किसी आर्येत्तर (यानि शूद्र) व्यवसाय के आधार पर जीवनयापन करता है तो वह भी उसी स्थिति को प्राप्त होता है।[50] बौधायन का मत है कि जो ब्राह्मण शिल्पी, अभिनेता या सूदखोर हो, व्यापार और पशुपालन से जीविका चलाए उसके साथ शूद्र जैसा बर्ताव हो[51]। तात्पर्य यह कि शारीरिक श्रम से जीविकोपार्जन ब्राह्मण से उसका ब्राह्मणत्व छीन लेता है और वह शूद्रवत समझा जाता है। प्रो. शर्मा की स्थापना उचित ही प्रतीत होती है कि धीरे-धीरे शारीरिक श्रम के प्रति उच्चवर्णी लोगों की घृणा इतनी बढ़ गई कि वे दस्तकारी से घृणा करने लगे और कुछ दस्तकारों को तो अछूत ही समझा जाने लगा[52] जैसे रथकार, जिसकी चर्चा अस्पृश्यता के संदर्भ में बहुश्रुत है। अस्पृश्यता की भावना शारीरिक श्रम के प्रति घृणा का विस्फोट है।

महात्मा बुद्ध का अविर्भाव, उनके विचार, उनका प्रचार-प्रसार, जहां तक मेरी समझ है, बहुत निर्णायक सिद्ध हुआ। उन्होंने समाज को अर्थव्यवस्था की मांग के अनुरूप ढाला तो अर्थव्यवस्था को भी समाज को गतिशील एवं प्रगतिशील चरित्र देने में मौलिक उपकरण के तौर पर इस्तेमाल किया। प्रो. शर्मा के कथन से एक बार फिर मेरी सहमति बनती प्रतीत होती है कि 'बौद्धधर्म को लौहकाल के द्वितीय चरण द्वारा निर्मित भौतिक वातावरण के उत्पाद के रूप में देखा जा सकता है[53]।

बौद्ध धर्म की कुछ मान्यताएं ऐसी थीं जो बदलती परिस्थितियों के सर्वथा अनुकूल थीं या कहें कि स्थितियों को बदलाव के लिए उत्प्रेरित कर रही थी। अब जैसे व्यापार वाणिज्य से संबंधित गतिविधियों को ही लें जो ब्राह्मण दृष्टिकोण बहुत प्रदर्शित नहीं करता। ऋग्वेद में ही हम 'पणि' लोगों का उल्लेख पाते हैं[54]। जिन्हें तमाम मत मतान्तरों के बावजूद व्यापारी ही मानना युक्तियुक्त प्रतीत होता है[55] और कई जगह इनकी निकृष्टतम निन्दा करते हुए इन्हें कंजूस, अयज्ञीय, एवं दस्यु बताया गया है[56]। स्पष्ट है कि आलोच्य कालावधि से पहले भी व्यापार के प्रति कोई उदार रवैया नहीं था परंतु आलोच्य कालावधि में भी हम धर्म सूत्रों की व्यवस्था पर विचार करें तो व्यापार-वाणिज्य करने वालों को बहुत अधिक सामाजिक प्रतिष्ठा का उपभोग करते हुए नहीं पाते हैं। एक तो यही कि इससे सम्बद्ध लोग 'वैश्य' तीसरी श्रेणी में आते थे। बौधायन अंग और मगध के लोगों की निंदा समुद्र यात्रा, मदिरापान एवं व्यापार कर्म में उनकी संलिप्तता के कारण करते हैं[57]। समुद्र यात्रा, जिसकी उपयोगिता व्यापार के लिए असंदिग्ध है, बौधायन उसे पाप कर्म के रूप में निन्दित बताते हैं[58] और प्रकारान्तर से व्यापार वाणिज्य को हतोत्साहित करते हैं।

इसके विपरीत बौद्ध शिक्षाओं में व्यापारी या दुकानदार की उन्नति के अनेक सुझाव प्रस्तुत किए गए हैं, जैसे एक व्यापारी से अपेक्षा है कि वह दृष्टि, चातुर्य तथा विश्वास करने कराने में सक्षम हो[59]। दृष्टि उसे किसी वस्तु पर लाभ आंकने की क्षमता देती है[60], चातुर्य उसे माल बेच देने की क्षमता देती है[61] और समय पर ब्याज सहित ऋण की अदायगी उसकी साख को कायम रखती है[62]। इन गुणों से युक्त व्यापारी धनवान एवं महान् होता है। एक भिक्षु से भी इन गुणों को आत्मसात करने की अपेक्षा की गई है ताकि वह एक 'आदर्श' उपस्थित कर सके[63]। एक व्यापारी से भिक्षु की तुलना अन्यत्र भी बड़ी रोचक बन पड़ी है कि जैसे एक दुकानदार अपने कर्तव्यों के प्रति लापरवाह होकर अवनति को प्राप्त होता है, उसी तरह भिक्षु भी अपने दैनन्दिन कर्मों से विमुख होकर अपनी अवस्था से च्युत हो जाता है।[64]

एक तो व्यापारियों की उन्नति की कामना, उनके लिए नुस्खे तजबीज करना, अपने आप में व्यापार-वाणिज्य के समर्थन का साक्ष्य है, परन्तु उनके हर क्रिया कलाप को भिक्षुओं की आचार संहिता से जोड़ देना तो उसे एक पवित्र और उत्तमतम स्तरों पर स्थापित कर देना है जो ब्राह्मण दृष्टिकोण से तुलना करने पर एक ध्रुव से दूसरे ध्रुव की यात्रा प्रतीत होती है।

ऋणों के लेन-देन को लेकर भी बौद्ध एवं ब्राह्मण दृष्टिकोण में अंतर परिलक्षित होता है। बौद्ध दृष्टिकोण ऋणों के लेन-देन को प्रोत्साहित करता नजर आता है[65]। इस पर कुछ तफसील में जाकर विचार करने की आवश्यकता है[66]। परंतु ब्राह्मण व्यवस्थाकारों ने कोई प्रोत्साहन तो नहीं ही उल्टे ऋण और ब्याज की व्यवस्था को कुछ हतोत्साहित ही किया।[67] ऋण पर ब्याज की अत्यधिक ऊँची दरें शायद इस व्यवस्था के प्रति विरोध स्वरूप ही रखी गई थी।[68] तात्पर्य यह कि ब्राह्मण विचारधारा एक बार फिर नवीन परिवर्तनों के साथ समायोजन नहीं बैठा पाती और प्रतिगामिता के पाले में बैठी दिखाई पड़ती है। वस्तुत: ऋण और ब्याज की व्यवस्था ने तो व्यापार और वाणिज्य को बढ़ावा ही दिया और बौद्ध शिक्षाओं ने इसे प्रोत्साहित किया; नवीन परिवर्तनों के अनुकूल माहौल बनाया।

आलोच्य कालावधि की एक और विशिष्टता 'नगरीकरण' भी ब्राह्मण विचारकों को रास नहीं आती है।

आपस्तम्ब ने लिखा है कि 'उसे चाहिए कि नगरों में न जाएं'[69]। बौधायन कुछ और कड़े शब्दों में विरोध करते हैं ''जो धूल से भरे शहरों में निवास करता है, उसके लिए मोक्ष प्राप्ति असंभव है[70]।'' वस्तुतः धूल से भरे शहरों में निवास की मनाही पर्यावरणीय चिन्ता एवं तद्जन्य जागरुकता का परिणाम नहीं थी अपितु परम्परागत ब्राह्मणवादी विचारधारा को नगरीय जीवन से मिलने वाली चुनौतियों को सिरे से समाप्त कर देने की साजिश थी। नगरों का अभ्युदय कृषक समाज द्वारा संचालित भेदपरक ब्राह्मणवादी व्यवस्था पर एक करारी चोट की तरह था। गांवों में बसने वाला कृषक समाज और उसकी मान्यताएं शहरों में निवास करने वालों के व्यापारिक औद्योगिक समाज की मान्यताओं से भिन्न तो होनी ही थी।

उच्चवर्णी लोगों के लिए आपस्तम्ब ने यह व्यवस्था दी है कि वे दुकानों में बना खाना न खाएं[71]। यह नियमन नगरों की आम विशेषता, भोजनालयों के प्रति तिरष्कार का भाव दर्शाता है। शहर सबसे पहले बाजार होता है तो दुकानें तो रहेंगी ही और जाहिर है दुकानदार भी होंगे लेकिन इन सबके प्रति ब्राह्मण विचारधारा कुछ अनुदार प्रतीत होती है। जबकि बौद्ध विचारधारा दुकानदारों की उन्नति के लिए आचार संहिता सुझाती प्रतीत होती है[72]।

वेश्यावृत्ति, जो नगरीय जीवन की ही उपज है, के प्रति भी ब्राह्मण व्यवस्थाकारों का दृष्टिकोण बड़ा कटु प्रतीत होता है। बौधायन[73] किसी वेश्या द्वारा प्रदत्त भोजन गर्हित बताते हैं तो गौतम[74] भी उनसे पूरी तरह सहमत प्रतीत होते हैं। परंतु वेश्यावृत्ति आलोच्य कालावधि में नगर-जीवन का एक अपरिहार्य अंग थी, जैसा कि प्रमुख नगरों में गणिकाओं के अस्तित्व[75] एवं उनकी सुरक्षा-संरक्षा के निमित्त राजकीय प्रयासों से अभिद्योतक होता है[76]। इस सत्य को स्वीकार करता हुआ बौद्ध दृष्टिकोण ब्राह्मण विचारधारा के ठीक प्रतिकूल ठहरता है। आम्रपाली के यहां बुद्ध का निवास एवं भोजन ग्रहण एक ऐतिहासिक तथ्य है जो वेश्यावृत्ति के प्रति उनके दृष्टिकोण को स्पष्ट कर जाता है। अवांछित तत्वों के संघ में प्रवेश को निषिद्ध ठहराते समय गणिकाओं को छोड़ दिया जाना[77], बौद्ध दृष्टिकोण का एक और सक्षम साक्षी है।

उपरोक्त विश्लेषण यह सिद्ध करता प्रतीत होता है कि ब्राह्मण विचारधारा नये युग के परिवर्तनों की हमकदम नहीं रही क्योंकि ये परिवर्तन उसकी अपनी मान्यताओं के प्रतिकूल जान पड़ते थे और थे भी। अब अर्थ एवं अर्थार्जन की प्रवृत्तियां समाज को गढ़ रही थी। शहरों में हर चीज बिकती थी चाहे वह स्त्री शरीर ही क्यों न हो। वहां वर्णगत भेद भुला दिए जाते थे। पैसा प्रमुख था। मदिरालय, भोजनालय, वेश्यालय इत्यादि ऐसी ही जगहें थी और ये सभी, नगर एवं नागरिक जीवन की सामान्य विशेषताएं थी। बौद्ध विचारधारा वक्त की मांग पहचानती है एवं परिवर्तनों के प्रति लचीला तथा नमनीय रूख अपनाकर अपनी जड़े तो जमाती ही है, परिवर्तनों के स्वीकार और नकार को लेकर लोगों की नैतिक हिचक को भी समाप्त कर देती है। नवीन अर्थव्यवस्था ने जो प्रश्न उछाले थे उनका उत्तर बौद्ध धर्म में था। बुद्ध ने स्त्री, और उसमें भी विधवा तक को, परजीवी के रूप में जीवनयापन करने की छूट नहीं दी और उसे भी उत्पादन की प्रक्रिया में शामिल किया[78]।

पशुबलि का बौद्धों द्वारा बहिष्कार, जीव दया एवं करूणा का मामला उतना नहीं लगता जितना कृषि आधारित अर्थव्यवस्था के अनुकूल उनकी उपयोगिता एवं तत्पश्चात् उनके संरक्षण का। कृषि में उपादेयता के चलते ही गाय बैलों की रक्षा वाले यज्ञ सम्पादित करने का विधान दिया गया[79]। परंतु भोजन की आवश्यकताओं को भी ध्यान में रखा गया था। शायद इसीलिए बौद्धों में सुअर का मांस भक्षण अधिक लोकप्रिय प्रतीत होता है। बुद्ध को स्वयं भी वैशाली के गृहस्थ उग्ग के द्वारा सूकर मार्दव परोसा गया था[80]। अगर यह अहिंसा और जीव दया की बात होती तो सुअर भी 'जीव' ही है एवं उसकी हत्या भी हिंसा ही करार दी जाती। बौद्धों और

ब्राह्मण विचारधारा नये युग के परिवर्तनों की हमकदम नहीं रही क्योंकि ये परिवर्तन उसकी अपनी मान्यताओं के प्रतिकूल जान पड़ते थे और थे भी।

जैनों के द्वारा अपनी बातों को जन-जन तक पहुंचाने के लिए जिन भाषाओं का चयन किय गया उसके पीछे एक तो यह कारण प्रतीत होता है कि वे आम जनता की भाषा में ही अपनी बात कहना चाहते थे ताकि अपनी बोल-चाल की भाषा में जनता धर्म और दर्शन के गूढ़ रहस्यों को भी आसानी से समझ सके। बौद्धों ने मागधी भाषा को अपनाया जो बाद में 'पालि' कहलाने लगी तो जैनों ने प्राकृत भाषा को। ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृत उच्चवर्गीय अभिजात लोगों की भाषा बन गई थी क्योंकि निम्न वर्गों के लोगों का तो विद्यारम्भ ही नहीं हो पाता था; ये तो द्विजातियों में ही नहीं गिने जाते थे और चूंकि वैदिक ग्रन्थ, ब्राह्मण संहिताएं, सूत्र ग्रन्थ एवं स्मृतियां इत्यादि संस्कृत में ही लिखे गए हैं तथा शूद्रों को इन्हें पढ़ने की मनाही भी थी अतः स्वाभाविक है कि संस्कृत तक पहुंच उनकी हो ही नहीं सकती थी। प्राचीन नाटकों में निम्नवर्गीय लोगों एवं स्त्रियों को हमेशा प्राकृत बोलते हुए पाया जा सकता है। फलतः संस्कृत धीरे-धीरे उच्च वर्णों की भाषा बनकर रह गई। और चूंकि नये-नये जन्म ले रहे बौद्ध एवं जैन आन्दोलनों को स्थापित होने के लिए व्यापक स्वीकृति की आवश्यकता थी अतः अपनी विचारधारा

के प्रचार के लिए भी व्यापक रूप से व्यवहृत भाषाओं का चयन करना पड़ा। संस्कृत का चयन इनके द्वारा इसलिए भी नहीं किया गया रहा होगा क्योंकि यह उसी विचारधारा के विरोध में खड़े थे एवं उसी के विरुद्ध जनमानस तैयार कर रहे थे जिस विचारधारा ने घोषित रूप से 'संस्कृत' को अपने लिए 'पेटेन्ट' करा लिया था। संस्कृत के बरअक्स पालि और प्राकृत को उनके व्यावहारिक क्षेत्रों से जोड़कर यानी हीनतर मानी जाने वाली जातियों की दुनिया से जोड़कर इस संभावना पर भी विचार होना चाहिए कि कहीं यह ब्राह्मणवादी सवर्ण मानसिकता या विचारधारा के वर्चस्व को चुनौती तो नहीं थी। यह भी बड़ी रोचक तुलना है कि बौद्ध एवं जैन धर्म जनता की भाषा में जनता को प्रशिक्षित करना चाहते हैं, सभी तक बात पहुंचे इसका प्रयास करते हैं, तो ब्राह्मण धर्म में, ज्ञान को गुप्त रखने पर बल दिया जाता है कि कहीं ज्ञान का वर्जित फल सबके जीभ न लग जाए।

पुनर्जन्म संकल्पना भी बड़ी रोचक है। प्रदत्त तथ्यों के आलोक में यह सुपुष्ट होता है कि पुनर्जन्म एवं स्वर्ग-नरक की अवधारणा के व्यापक प्रचार-प्रसार के आधार पर शोषण की व्यवस्था का पोषण किया जाता था।

उपरोक्त विवेचना एक बात लगभग सिद्ध कर देती है कि बौद्ध एवं जैन धर्म नवीन युग की प्रवृत्तियों के सर्वथा अनुकूल थे एवं ब्राह्मण धर्म पुराना पड़ता जा रहा था। उसकी मान्यताएं जिन सामाजिक आर्थिक परिस्थितियों में परवान चढ़ी थी, वे परिस्थितियां ही बदल गई। लोग अब उनके द्वारा परिचालित होने में घुटन महसूस कर रहे थे।

ऐसे में बुद्ध का आविर्भाव एवं उनकी शिक्षाओं का प्रसार एक सुखद एहसास की तरह था जिससे लोग सराबोर होते गए और निश्चित रूप से ब्राह्मणवादी प्रतिक्रियावादिता एवं प्रतिगामिता के संकुचन की अपेक्षा बौद्ध धर्म के प्रगतिशील स्वर ने यदि तत्कालीन जन-जीवन को आकर्षित किया तो आश्चर्य क्या?

संदर्भ संकेत एवं टिप्पणियां

1. वी. आर. अम्बेडकर, द अनटचेविल्स 1969, पृ0 147।
2. जयशंकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ0 123।
3. सुत्तनिपात, 1.7.21; 3.5.57।
4. व्यूलर ने मनुस्मृति का काल ई. पू. 200 से 200 ई. तक के मध्य में माना है। द्र., सैक्रेड बुक्स ऑफ दि इस्ट 25 प्रस्तावना, CXIV-CXVII.
   जायसवाल ने उसे शुंगवंश में होने वाली ब्राह्मण प्रतिक्रिया का समकालीन माना है। द्र., मनु एवं याज्ञवल्कय, पृ. 25-32।
5. मनुस्मृति 1.93, उत्तम अंग (मुख) से उत्पन्न होने के कारण, क्षत्रियादि से पहले उत्पन्न होने के कारण, वेदों के धारणकर्त्ता होने के नाते ब्राह्मण ही सम्पूर्ण सृष्टि का स्वामी है।
   उत्मार्गोद्भवा ज्यैष्ठ्याद ब्राह्मणश्चैव धारणात् सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मण: प्रभु:।
   कई अन्य उल्लेख भी द्रष्टव्य है, मनुस्मृति 1.95; 1.96, 1.97, 1.99 इत्यादि।
6. विज्ञानेश्वर, याज्ञवल्क्य स्मृति, 2.21; इसमें सुमन्त को उद्घृत करते हुए दुराचारी ब्राह्माण के लिए प्राणदण्ड अभिहित किया गया है।
   बौधायन धर्मसूत्र, 1.10; 18.19 ब्रह्म हत्या गुरूतल्प, सुवर्ण स्तेय, सुरापान करने पर तत्प लोहे से दागकर निर्वासित कर देना चाहिए।
7. शर्मा रामशरण, प्रारम्भिक भारत का सामाजिक और आर्थिक इतिहास पृ. 158।
8. उत्संस्करण की नीति द्र. वही, पृ. 158।
   निम्न संस्कृति के लोगों का उच्चतर संस्कृति में विलयन से सम्बंधित नीति। महाकाव्य 'रामायण' की नर-वानर मैत्री क्या उत्संस्करण की नीति ही थी? या राम के द्वारा अपने हितों के निमित्त वानरों का उपयोग कर लिया गया और उन्हें अपने समाज में अपनी नियति के साथ छोड़ दिया गया। संभव है कि वानर जाति के प्रति राम की सदाशयता रही हो परंतु इस मात्र से कुछ ठोस होता है? कितने वानरों को सुसंस्कृत बनाया गया। सामाजिक-राजनैतिक संरचना में कोई पद अथवा आधार दिया गया। सभ्य समाज के अनुरूप अनुकूलित किया गया। इसकी तुलना में कम से कम अशोक ने जरूर कुछ सदाशयी क्रियान्वसन भी किया था। भले ही राजनैतिक आर्थिक हितों के लिए ही।
9. मनुस्मृति 10 43-44
   ''शनवैस्तु क्रियालोपादिमा: क्षत्रिय जातय:
   वृषलत्वं गत लोके ब्राह्मणादर्शनेन च''। 10,43
   ''पौण्ड्रकाश्चौण्ड्र द्रविणा कम्बोजा यवना: शका:
   पारदापह्ल्वाशचीना किराता: दारदा: खशा:, 10.44।
10. पतंजलि महाभाष्य 2.4.10।
11. महाभारत अनुशासन पर्व, 33,21,23।
12. मनुस्मृति, 3.77।
    यथा वायु समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तव:
    तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमा:।
13. मनुस्मृति 6.10;।
    यथा नदी नदा: सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम् तथैव श्रमिण: सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्।
    व्यास स्मृति, 4, 2-4; 13-14 महाभारत शान्ति पर्व, 12.6।
14. जयशंकर मिश्र, पूर्वोक्त पृ. 231।
15. विस्तृत विवरण के लिए दृष्टव्य।
    रामशरण शर्मा, प्राचीन में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएं, पृ. 159।
16. रामशरण शर्मा, प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, पृ. 51।
17. विस्तृत विवरण के लिए देखे रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएं, पृ. 158।
18. आर. सी. मजूमदार, ऐन्श्येन्ट इण्डिया, पृ. 49।
19. गौतम धर्म सूत्र 5.8.235।
20. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, पृ. 102-3।
21. मनुस्मृति 9.418
    ''वैश्यशूद्रौ प्रयत्नेन स्वानि कर्माणि कारयेत्।
    तो हिच्युतौ स्वकर्मभ्य: क्षोभयेतामिदं जगत्।।
22. अर्थशास्त्र 3.7 (वैश्या ध्ययनम् यजनं दानं कृषि पाशुपाल्ये वाणिज्या च) मनुस्मृति 1.90 (पशुनाम रक्षणम् ... वैश्यस्य कृषिमेव च) गौतम धर्म सूत्र, 7.26
    आपस्तम्ब धर्म सूत्र, 1.1 1-7; गौतम धर्मसूत्र, 10.54-57; गौतम धर्मसूत्र 10.57-59 सैक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट,

13, 28; दीध निकाय, 1.51; जातक, 4, 475
23. ए. स्वीत्जर, इण्डियन थॉट एण्ड इट्स डेव्लपमेन्ट 1956, पृ. 46।
24. जे. टी. व्हीलर, ऐन्श्येण्ट एण्ड हिन्दू इण्डिया, 1961, पृ. 46।
25. रामशरण शर्मा, प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास पृ. 74-75।
26. अर्थशास्त्र, शामा शास्त्री संस्करण, 1924, 111.2 अन्यत्र भी द्र. गौतम IV, 14-15।
विष्णु XXIV 27-28, नारद XII, 44।
आदिपर्व, 67.10।
27. अर्थशास्त्र 111.2;। पितृ प्रमाणश्चत्वार: पूर्व धर्म्या: मातृपितृ प्रमाणरशेष:।
28. बौधायन धर्मसूत्र 1.20, 14-15। अनियंत्रित कलता हि वैश्य शूद्रा भवन्ति कर्षण सुश्रुषाधिकृतत्वात्।
29. अर्थशास्त्र, 111.4। अमोक्षोधर्म विवाहानाम् इति।
30. अर्थशास्त्र, 111.4।
31. नारद XII . 108।
32. गौतम XIVIII. 18। 'द्वादश वर्षणि ब्राह्मणस्य विद्यासम्बंधे'।
33. अर्थशास्त्र 111.4;।
34. रामशरण शर्मा, प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, पृ. -76-77।
35. मनुस्मृति, 9,66
'अयं द्विजेर्हि विद्वद्‌भि: पशुधर्मो विगहित' द्विजों के लिए इसे पशु धर्म कहकर निन्दित किया है। विधवा विवाह एवं वियोग को उच्च वर्णो के लिए गहित बताने वाले साक्ष्य अन्य भी है, मनुस्मृति, 9.63, 9.64, 9.65, 9.66, 9.67 इत्यादि।
36. पी. वी. काणे, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्राज, II पृ. 604 पर उद्‌धृत। विधवा विवाह को शूद्रों के लिए मनु ने विहित किया है। मनुस्मृति 9.66।
37. समान वर्ण में विवाह के कई प्रसंग स्मृतियों एवं सूत्रों में पाए गए हैं यथा-गौतम धर्मसूत्र, 4.1 (गृहस्थ: सदृशी भार्या: ...)। मनुस्मृति, 3.12 (सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि)।
38. धुर्ये, कास्ट, क्लास, एण्ड आकुपेशन, पृ. 176-75 धुर्ये द्वारा बताए गए तीनों कारण (1) रक्त की पवित्रता (2) वैदिक संस्कृति की रक्षा (3) ब्राह्मणों की श्रेष्ठता स्थिर रखने की अभिलाषा निम्न वर्णो से दूरी कायम करने के प्रयासों की पुष्टि ही करते हैं।
39. रामशरण शर्मा, प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, पृ. 78-80 जयशंकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ. 343-44।
40. जयशंकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास पृ. 289।
41. जयशंकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास पृ. 298।
42. जयशंकर मिश्र, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास पृ. 298।
43. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 1.1.1.6।
(अशूद्राणाम अदुष्ट कर्मणामुपायनम् वेदाध्ययन मग्न्याधेयं फलवन्ति च कर्माण)
44. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 1.3.9.9; शंखायन गृह्यसूत्र, 4.7.33।
45. गौतम धर्मसूत्र। 12.4.6, (अथ हास्यवेदमुप श्रृण्वतस्त्र पुज तुम्यां श्रोत परिपूरणमुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेद:)।
46. वशिष्ठ धर्मसूत्र, XVIII, 14.।
न शूद्राय नतिम् दधात् ...।
47. मनुस्मृति, 4.98; 4.108.।
48. ऋग्वेद 10.11.9; 9.112.1।
49. मनु का कथन है कि जिस शिष्य के पास धर्म और अर्थ नहीं है वह उसर भूमि के समान है और वहां विद्या के बीज का बपन व्यर्थ है-
धर्मार्थो यत्र न स्यातां शुश्रुषा वापि तद्विधा विद्या न वक्तव्या शंभं बीजभिवासर - 2.112
'आप्त: शक्तो अर्थद: ... अन्यत्र भी मनुस्मृति में शिष्य चयन का आधार उसकी धन देने की शक्ति को भी माना गया है।
50. गौतम धर्मसूत्र, 10,67
आर्या नार्य योर्ण्य तिक्षेपे कर्मण: साम्यम्।
51. बौधायन धर्मसूत्र, 1.5.10.24; वशिष्ठ धर्मसूत्र, 2.27।
52. रामशरण शर्मा, प्रारम्भिक भारत का आर्थिक और सामाजिक इतिहास, पृ. 51।
53. रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएं, पृ. 179।
54. ऋग्वेद, 1.33.3; 1.124.10; 1.151. 9; 1.180.7; 5.34.7, 6.51.14, 7. 6.3, 10.108 इत्यादि।
55. ऋग्वेद, 2.24.6, 3.58.2, 5.7, 4.25. 7, 6.13.3, 33.2.39, द्र., वि वैदिक एज. पृष्ठ 252-253।
56. द्र. उपरोक्त संदर्भ सं. 54।
57. रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएं, पृ.174।
58. एस. सी. बनर्जी, धर्मसूत्राज, कलकत्ता, 1962, पृ. 185।
59. अंगुत्तर निकाय, 1.116।
60. वही।
61. वही।
62. वही, 117।
63. अंगुत्तर निकाय, 1.117।
64. अंगुत्तर निकाय, 1.115-16।
65. दीर्घ निकाय, (पा. टे. सो.) 1.71-72; मज्झिम निकाय, 2.116; अंगुत्तर निकाय, 2.69; अपरंच द्र., भागचन्द्र जैन, बौ) संस्कृति का इतिहास, नागपुर, 1972, पृ. 254।
66. दीर्घ निकाय, पा.टे. - 1.71-72; मज्झिम निकाय, 2.116; अंगुत्तर निकाय, 2.69; भागचन्द्र जैन, बौद्ध संस्कृति का इतिहास, नागपुर, 1972, पृ. 2.54
67. वशिष्ठ, 2.41 के आगे
बौधायन, 1.5.10.23-25, अपरंच द्र0, प्रो. रामशरण शर्मा की पुस्तक प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएं, पृ. 176।
68. गौतम, 10.6; वशिष्ठ, 10.44-48; मनु. 8.144।
69. आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1.32.21।
70. बौधायन धर्मसूत्र, 2.3.6.33-34।
71. आपस्तम्ब धर्मसूत्र, 1.5.1>.14।
72. अंगुत्तर निकाय, 1.115-16-17।
73. द्र., रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएं, पृ. 178।
74. गौतम धर्मसूत्र, XVII 17।
75. विस्तृत विवरण के लिए द्र0, जी. एस. पी. मिश्र की पुस्तक 'दि एज आफ विनय; पृ. 197-98; जे. सी. जैन, लाइफ इन एन्श्येण्ट इंडिया, ऐज डिपिक्टेड इन जैन कैनन, पृ. 165-66।
76. रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएं, पृ. 178।
77. जी. एस. पी. मिश्र, दि एज आफ विनय, पृ. 198।
78. अंगुत्तर निकाय, 3.37-38 इसमें कहा गया है कि विधवा को भी बुनाई तथा उनके गोले बनाने की कला ज्ञात होनी चाहिए।
79. संयुक्त निकाय, 1.76।
80. अंगुत्तर निकाय, 2, 49-47।

❑❑❑

इतिहास

सविनय अवज्ञा आन्दोलन के दौर में किसान आन्दोलन

डॉ० प्रेम सिंह

सरदार पटेल ने किसानों से कहा कि यह कांग्रेस का प्रयास ही है जो उसे देर-सवेर गरीबी की दलदल से बाहर निकालने का प्रयास करेगा जिसमें कि वह धंसा हुआ है।

1930 के दशक के मध्य में किसानों में उल्लेखनीय जागरूकता पैदा हुई और अखिल भारतीय किसान सभा ने वाम ताकतों को अखिल भारतीय स्तर पर किसानों को लामबंद करने का अवसर दिया। यहां किसानों की गतिविधियों का जिनका स्वयं कांग्रेस के प्रचार से सीधा संबंध था और किसानों की जागरूकता के संबंध में अनुदार कांग्रेसी नेतृत्व द्वारा प्रयुक्त नीतियों का विश्लेषण किया जा रहा है। देहातों में कांग्रेसी चुनाव प्रचार आर्थिक मामलों को विशेष रूप से उछालने पर टिका हुआ था। इसे बताने के पर्याप्त सबूत है। 1937 में नेहरू ने कांग्रेसी कार्यकर्त्ताओं को निर्देश दिया कि फैजपुर कृषि कार्यक्रम का विशेष महत्त्व है और हमारे देहात के मतदाताओं का विशाल हिस्सा और दूसरे इसे पसंद करेगें। उन्होंने जोर देकर कहा कि इसे ''हमारे चुनाव प्रचार में विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में महत्वपूर्ण स्थान हासिल करना चाहिए।[1] इलाहाबाद के ग्रामीणों के बीच प्रचार करते हुए उन्होंने कहा कि, भारत में सिर्फ दो ही दल है - एक वे जो जनता के लिए लड़ रहे हैं और दूसरे वे जो जनता के खिलाफ हैं। उनके पास (जनता) गरीबी की समस्या को सुलझाने की ताकत नहीं है। कुछ मुट्ठी भर लोग उन पर शासन कर रहे थे ... चाहे वे शासक भारतीय हों या अंग्रेज। वे सिर्फ इतना जानते थे कि अपने उद्देश्यों को आगे कैसे बढ़ाएँ ... कांग्रेस परिषदों में इसलिए जा रही थी ताकि सरकार का समर्थन करने वाले खान बहादुरों, राजबहादुरों और नबावों को दूर रखा जा सके।''[2]

सरदार पटेल ने किसानों से कहा कि यह कांग्रेस का प्रयास ही है जो उसे देर-सवेर गरीबी की दलदल से बाहर निकालने का प्रयास करेगा जिसमें कि वह धंसा हुआ है।''[3] चुनाव के समय दक्षिणपंथी नेतृत्व और उनके सहयोगियों की उम्मीदों से अधिक फैजपुर कार्यक्रम की चर्चा हो रही थी क्योंकि किसान कांग्रेस के साथ एकजुट हो रहे थे। संयुक्त प्रांत का उदाहरण उन अनेक उदाहरणों में से एक है जो बताते हैं कि क्यों और कैसे किसानों की उम्मीदें बढ़ गई थीं। ''कांग्रेस के कार्यकर्त्ता नोटबुक ले जा रहे हैं और काश्तकारों से पूछते हैं कि लगान क्या है? काश्तकार बताता है शायद दो रुपया प्रति बीघा। कांग्रेसी कार्यकर्त्ता कहता है ठीक है। यदि तुम कांग्रेस को वोट दोगे तो तुम्हारा लगान चार आना हो जाएगा। वह अपनी नोट बुक में लिख लेता है और बदकिस्मत किसान इससे पूरी तरह प्रभावित हो जाता है।''[4]

इस प्रचार का एक मजेदार पक्ष यह उभरा कि संयुक्त प्रांत के कई गांवों के किसानों ने इसलिए वोट दिया कि वे उसे गांधी की पार्टी मानते थे और यह कि गांधी स्वयं उम्मीदवार हैं।[5] बिहार में ''कुछ मतदाता पेटी को गांधी का लेटर बॉक्स समझते हुए मतपत्र के साथ अपनी अर्जिया भी डाल देते थे।[6] 1937 के चुनावों में कांग्रेस की जीत के कारण राज्यपालों ने ''गांधी का नाम'' और लगान नहर कर तथा चौकीदारी कर में बेतहाशा कमी के कांग्रेसी वादे बताए।''[7] वस्तुत: यह गीत आर्थिक मसलों के साथ राष्ट्रीय भावनाओं को जुड़ जाने से हुई और इसमें आर्थिक मसलों ने एक निर्णायक भूमिका अदा की। बंगाल में कांग्रेस की असफलता अन्य कारणों के अतिरिक्त इस कारण से भी हुई क्योंकि यहां किसान प्रजा कृषक पार्टी द्वारा प्रस्तुत आर्थिक कार्य-क्रम की तुलना में कांग्रेस के भूस्वामी समर्थकों से खुश नहीं थे।[8] बंगाल में कांग्रेस स्वराज पार्टी के दिनों से ही जमींदार समर्थक नीति को बढ़ा रही थी। यही बाद में राजनीतिक नियंत्रण पर वर्चस्व रखने वाले कारक सांप्रदायिकता के उभार का सहायक घटक बना। कुछ ऐसी ही स्थिति पंजाब में थी।

अंतरिम मंत्रिमंडल काल में कांग्रेस में सरकार बनाने के समर्थक गुट ने किसानों की भावनाओं को इस्तेमाल मंत्रिमंडल निर्माण के लिए किया। संयुक्त प्रांत में जब छतारी के नवाब ने मंत्रीमंडल बनाया तो कांग्रेसी नेताओं ने किसानों को लगान न देने के लिए प्रोत्साहित किया। उन्होंने किसानों को विश्वास दिलाया कि कांग्रेस के सत्ता संभालते ही सभी बकाया माफ कर दिया जायगा।[9] जब कांग्रेस के लिए सचमुच ऐसा करने का अवसर आया तो उसने किसानों को सलाह दी कि वे ''तत्काल लगान जमा करें'' अन्यथा उन्हें बेदखल कर दिया जाएगा।''[10] इसी तरह से बिहार में किसान जांच समिति को सत्ता में आने के औचित्य प्रदान करने के लिए पुनर्गठित किया गया। बिहार के राज्यपाल ने वायसराय को सूचित किया – ''यह महत्वपूर्ण है कि उन्होंने जितनी भी बैठकें की उनमें उन्होंने किसानों की शिकायतों पर विशेष ध्यान नहीं दिया। ... किन्तु अपने भाषणों में सत्ता संभालने के संदर्भ में अवश्य उललेख किया गया।'[11] कांग्रेस द्वारा किसानों की लामबंदी के अध्ययन बताते हैं कि असहयोग आंदोलन के पहले से ही कांग्रेस के नेता अंग्रेजों के इस प्रचार को कि कांग्रेस के सीमित प्रतिनिधित्व है कि काट के लिए अपने ग्रामीण अनुयायियों का प्रदर्शन कराने को उत्सुक थे। अधिवेशनों में किसान प्रतिनिधियों को देखकर उन्होंने ''प्रसन्नता'' व्यक्त की किन्तु वे उनकी मांगों के प्रति उदासीन ही बने रहे।

असहयोग के दिनों में आर्थिक मसले किसानों को लामबंद करने के लिए उठाये जाते थे। स्वराज के नाम पर सभी तरह के वादे किए जाते थे, किन्तु उद्देश्य आर्थिक मसलों को एक ओर धकलने का होता था।[12] चरखे को सभी बीमारियों के इलाज के रूप में पेश किया जाता था और गांधी एक डॉक्टर थे जिन्होंने इसका सुझाव दिया था। ऐसी ही स्थिति सविनय अवज्ञा आन्दोलन और 1937 के चुनावों के दौरान भी बनी रही। किसानों के बारे में कांग्रेस के रुख का विश्लेषण करना ऐसे दौर में अत्यंत महत्वपूर्ण होगा जब कोई आंदोलन या अंग्रेजों के खिलाफ सीधा संघर्ष नहीं चल रहा था। 1937 और 1939 के बीच की अवधि जब कांग्रेस सत्ता में थी हमें अध्ययन का अच्छा अवसर प्रदान करती है। 1937 में नेहरू का मानना था – ''भारत की सर्वाधिक महत्वपूर्ण समस्या किसान समस्या है, बाकी सब गौण है।'' उन्होंने अनुभव किया कि कांग्रेस मंत्रिमंडल ने किसानों को नयी आशा और नया जीवन प्रदान किया था। जबकि बड़े जमींदार और तालुकेदार किसानों के एक लम्बे समय से स्थगित न्याय का प्रतिरोध करने के लिए संगठित हो रहे थे'' उन्होंने जोर देकर कहा कि ''हमें अपनी प्रतिज्ञाओं के प्रति ईमानदार रहना है और किसानों की आशाओं को संतुष्टि और पूर्णता प्रदान करनी है।''[13] किसानों और किसान सभाओं ने कांग्रेस अध्यक्ष के इन सार्वजनिक वक्तव्यों का स्वागत किया और कांग्रेस मंत्रिमंडल के तत्वाधान में फैजपुर कृषि कार्यक्रम को लागू किए जाने का उत्सुकता से इंतजार करने लगें। कांग्रेस अध्यक्ष के वक्तव्यों और कांग्रेस के कृषि कार्यक्रम का कांग्रेसी दक्षिणपंथी नेताओं पर कोई असर नहीं हुआ। एक बार सत्ता में पहुंचने के बाद यह नेतृत्व सामान्यत: वाम को और विशेषत: किसान सभा को नियंत्रित करने के साधनों और रास्तों की तलाश करने लगा। सरदार पटेल ने राजेन्द्र प्रसाद को एक पत्र लिखा – ''किसान सभा भविष्य में बहुत बड़ी बाधा उत्पन्न करेगी और मेरा पक्का मत इसके गठन के विरूद्ध रहा है। वे समय का इंतजार कर रहे हैं जब वे हमें हटा सकेंगे। इसलिए मैं उनको महत्व नहीं देता हमें कलकत्ता में स्थिति का संभलकर सतर्कता से सामना करना होगा। कुछ महीनों बाद हम उनके द्वारा पैदा की हुई स्थिति को नियंत्रित करने के योग्य नहीं रहेंगे।''[14]

''हमें अपनी प्रतिज्ञाओं के प्रति ईमानदार रहना है और किसानों की आशाओं को संतुष्टि और पूर्णता प्रदान करनी है।''

अक्टूबर 1937 में कलकत्ता की अखिल भारतीय कांग्रेस समिति की बैठक में दक्षिणपंथियों ने शिद्दत से महसूस किया कि उन्हें संगठित होना चाहिए। जयरामदास दौलतराम की सलाह कि ''हमें अब अधिक बैठके नहीं होना चाहिए'' को क्रियान्वित किया गया।[15] यह हिदायत जारी की गई कि सभी परंपरावादी कार्यक्रम वालों को मिलजुल कर काम करना चाहिए' अन्यथा ''भाविष्य में बहुत बड़ी कठिनाई'' आ सकती है।[16] पटेल ने प्रसाद को स्पष्ट भाषा में लिखा कि : ''बापू प्रसन्न नहीं हैं ... हरिपुरा में हमें किसी भी तरह से संघर्ष करना होगा ... कृपया प्रतिनिधियों के चुनाव पर नजर रखें। सभी गांधी विरोधी तत्वों को निकाल बाहर कीजिए। संयुक्त मोर्चे के नाम पर अव्यवस्था की ताकतों को हम सहन नहीं करेंगे। हमारी सहनशीलता का वे नाजायज फायदा उठा चुके हैं किन्तु अब दृढ़ कदम उठाने का समय आ गया है।''[17]

प्रसाद ने पटेल को विश्वास दिलाया – ''मैंने जिलों में मित्रों को कहा है कि वे आपके सुझाव अनुसार सजग रहें और संगठित हों।''[18] स्पष्ट गांधी के वफादार अनुयायी वाम को सांगठनिक ढांचे में आगे न बढ़ने देने को सुनिश्चित कर लेने में व्यस्त रहे थे। किसान समर्थक कांग्रेसियों के लिए कांग्रेस में काम करना अत्यंत मुश्किल हो गया था। अंग्रेज सरकार ''कृषि खतरे से चितिंत थी, इसलिए वह कांग्रेसी मंत्रियों को किसान

सभा के विरुद्ध कार्रवाई करने को उकसाती थी। वायसराय ने बिहार के गवर्नर को कहा कि वह अपने मंत्रियों को ''इन दिनों को बुरे रूप में पेश करें'' और कहें कि पहले के अच्छे दिनों में कैसे इस तरह की बकवास सरकार रोक लेती थीं''[19] यह कहानी निश्चय ही कही गई होगी। इसीलिए कि गवर्नर ने गर्व के साथ उत्तर दिया। ''मुझे लगता है कि मेरे मंत्री खतरे का पूरी तरह अनुभव करते हैं। वे मुख्य किसान नेताओं पर नजर रखने को तैयार हैं तथा इसके लिए भी तैयार हैं कि उनके भाषणों की रिपोर्ट की जानी चाहिए।[20] कांग्रेसी मंत्री वास्तव में गवर्नर की सलाह से भी ज्यादा कुछ करने को उत्सुक थे। यहां तक कि उन्होंने ''किसानों नेताओं के पत्र-व्यवहार को बीच में (सी०आई०डी० द्वारा) रोके जाने'' का भी समर्थन किया।''[21] बिहार प्रदेश कांग्रेस कमिटी ने कांग्रेसी कार्यकर्त्ताओं के किसान सभा में भाग लेने पर प्रतिंधब लागू कर दिया। सरदार पटेल ने इस कार्रवाई का स्वागत किया - "व्यक्तिगत रूप से मैं अनुभव करता हूं कि यह कार्रवाई बहुत पहले हो जानी चाहिए थी। किन्तु देर आए दुरूस्त आये। मैं आशा करता हूँ कि मामलों को सुधारने के लिए स्वामी (सहजानंद) जो बहुत अनिष्ट कर रहा है उससे बचने के लिए अभी बहुत देर नहीं हुई है।''[22]

बिहार प्रदेश कांग्रेस कमिटी के सदस्य और बिहार किसान सभा के अध्यक्ष सहजानंद को चंपारण, सारण और मुंगेर जिलों की कांग्रेस कमिटियों ने निर्देश दिया कि वे उनके जिलों की यात्रा न करें। स्थानीय कांग्रेसियों को धमकी दी गई कि यदि वे उसकी बैठकों में गए तो उनके विरुद्ध अनुशात्मक कार्रवाई की जाएगी।[23] यह प्रतिबंध उस समय लगाया गया जब दक्षिणपंथी कांग्रेसियों ने जमींदारों के साथ समझौते पर हस्ताक्षर किए थे। उन दोनों के किसान आंदोलन को कुचलने के लिए आपस में गठजोड़ कर लिया था। यहाँ चंद्रेश्वर प्रसाद सिंह द्वारा राजेन्द्र प्रसाद को लिखे गए पत्र को उद्घृत करना महत्वपूर्ण होगा -

''मैं आपके विचारों से पूरी तरह सहमत हूँ कि जहाँ हमें मिलकर कार्रवाई करने से लाभ होता है, वहां हमें मिलकर काम करना चाहिए। मेरी पूर्ण इच्छा हैं कि इस संबंध में आपको पूरा सहयोग दूँ।''[24]

जमींदारों के एजेन्टों और दक्षिणपंथियों के अनुयायियों ने जिलों में सहजानंद की यात्रा को असफल करने की अपनी ओर से भरसक कोशिश की किन्तु किसानों ने बड़ी संख्या में पहुंचकर उनकी कोशिशों को विफल कर दिया। यह घटना अन्य कारणों से भी महत्वपूर्ण थी। सहजानंद बिहार कांग्रेस समिति के सदस्य थे किन्तु दक्षिणपंथियों के समर्थन से निचले स्तर की कांग्रेस समितियों ने उनके विरूद्ध कार्रवाई की। प्रदेश कांग्रेस समिति ने बाद में इस कार्रवाई का समर्थन किया। किसान सभा को अपना पक्ष रखने का कोई अवसर नहीं दिया गया। सहजानंद ने नागरिक स्वतंत्रता का मामला उठाया।[25] किन्तु प्रसाद और पटेल सभी स्तरों पर किसान सभा का विरोध करने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ थे।

बम्बई में कांग्रेस कार्यकारिणी समिति में बिहार प्रदेश कांग्रेस समिति की कार्रवाई पर विचार हुआ। प्रसाद जानते थे कि ''हम अभियुक्तों की स्थिति में होंगे और हमें अपना बचाव करने के लिए तैयार रहना चाहिए।'' ''उन्होंने बिहार के प्रधानमंत्री से किसान सभा नेताओं की गतिविधियों से संबंधित सी.आई.डी. रिपोर्ट एकत्र की।''[26] इस पर पटेल, प्रसाद, आजाद, राजगोपालाचारी और जमनालाल बजाज ने गांधी के साथ विचार विमर्श किया।[27] बिहार के प्रधानमंत्री ने पटेल से कहा कि ''वर्किंग कमिटी ने हर कदम की निंदा करने की बजाय यदि उनका सुख-दुःख से पूरा समर्थन करें तो वे बिहार का बेहतर संचालन कर सकते हैं।[28] उस दौरान ही प्रधानमंत्री ने बिहार के गवर्नर को आश्वस्त किया कि ''जब तक गांधी जीवित हैं वह (कांग्रेस वर्किंग कमिटी का) समर्थन हासिल कर लेंगे।''[29] किसान सभा और उसके नेताओं को अपना पक्ष रखने को कहे बिना कांग्रेस

''मैं आपके विचारों से पूरी तरह सहमत हूँ कि जहाँ हमें मिलकर कार्रवाई करने से लाभ होता है, वहां हमें मिलकर काम करना चाहिए। मेरी पूर्ण इच्छा हैं कि इस संबंध में आपको पूरा सहयोग

वर्किंग कमिटी ने बिहार प्रदेश कांग्रेस कमिटी की कार्रवाई का अनुमोदन कर दिया।

दक्षिणपंथियों ने स्वामी सहजानंद पर जिस ''बड़े अनिष्ट का अभियोग लगाया, अगर इस पर गौर करें तो स्पष्ट होता है कि व्यवहार में, उन्होंने, किसानों को अपने अधिकारों के प्रति जागरूक बनाया, उन्हें संगठित किया उन्हें बड़ी संख्या में कांग्रेस में शामिल होने के लिए प्रेरित किया और मंत्रियों को बहु प्रचारित फैजपुर कृषि कार्यक्रम को लागू करने की याद दिलाई। कांग्रेस के नेताओं से चुनावों के समय किए गए वादों को पूरा करने को कहा; जमींदारों की हिंसा के विरूद्ध आत्मरक्षात्मक तरीके अपनाने को कहा। इस प्रकार, सहजानन्द न सिर्फ अंग्रेजों के खिलाफ लड़ रहे थे, वरन् भारतीय समाज में उनके सहयोगियों से भी संघर्ष कर रहे थे। इसे ही कांग्रेस सिद्धांतों के विरूद्ध काम करने और कांग्रेस का अनुशासन तोड़ने की संज्ञा दी गई।[30] किसान सभा पर भी आरोप लगाया गया कि वह उन असंतुष्ट तत्वों को आश्रय दे रही है जिनका रुख कांग्रेस के प्रति द्वेषपूर्ण है, किन्तु इस संदर्भ में कभी भी किसी का नामोल्लेख नहीं किया गया। दूसरा आरोप यह लगाया गया कि किसान सभा हिंसा का प्रचार

करती है और वर्ग युद्ध का माहौल बना रही है।[31] जबकि किसान सभा ने जमींदारों पर हमला करने के लिए प्रेरित नहीं किया। इसके विपरीत, किसानों को आत्मरक्षात्मक उपाय को अपनाने की सलाह दी गई जैसे जबरदस्ती बेदखली के समय किसान खेत में लेट जाए। वस्तुत: दक्षिणपंथियों के लिए संघर्ष के गांधीवादी तरीके भी अगर जमींदारों के विरूद्ध अपनाए जाए तो वे हिंसा के समान थे। दक्षिणपंथियों के लिए किसान सभा से सलाह मशविरा लेना ही कांग्रेस नीति के विरूद्ध जाना और जमींदारों के साथ समझौता करना ही अनुशासन था। किन्तु यदि किसान इस भटकाव का विरोध करने के लिए परिषदों तक शांतिपूर्ण मार्च करें और कांग्रेस द्वारा किए गए वादों को लागू करने की मांग करे तो यह ''अनुशासनहीनता'' थी।

हरिपुरा अधिवेशन के लिए कांग्रेस प्रतिनिधि चुनने के संदर्भ में हमने पटेल, राजेन्द्र प्रसाद को दिए गए निर्देशों का उल्लेख किया है। चुनावों के दौरान बिहार के कई क्षेत्रों में भारी हिंसा, बूथ पर कब्जा करने और डराने धमकाने की घटनाएँ हुई।[32] संयोग से हिंसा जांच समिति की रिपोर्ट मौजूद है। वह उन तरीकों को अनावृत करती है जो वाम विरोधी ताकतों ने किसान सभा को कुचलने के लिए अपनाए थे। रिपोर्ट ने स्पष्ट किया कि ''हर तरह के लोगों में कांग्रेस संगठनों पर काबिज होने की व्यापक इच्छा थी। इसलिए अपने-अपने मित्रों रिश्तेदारों के संरक्षण की रक्षा करने तथा स्थानीय निकायों पर काबिज होने के लिए अपनी बेहतर (लाभदायक) स्थिति का उपयोग भी किया गया।''[33] कांग्रेस संगठन पर मजबूत पकड़ स्थापित करने के लिए दक्ष पंथियों ने सुनियोजित प्रयास किया था। हम यहां उनके द्वारा अपनाई गई विधियों की सूची प्रस्तुत कर रहे हैं:

1. बिहार के अनेक क्षेत्रों में जमींदार अमलों को बड़े पैमाने पर कांग्रेस का सदस्य बनाया गया और किसानों को सदस्यता फार्म और रसीद बुकें देने से इंकार कर दिया गया।
2. निर्वाचन क्षेत्र इस ढंग से निर्धारित किए गए ताकि कांग्रेस के अन्दर किसानों या किसान समर्थकों के मतदाताओं के प्रभाव को गौण किया जा सके।
3. जहां तक संभव हो किसान सभा सदस्यों को नामजदगी पत्र न भरने दिया जाए। और अगर भर दें तो उन्हें निरस्त कर दिया जाए।[34]
4. किसान सभा समर्थक कांग्रेसियों के विरूद्ध इस दृष्टि से भी प्रचार किया गया था कि ये समाजवादी होने के कारण ईश्वर में विश्वास नहीं करते अथवा ये कांग्रेस को अपदस्थ करना चाहते हैं।[35]
5. दक्षिणपंथी वफादारों और जमींदार समर्थकों को चुनाव अधिकारी नियुक्त किया गया।[36]
6. चुनावों में गड़बड़ी की गई। कई मामाले ऐसे हुए जहां चुनाव प्रक्रिया पुरी भी नहीं हुई और चुनाव अधिकारी ने जमींदार समर्थक उम्मीदवारों को विजयी घोषित कर दिया। बाद में हिंसा जांच समिति ने इन घोषणाओं पर सवाल उठाया।[37]
7. जहां किसान सभा उम्मीदवार विजयी हुआ, वहां बहाने से जिला कांग्रेस समिति ट्रिब्युनलों ने उनका चुनाव रद्द कर दिया।
8. इन गड़बड़ियों को छुपाने के लिए किसान सभा कांग्रेसियों को हिंसा के मामले में फंसाया गया और उनपर अपराध के मामले बनाए गए। यह सब बिहार प्रदेश के प्रधानमंत्री के निर्देशों पर हुआ। इससे अतिप्रसन्न गर्वनर ने वायसराय को सूचित किया कि ''मेरे प्रधानमंत्री जी ने मुझे बताया है कि उसके अनुयायियों ने फौजदारी मामले शुरू कर दिए हैं।''[38] किसान समर्थक कांग्रेसी जो कि जमींदारों और दक्षिणपंथियों की हिंसा का शिकार हो रहे थे कि ''जब भी कांग्रेसियों के बीच कांग्रेस के मामलों को लेकर ही विवाद हो सरकारी अधिकारियों की सहायता नहीं ली जानी चाहिए।''[39] जब हिंसा जांच समिति ने किसान सभा के विरूद्ध आरोपों की जाँच करने के लिए उन क्षेत्रों का दौरा किया तो जमींदार समर्थकों और दक्षिण पंथियों ने कमिटी को सहयोग देने से इंकार कर दिया।[40] कमिटी ने किसान सभा पर लगाए गए आरोपों में कोई सत्यता नहीं पाई। लेकिन इसकी रिपोर्ट को जो दक्षिणपंथियों की ताकतों के लिए अभियोगपत्र था, कभी सार्वजनिक नहीं किया गया।

जहां तक दक्षिणपंथयों की रणनीति का सवाल है दूसरे प्रांतों में भी स्थिति कुछ ज्यादा अलग नहीं थीं। संयुक्त प्रांत में किसान समर्थक कांग्रेसियों पर नजर रखी जाती थी। 17 जून 1938 के संयुक्त प्रांत प्रदेश कमिटी के सर्कूलर में स्थानीय कमिटियों से कहा गया कि वे किसान सभा की गतिविधियों की नियमित रिपोर्ट भेजें। रिपोर्टों में निम्नलिखित बातों पर विशेष ध्यान देने को कहा गया था।

1. क्या किसान सभा और कांग्रेस के बीच किसी तरह का तनाव है?
2. किसान सभा में ऐसा कोई व्यक्ति न हो जिसके विरूद्ध अनुशासनात्मक कारवाई की गई हो।
3. किसान सभा का झंडा तिरंगा है या किसी और तरह का है?
4. क्या किसान सभा की गतिविधियों से कांग्रेसी सदस्य आहत हुए हैं?
5. क्या किसान सभा किसी अन्य प्रांतीय संगठन से संबद्ध हैं? क्या उसका हिसाब किताब व्यवस्थित है? इससे जनता कहां तक प्रभावित है?[41]

मोहनलाल सक्सेना ने एक गुप्त सर्कुलर में प्रदेश कांग्रेस कमिटी के सदस्यों से जोर देकर कहा कि : एक

ऐसे समय जब कांग्रेस, मुस्लिम लीग जमींदारों तालुकेदारों और पूंजीवादी हितों के आक्रमण को झेल रही थी यदि उस समय कांग्रेसियों का कोई हिस्सा यह प्रचार करे कि कांग्रेस ने किसानों से विश्वासघात किया और कि वे इससे किसी अच्छे की आशा नहीं करते सिवाय देशद्रोह के कुछ नहीं है और इससे सख्ती से निपटने की जरूरत है।[42] वह कांग्रेस पर तालुकेदारी और पूंजीवादी हमले को स्वीकार करने को तैयार थे किन्तु इनके खिलाफ किसानों का समर्थन वह नहीं लेना चाहते थे। कांग्रेसियों के एक हिस्से पर किसानों को भड़काने का आरोप लगाया गया था वह सही नहीं था। सच्चाई यह है कि यह हिस्सा कांग्रेस में तालुकेदारों के बढ़ते हुए प्रभाव का विरोध कर रहा था और अनुरोध कर रहा था कि कांग्रेस को अवसरवादियों से बचाया जाए जो कि इसको बदनाम कर रहे हैं।

बाबा रामचंद्र एक ऐसे ही कांग्रेसी थे जिनके लिए गांधी ही नेता थे और कांग्रेस ही सर्वोच्च दल था। किन्तु उनकी चिंता यह थी कि ''पूंजीपति और जमींदार हमारी पवित्र कांग्रेस को नष्ट कर रहे हैं।''[43] कांग्रेसी ''सत्ता के प्रवाह में बह रहे हैं'' और जमींदार राष्ट्रीय पार्टी में आ रहे हैं ''इसलिए नहीं कि वे जनता कि सेवा करना चाहते हैं वरन इस उद्देश्य से कि वे विभिन्न कानूनी प्रावधानों द्वारा जनता को नियंत्रित कर सकें।'' उन्होंने स्वीकार किया कि कांग्रेस के शासन संभालने से किसानों के अंधेरे जीवन में कुछ रोशनी आई है। किन्तु कुल मिलाकर वे ''ठगों के जाल में ही फँसे हैं'' जिनके प्रभाव में आकर कांग्रेस अपने आप को भूल गई है और इसी कारण हमें ये विपत्तियाँ झेलनी पड़ रही हैं। उन्हें डर था कि ''यदि ऐसे ही लोग गोरी सरकार की जगह सत्ता में आए'' तो ''स्वराज आ जाने पर भी लोगों के दुःख-दर्द खत्म नहीं होंगे।''[44] जनता की सेवा के प्रति कांग्रेस की प्रतिबद्धता जमींदारों के प्रभाव में बदल गई थी।[45] दमनकारी कदमों द्वारा किसानों और मजदूरों को कमजोर बनाए जाने का प्रयास किया जा रहा था ताकि वे दबकर रहें। किसान इस संदर्भ में रोज कार्यालय को सबूत भेज रहे हैं। वे स्थानीय कांग्रेसी नेताओं की कार्य पद्धति के कटु आलोचक थे। उन्होंने लिखा था कि : "खादी पहनकर और कांग्रेसी नेता बनकर वे पुलिस की मदद से किसानों पे हमले करते हैं। इस विश्वासघात से वे कांग्रेस को नष्ट कर रहे हैं ... कांग्रेसी, उपर हाथ में छड़ी और पीठ में पुलिस, तब उन्हें मंत्रियों के आँखों में धूल अवश्य फेंकना चाहिए।''[46] उन्होंने जोर देकर कहा कि जिस तरह ''मैनेजरों और एजेंटों ने राजाओं और जमींदारों को नष्ट कर दिया, उसी तरह कुछ खद्दरधारी कांग्रेस को नष्ट कर रहे हैं, इसका परिणाम शांति में नहीं वरन् भ्रष्टाचार में निकलता है।'' यह संयोग नहीं है कि ऐसी आवाजें दूसरे राज्यों में भी उठीं। विशाखापट्टनम में कांग्रेस में हाल ही में शामिल हुए चालाक स्वार्थी राजनीतिज्ञों से कांग्रेस को बचाने के लिए कांग्रेस सतर्कता कमिटी बनाई गई। ये राजनीतिज्ञ चुनाव युद्धों को लड़ने के लिए ... प्राथमिक सदस्यों के बीच भाड़े की सेना बनाने में लगे थे। इस कमिटी के मंत्री वी॰ अनुथा राव ने कांग्रेस संगठन की पवित्रता बनाए रखने के लिए ''कांग्रेस आंदोलन को शुद्ध करने'' का आह्वान किया।[47]

प्रतापगढ़ जिला कांग्रेस कमिटी ने संगठन में किसानों के बढ़ते हुए प्रभाव से चिंतित होकर इसके चुनाव स्थगित करा दिए। देहरादून में साधारण सदस्यों (प्रजावर्ग) द्वारा सांगठनिक चुनावों में गुप्त मतदान करने की मांग लगातार कांग्रेस समिति के अधिकारियों (अधिकारी वर्ग) द्वारा ठुकराई जाती रही।[48] बलिया के ग्रामीणों ने प्रतिनिधि चुनावों में धांधली की शिकायत नेहरू से भी की।[49]

"खादी पहनकर और कांग्रेसी नेता बनकर वे पुलिस की मदद से किसानों पे हमले करते हैं। इस विश्वासघात से वे कांग्रेस को नष्ट कर रहे हैं ... कांग्रेसी, उपर हाथ में छड़ी और पीठ में पुलिस, तब उन्हें मंत्रियों के आँखों में धूल अवश्य फेंकना चाहिए।"

इसी संदर्भ में हम वाराणसी जिला कांग्रेस समिति के मंत्री पद से मार्कण्ड सिंह के निलंबन का मामला ले सकते हैं। वे एक उत्पीड़क जमींदार के विरूद्ध आंदोलन से सक्रिय रूप से जुड़े हुए थे। जिन किसानों ने कांग्रेस को 1937 में वोट दिया था उनको बेदखल कर दिया गया था। जिलाधिकारी ने इस बारे में जिला कांग्रेस कमिटी से शिकायत की और इसे कांग्रेस अनुशासन तोड़ने का गंभीर मामला बताया।

बहराल, मार्कण्ड सिंह को जिला कांग्रेस कमिटी अथवा मंडल कांग्रेस कमिटी में दो साल तक कोई पद पाने से वंचित कर दिया गया। उन पर वित्तीय अनियमितता का आरोप लगाया गया था वह सिर्फ पांच रूपये की अनियमितता थी। कांग्रेस के अनुसार उनके विरूद्ध जो कारवाई की गई वह नरम थी क्योंकि जिला कमिटियों ने जोर देकर कहा कि ''पिछले वर्ष उन्हीं के प्रयासों से इस जिले में कांग्रेस को मजबूती प्राप्त हुई। पिछले चुनावों में कांग्रेस विशाल बहुमत प्राप्त कर सकी इसमें उनकी कड़ी मेहनत और लोकप्रियता भी शामिल थी।[50] इंदुलाल याज्ञिक के लिए समारोहों का आयोजन करने के लिए मद्रास में राजगोपालाचारी ने जगन्नाथ दास का उपहास किया। राजगोपालाचारी के अनुसार इंदुलाल याज्ञिक के बारे में बम्बई में हमारे मित्रों की सामान्य धारणा यह है कि वह कांग्रेस के लिए सहायक नहीं हैं और स्पष्ट रूप में तो विरोधी ही हैं।[51] वाम के प्रति उनके आक्रमणकारी रवैये का दूसरा उदाहरण है जबकि उन्होंने लिखा : राजनीतिक संस्थानों की कार्यपद्धति की जानकारी का अभाव और हमारे प्रांत के बाहर के राजनीतिक

मंच के अभिनेताओं का बाहर वालों (विदेशी) की पूजा करने की सुधारतित प्रवृत्ति हमारी नगर निकायों और स्थानीय संगठनों को असंगत स्थिति और बुद्धिहीन प्रस्तावों की ओर ले गई। मासुलिपटेम नगरपालिका द्वारा श्री गिरि और श्री एम. एन. राय के स्वागत करने का क्या अर्थ है।[52] और जल्दी ही एक परिपत्र तालुका और जिला कांग्रेस कमिटियों को जारी किया गया कि इस तरह के आयोजनों के लिए उन्हें प्रदेश कांग्रेस कमिटियों की पूर्व अनुमति लेनी चाहिए। डेविड अर्नाल्ड का अध्ययन बताता है कि राजगोपालाचारी जमींदारों और पूंजीपतियों को कांग्रेस में शामिल होने के लिए आमंत्रित करते थे ताकि वे अपने हितों की रक्षा करें।[53]

राजगोपालाचारी के प्रधानमंत्रित्व काल का महत्वपूर्ण मामला एस॰एस॰ बाटलीवाला पर अभियोग चलाना है जो कि किसानों को संगठित करने के लिए बंबई से आए थे। 3 सितम्बर 1937 को उन्होंने वेंकटगिरी जमींदारी में एक भाषण दिया, जिसमें उन्होंने किसानों की तकलीफों पर रोशनी डाली और महाराजा (एक जस्टिस पार्टी सदस्य) द्वारा शोषण के लिए उन्हें जिम्मेदार ठहराया। किसानों ने (जो कि कांग्रेस के थे) कष्ट निवारण की कोशिश की और अपने को संगठित कर अपनी शिकायतें कांग्रेस के मंत्रियों तक पहुँचाई।[54] वह कोई और भाषण दें इससे पूर्व ही गिरफ्तारी को लेकर राजगोपालाचारी बहुत चिंतित हो गए। जल्दी ही उन्हे गिरफ्तार गया। मुकदमें के दौरान राजगोपालाचारी ने ''व्यक्तिगत तौर पर पब्लिक प्रासिक्युटर के कोर्ट में तर्कों की जांच की और उनमें संशोधन सुझाए।''[55] राजगोपालाचारी इस बात के लिए बहुत उत्सुक थे कि ''संवैधानिक सरकार पर हमला और हिंसा भड़काने पर विशेष जोर देना चाहिए और जितना संभव हो ब्रिटिश कानून पर हमला कम हो।''[56] मुकदमा आरंभ होने पर यह स्पष्ट हो गया कि इस प्रक्रिया का समर्थन क्यों किया गया। बाटलीवाला के बचाव का तर्क यह था कि कांग्रेस पार्टी की नीति यदि अंग्रेजों के विरूद्ध

किसानों ने (जो कि कांग्रेस के थे) कष्ट निवारण की कोशिश की और अपने को संगठित कर अपनी शिकायतें कांग्रेस के मंत्रियों तक पहुँचाई।

है तो उसे सत्ता में बैठी नीति का समर्थन करने के कारण दंडित नहीं किया जा सकता।[57] अपने बचाव को न्यायोचित ठहराने के लिए उसने गवाह के तौर प्रधानमंत्री को बुलाए जाने की मांग की। इसे जज द्वारा अस्वीकार कर दिया गया। निर्णयकों का निर्णय अपराध के विरूद्ध था, इसके बावजूद बाटलीवाला को छह माह की सजा दे दी गई। प्रसन्नचित राजगोपालाचारी ने कहा कि ''मुकदमे का वांछित फल निकला'' क्योंकि अब मद्रास में ऐसे भाषण नहीं किए जाते।''[58]

बंबई में कई कांग्रेसी विधायक चारों ओर जाकर किसानों को चेतावनी देते थे कि किसान सभाओं में शामिल न हो।[57] जब पारूलेकर स्माल लेंडहडर्स रिलीफ बिल में कुछ संशोधन प्रस्तुत किए तो मंत्रियों ने अनुभव किया कि विधेयक पहले से ही जितना वे चाहते थे उससे आगे आ चुका है। वे यह भी जानते थे कि उनके 'समर्थक' संशोधनों के विरूद्ध वोट देने के ''इच्छुक'' नहीं थे। इसलिए मंत्रियों के समक्ष एक ही रास्ता बचा था कि वे संशोधनों को पेश किए जाने से रोकें। इसके लिए उन्होंने बंबई के गर्वनर से मुलाकात की। गर्वनर ने वायसराय को सूचित किया कि – ''यद्यपि वे विधेयक को मूल में प्रस्तुत रूप से अधिक विस्तृत करने को पूर्णत: अनिच्छुक हैं और इसीलिए गृहमंत्री आशा करते हैं कि मैं किसी अन्य विस्तृत संशोधन को पेश किए जाने से रोकने के लिए अपने विशेषाधिकार का इस्तेमाल कर उनकी रक्षा में आगे जाऊं। मैंने उनसे कहा कि दूसरो शब्दों में वह यह चाहते हैं कि मंत्री नहीं बल्कि गर्वनर एक लोकप्रिय प्रस्ताव को उलटने की जिम्मेदारी लें, मंत्रियों को कठिनाइयों से निकालने के लिए गर्वनर अपने विशेषाधिकार का इस्तेमाल न करें और उनकी कोशिश का प्रतिरोध किया जाएगा।''[60] यहां भी यह बात किया जा सकता है कि कांग्रेस द्वारा सत्ता संभालने के समय गर्वनरों के द्वारा विशेषाधिकार का उपयोग कांग्रेस में ज्वलंत प्रश्न बन गया था। ऐसे में जयप्रकाश नारायण की बात झूठ नहीं है, जब वे कहते हैं – ''पहले वे देख लेते थे कि उनका शत्रु कौन है फिलहाल तो जनता और उनके शत्रुओं के बीच गांधी टोपी और खद्दर कुर्त्ता खड़ा है।''[61]

प्रसाद के निर्देशों पर उड़ीसा के प्रधानमंत्री ने कांग्रेस की नीति के एक हिस्से के तौर पर किसानों को दी जाने वाली रियायतें वापस ले लीं।[62] उड़ीसा विधान सभा के उपसभापति ने किसान सभा के खिलाफ निर्भीक राय के लिए प्रसाद को बधाई दी और कहा कि ''इस प्रकार उन्होंने उड़ीसा प्रदेश कांग्रेस कमिटी को किसानों से निपटने का मार्ग दिखाया।''[63] उड़ीसा के किसानों को कांग्रेसी मंत्रिमंडल से बहुत आशाएँ थी। जब कालीकोट के जमींदार ने लारियों से भरे रिजर्व पुलिस की अपने गाँव में परेड करायी और किसानों को चेतावनी दी कि कांग्रेस के शासन में भी वह उतना ही शक्तिशाली है जितना पहले था तो वह स्तब्ध रह गए।[64]

कुल मिलाकर जो तस्वीर उभरती है वह यह है कि कांग्रेस मंत्रिमंडल का झुकाव जमींदारी समर्थक दिखता है।[65] अप्रैल 1938 में वायसराय ने रिपोर्ट भेजी : ''मंत्रिमंडल दृढ़ता के साथ इस खतरे से निपटने के श्रेय का हकदार है।

किसान संगठनों के प्रति कांग्रेस पार्टी की नीति दृढ़ और यहां तक कि दमनकारी रही है।''[66]

इसी महीने गांधी ने ''हरिजन'' में लिखा है – ''अलग किसान संगठनों का मेरा अध्ययन मुझे इस नतीजे पर पहुँचाता है कि वे किसानों के हितों के लिए काम नहीं कर रहे हैं बल्कि उनका संगठन कांग्रेस संगठन पर कब्जा जमाने की दृष्टि से हुआ है। सही तरीका अपनाकर किसानों का नेतृत्व करते हुए वे यह कर सकतें है किन्तु मुझे भय है कि वे उन्हें बहका रहे हैं। यदि किसान और उनके नेता सिर्फ कांग्रेस के काम को प्राधिकृत करके कांग्रेस पर कब्जा करें तो कोई नुकसान नहीं है। किन्तु वे झूठे रजिस्टर बनकार, तूफानी सभाएं करके या ऐसे ही कामों से कब्जा करेंगे तो यह कुछ फासीवाद की तरह होगा।''[67] हमेशा की तरह किसान, उसका संगठन और उसका नेतृत्व ही उनकी नजरों में दोषी थे, न कि जमींदार या दक्षिणपंथी नेता जिनकी सूचनाओं पर किसान संगठनों के बारे में गांधी जी का अध्ययन आधारित था।

किसान सभा पर हमला जी०डी० बिरला जैसे पूंजीपतियों की ओर से भी प्रोत्साहित किया गया। बिरला कांग्रेस नेताओं, कांग्रेस मंत्रियों और ब्रिटिश सरकार के बीच की निर्णायक कड़ी थे। पूंजीवाद की ओर भारतीय संक्रमण की विशिष्टता यह थी कि पूंजीपतियों ने सामंतवाद का समर्थन किया। सामंतवाद ने किसान आंदोलनों को कुचलने के लिए कुछ उठा नहीं रखा। बिरला की स्वयं की बिहार में आठ लाख की जमींदारी थी।[68] वे ''ये पसंद नहीं करते थे कि बिहार में किसान मार्च करता हुआ विधायक भवन तक जाए।'' उन्होंने महादेव देसाई को लिखा[69] – मुझे डर है कि यदि सख्त कदम नहीं उठाए तो इस बीच अनुशासनहीनता और बढ़ जाएगी। मैं सिर्फ यही आशा करता हूँ कि कांग्रेस अधिकारी, स्थिति के प्रति जागरूक हैं और वे सभी आवश्यक कदम उठाएंगे।''

किसान अशांति के संदर्भ में बिरला प्राय: मंत्रियों द्वारा दिए गए आश्वासनों को वायसराय तक पहुँचाने वाले संदेश वाहक का काम करते थे। गोविंद बल्लभ पंत ने बिरला को बहुत ही आश्वस्त करने वाला पत्र भेजा था जिसमें कहा था कि कानपुर की किसान अशान्ति (जहां मजदूर अपने अधिकारों के लिए लड़ रहे थे) के बारे में चिन्ता करने की जरूरत नहीं और मामले पर गहरी नजर है''[70] और बिरला के अनुसार : यह आश्वस्तकारी समाचार वायसराय को दिया जो इससे बहुत प्रसन्न हुए।'' दूसरी अच्छी खबर वायसराय के लिए यह थी कि ''गांधी सेवा संघ के सभी बड़े नेता देहातों में हिंसा से कड़ाई से लड़ रहे थे।''[71]

डंडा पंथ, झंडे के मामले का और किसान मोर्चों से संबंधित विभिन्न विवादों पर आगे विचार किया गया है।[72] किसान नेताओं की गिरफ्तारी और उन पर मुकदमा कांग्रेस मंत्रिमंडलों के दौर में भी अक्षुण्ण जारी थे (यहां राहुल सांस्कृत्यायन, जदुनंदन शर्मा इत्यादि की गिरफ्तारी का उल्लेख किया जा सकता है) यद्यपि कांग्रेस राजनीतिक बंदियों को छोड़े जाने के पक्ष में थी। किन्तु संयुक्त प्रांत के मंत्रिमंडल ने गर्वनर को आश्वस्त किया कि वह चौरी-चौरा के नजरबंदों को रिहा करने पर जोर नहीं देगा क्योंकि वे राजनीतिक बंदियों की श्रेणी में नहीं आते।[73] बिहार में, हजारीबाग जेल में जो राजनीतिक कैदी नजरबंद थे और अपनी रिहाई के लिए भूख हड़ताल कर रहे थे उनसे एक मंत्री ने कहा कि किसानों को कृषि राहत देना, नजरबंदों को रिहा करने से ज्यादा महत्वपूर्ण प्रश्न है, जबकि किसानों से कहा गया कि राजनीतिक नजरबंदों की रिहाई ज्यादा जरूरी है।[74] आखिरकार जब राजनीतिक बंदी रिहा हुए, तो गांधी और दक्षिणपंथी दोनों ने उनके सार्वजनिक स्वागत का विरोध किया। गांधी ने विलाप करते हुए कहा[75]– ''यदि कांग्रेस पद्धति का मेरा अध्ययन सही है तो काकोरी कांड के बंदियों की रिहाई पर सार्वजनिक प्रदर्शन एक राजनीतिक गलती है। दक्षिणपंथियों की आशंका विपरीत, नेहरू ने भी संयुक्त प्रांत में इस प्रदर्शन की निंदा में भागीदारी की।[76] नेहरू कितने वामपंथी थे और कितना किसानों का उन्होंने समर्थन किया इसका उत्तर उनके सार्वजनिक उद्गारों से ही नहीं वरन् राजनीतिक कार्यो से भी किया जाना चाहिए।

बिरला कांग्रेस नेताओं, कांग्रेस मंत्रियों और ब्रिटिश सरकार के बीच की निर्णायक कड़ी थे।

प्रत्येक अवसर पर, चाहे वह आंध्र में किसान प्रतिज्ञा का मामला हो या डंडा पथ का, या प्रत्याशियों के चयन का, या किसान प्रर्दशन का, या किसान सभा पर प्रतिबंध का प्रत्येक मामले में उन्होंने न सिर्फ दक्षिणपंथियों का साथ दिया, वरन् किसान सभा के विरूद्ध अपनी ताकत लगाई।[77] काश्तकारी विधेयकों से असल में उन्होंने अपने को अलग रखा और दक्षिणपंथ को खुला छोड़ दिया कि वे जो चाहते हैं करें, किसान प्रर्दशनों की निंदा की, और जैसा कि पहले हम देख चुके हैं, कालिका प्रसाद जैसे नेताओं के निष्कासन में वे सीधे साधन बने। हरिपुरा अधिवेशन में उन्होंने महामंत्री की रिपोर्ट में किसान-समर्थक गतिविधियां न करने की सलाह दी और इस बारे में वायसराय को आश्वस्त किया।[78] तथापि, सार्वजनिक रूप में उन्होंने वाम समर्थक मुद्रा बनाए रखी।

1930 के दशक में, किसान सभा ने लगातार कांग्रेस का समर्थन किया। किसी भी स्तर उसने अपने को कांग्रेस के विकल्प के तौर पर प्रस्तुत नहीं किया और न ही उसके विरूद्ध काम किया। जमींदार विरोधी विचारधारा के बावजूद

किसान सभा ने जमींदारों के साथ तब ही समझौता किया जब चुनावों में कांग्रेस के प्रत्याशी बनकर शामिल किए जा चुके थे। यह इसलिए किया कि चुनावों में कांग्रेस को सर्वोपरी संगठन माना गया जिसका अनुकरण करने के लिए किसान सभा बाध्य थी।[79] सत्ता संभालने का विरोध करने के बावजूद, किसान सभा ने कांग्रेस के निर्णय का समर्थन किया। यह आशा की गयी थी कि मंत्रिमंडल किसानों को राहत प्रदान करेगी लेकिन जब दक्षिणपंथ ने किसान सभा की उपेक्षा करते हुए जमींदारों से हाथ मिला लिया तो किसानों के प्रति कांग्रेस की शपथों और वादों की याद दिलाने के लिए किसान नेताओं ने कांग्रेस का विरोध किए बिना किसानों को संगठित किया। जैसा कि सहजानंद ने कहा है – ''यह समझ में नहीं आता कि मंत्री किसान प्रर्दशनों और सभाओं से इतना डरते क्यों हैं। यदि हम उन्हें अब नहीं कहेंगे तो फिर कब कहेंगे ... यह कहना गलत है कि इनका उद्देश्य मंत्रिमंडल के प्रति अविश्वास की अभिव्यक्ति है।[80] उन्हें दक्षिणपंथी महान् ''अनिष्टकारक'' मानते थे जबकि उन्होंने हमेशा जोर देकर कहा कि मैं कांग्रेस के मूलभूत सिद्धांतों में विश्वास करता हूँ। ... मैं उन्हें सिर्फ इसलिए स्वीकार नहीं करता क्योंकि वे कांग्रेस के सिद्धान्त हैं वरन् देश की आजादी और किसानों के उत्पीड़न और शोषण से विमुक्ति की विशिष्ट परिस्थितियों में कोई अन्य रास्ता नहीं है।''[81]

सहजानंद ने दक्षिणपंथ को पूर्ण रूप से आश्वस्त करने की कोशिश की, कि उनके पास जो भी शक्ति है वह कांग्रेस में श्रद्धा और विश्वास है।'' उन्होंने कहा कि किसान सभा वालों को भी ''कांग्रेस, देश और मानव जाति'' की सेवा करने का हक है।[82] उस समय जबकि विजयलक्ष्मी पंडित कांग्रेस में तानाशाही की वकालत कर रही थी[83] और दक्षिणपंथ सरकार से प्रार्थना कर रहा था कि वह उनके और वामपंथियों के बीच फर्क करे।[84] सहजानंद ने स्पष्ट किया था कि ''हम सभी कांग्रेस पर श्रद्धा जादू या रहस्य के कारण को किसान सभा के साथ-साथ कांग्रेस के पीछे भी लामबंद किया जाए। कांग्रेस को भीतर से मजबूत किया जाए – कांग्रेस का विकल्प प्रस्तुत न किया जाए किंतु साथ ही, कांग्रेस में शामिल निहित स्वार्थों का पर्दाफाश किया जाए – यदि कांग्रेस नेतृत्व किसानों के बारे में घोषित नीति से पीछे हटता है तो उसकी रचनात्मक आलोचना की जाए। किसी भी स्तर पर किसान नेतृत्व ने किसानों से कांग्रेस छोड़ने या उसका समर्थन वापस लेने के लिए नहीं कहा। दक्षिणपंथी राष्ट्रवादियों द्वारा विपरीत और प्रचारित राष्ट्रवाद के परिप्रेक्ष्य से यह बिल्कुल भिन्न परिप्रेक्ष्य था।

दक्षिणपंथी राष्ट्रवाद ब्रिटेन से स्वतंत्रता प्राप्ति और भारतीय समाज में प्रभुत्वशाली सामाजिक समूहों के प्रभुत्व को बनाए रखने का सम्मिश्रण हैं। किसान सभा पर हमला वर्ग दृष्टिकोण से प्रेरित था। यह प्रचार की किसान सभाएं कांग्रेस का विरोध करती है, निहित स्वार्थो का बचाव और वाम के बढ़ते प्रभाव को नियंत्रित करने का सुविधाजनक आवरण था। वाम और दक्षिण के बीच विभाजन हिंसा और अहिंसा के प्रश्न पर नहीं था।[85] बल्कि वर्तमान और भविष्य के भारतीय समाज के संबंध में स्पष्ट वैचारिक स्थितियों को लेकर था।

किसानों के दृष्टिकोण का कुछ स्पष्टीकरण जरूरी है। किसानों की दृष्टि में गांधी और कांग्रेस उत्पीड़ितों के बहुत बड़े हितचिंतक थे। कांग्रेस की सार्वजनिक छवि और किसान समर्थक प्रचार ने इस परिप्रेक्ष्य को और मजबूत किया। किसान कांग्रेस के राष्ट्रवाद के संदेश को अपनी आर्थिक और सामाजिक शिकायतों से जोड़कर देखते थे। कांग्रेस ने किसानों को आगामी तारीख का एक चेक दे रखा था, जिस पर लिखा था : ''जब स्वराज्य आएगा आपकी सारी शिकायतें दूर हो जाएँगी।'' चूंकि चेक जारी करने वाला अधिकारी बहुत प्रतिष्ठित था इसलिए किसानों को विश्वास था कि भविष्य में चेक का अवश्य भुगतान होगा। इसके अलावा किसानों के पास कांग्रेस का समर्थन करने के अतिरिक्त

दक्षिणपंथी राष्ट्रवाद ब्रिटेन से स्वतंत्रता प्राप्ति और भारतीय समाज में प्रभुत्वशाली सामाजिक समूहों के प्रभुत्व को बनाए रखने का सम्मिश्रण हैं।

और कोई विकल्प नहीं था। वे उदारवादियों का समर्थन नहीं कर सकते थे जिनकी अंग्रेज समर्थक छवि थी, न ही वे राष्ट्रीय कृषक पार्टी जैसी राजनैतिक पार्टियों का, जो कि जमींदारों के राजनीतिक संगठन थे, समर्थन कर सकते थे। किसानों का उच्च वर्ग बंगाल में प्रजा कृषक पार्टी और पंजाब में यूनियनिस्ट पार्टी का समर्थन करता था। किंतु इसके लिए बहुत हद तक प्रांतीय कांग्रेस की जमींदार समर्थक छवि जिम्मेदार थी। इस अवधि के दौरान, कम्युनिस्ट पार्टी संगठित रूप से काम करने की स्थिति में प्राय: नहीं थी। अपने विकास काल में होने के कारण कम्युनिस्ट पार्टी की कई मुश्किलें और सीमाएं थी। 1940 के दशक में हीं कम्युनिस्ट संगठित हुए और तेभागा तथा तेलंगाना के वीरोचित संघर्षो का नेतृत्व किया।

सन्दर्भ :-

1. बांबे क्रानिकिल (26 जून 1937)
2. वही, जिन किसानों ने कांग्रेस का समर्थन किया, चुनावों के बाद उन्हें जमींदारों के दमन का और अधिक सामना करना पड़ा। बांबे क्रनिकिल (1937), संघर्ष (19 सितम्बर 1937)
3. लिनलिथिगो को हेग का पत्र, (29 अक्टूॅबर 1936) (एल॰पी॰) सं॰ 112
4. बांबे क्रानिकिल (13 फरवरी 1937)
5. जेम्स सिफटन का पत्र लिनलिथगो को (9 फरवरी 1937 (एल॰पी॰) सं॰ 112

6. वही
7. इंडियन एनुअल रजिस्टर, 1936, वास्तव में इस अवधि में किसानों के वोट के महत्व काफी बढ़ गया था, यहां तक कि हिन्दू महासभा और मुस्लिम लींग जैसे सांप्रदायिक संगठनों ने भी यह घोषणा करके कि वह किसानों के लिए काम करने को तैयार हैं, उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करने की कोशिश की। वही
8. क्वार्टर्ली सर्वे पॉलिटिकल एण्ड कांस्टिट्यूशनल पोजिशन इन इंडिया सत्र / (एल॰पी॰) सं॰ 142
9. अमृत बाजार पत्रिका (2 जनवरी 1938). हिन्दुस्तान टाइम्स (1 जून 1938), पाक्षिक रपट के अनुसार कांग्रेसी आमतौर पर काश्तकारों का लगान देने के लिए राजी करने में सहायक थे। होम पॉलिटिकल सं॰ 18/1/1938, एन॰ए॰आई॰
10. लिनलिथगो को हेलेट का पत्र (10 मई 1937), (एल॰पी॰) सं॰ 143
11. देखिए, कपिल कुमार, पीर्जेंट्स इन रिवोल्ट, पृ॰ 230
12. ए॰आई॰सी॰सी॰ पेपर्स पी–9 (1937)
13. वही
14. प्रसाद का पटेल को पत्र (2 अक्टूबर 1937), राजेन्द्र प्रसाद, पत्राचार एवं संकलित रचनाएं खण्ड– 1, (दिल्ली 1984) पृ॰ 103
15. श्री कृष्ण सिन्हा को प्रसाद का पत्र (2 दिसम्बर 1937) वही पृ॰ 131
16. वही
17. प्रसाद का पटेल को पत्र (दिसम्बर 1937), वही, पृ॰ 141
18. पटेल से प्रसाद (28 नवम्बर 1937), आर॰पी॰पी॰ रोल–5
19. हेलेट को लिनलिथगो, (26 दिसम्बर 1987), एल॰पी॰ नं॰ 110
20. लिनलिथगो का हेलेट (11 नवम्बर 1937) वही नं॰ 113
21. लिनलिथगो का हेलेट, (5 दिसम्बर 1937), वही
22. प्रसाद को पटेल (16 दिसम्बर 1937), आर॰पी॰पी॰ रोल–5
23. कांग्रेस सोशलिस्ट (11 दिसम्बर 1937) विस्तार के लिए देखिए कपिल कुमार, कांग्रेस पीजेन्ट रिलेशनशीप, पृ॰ 242
24. प्रसाद को सी॰पी॰ सिंह (1 जून 1938) आर॰पी॰फा॰न॰ 111/1937 एन॰ए॰आई॰ए॰
25. दि हिन्दुस्तान टाईम्स (5 जून 1938)
26. श्री कृष्ण सिन्हा को प्रसाद (22 दिसम्बर 1937)
27. वही
28. सर्चलाइट (5 जनवरी 1938)
29. बिरला को महादेव देसाई (22 दिसम्बर 1937) जी॰डी॰ बिरला में पूर्वोक्त पृ॰ 127
30. लिनलिथगो को हेलेन का पत्र (7 जून 1938) एल॰पी॰ नं॰ 44
31. सहजानन्द और बिहार प्रदेश कांग्रेस समिति के बीच मतभेद के लिए देखिए कपिल कुमार, ''कांग्रेस पीजेंट रिलेशनशिप'' पृ॰ 242–43
32. हरिजन (22 जनवरी 1938)
33. जनता (5 जून 1938)
34. ए॰आई॰सी॰ पेपर्स, पी–6/1939–40
35. वही
36. लिनलिथगो को हेलेट (7 जून 1938) एल॰पी॰ सं॰ 44
37. ए॰आई॰सी॰सी॰ पेपर्स पी– 6/1939–40, पी–3 (11)/1938–39
38. वही, पी– 6/1939–40
39. वही, पी– 20 (पी–11) 1938–39
40. वही, 17/1939
41. बी॰आर॰पी॰एस॰एफ॰ नं॰ 3
42. वही
43. वही
44. वही, एस॰एफ॰ सं॰–3
45. ए॰आई॰सी॰सी॰ पेपर्स पी–3 (पी–11) 1938–39
46. वही, पी॰ 20 (पी–11)/1938–39
47. वही, पी॰एल॰ –13/1937
48. वही, पी॰– 20 (पी–11) 1938–39
49. जगन्नाथ दास को राजगोपालाचारी का पत्र (20 मई 1937) सी॰ राजगोपालाचारी पेपर्स (सी॰आर॰पी॰) रोल–1, एन॰एम॰एम॰एल॰
50. पट्टामि को राजगोपालाचारी का पत्र, (7 जून 1937, वही
51. डेविड अर्नाल्ड दि कांग्रेस इन तमिलनाडू: नेशनलिस्ट पॉलिटिक्स इन साउठा इंडिया 1919–1937 (नई दिल्ली 1977), पृ॰ 167–68)
52. एल॰पी॰ रोल– 65
53. वही
54. वही
55. वही
56. वही
57. कांग्रेस सोशलिस्ट (11 दिसम्बर 1937)
58. वायसराय को बंबई के गर्वनर का पत्र (25 जून 1938) एल॰पी॰ संख्या– 51
59. टाईम्स ऑफ इंडिया (26 जून 1938)
60. प्रसाद को उड़ीसा के प्रधानमंत्री का पत्र (7 दिसम्बर 1937), सं॰पृ॰ पे॰ रोल॰ ने॰ मेग्यूला
61. अमृत बाजार पत्रिका (14 जून 1938)
62. एम॰सी॰बोस को एन॰जी रंगा का पत्र (11 जून 1937) इंदुलाल याज्ञिक पेपर्स सब्जेक्ट फाईल्स– 14
63. काश्तकारी बिल पर सभी प्रांतीय गर्वनरों ने यह राय वायसराय को व्यक्त की।
64. एल॰पी॰ सं॰ – 142
65. हरिजन (23 अप्रैल 1938)
66. यह विचार गाँधी महादेव देसाई, जी॰बी॰ पंत, राजगोपालाचारी, बिरला इत्यादि के बीच पत्र व्यवहार के निरीक्षण पर आधारित है।
67. जी॰डी॰ बिरला॰ पूर्वोक्त॰ पृ॰ 308
68. वही, पृ॰ 76
69. वही, पृ॰ 108
70. वही, पृ॰ 105
71. देखिए, कपिल कुमार, कांग्रेज पीजेन्ट रिलेशनशिप
72. लिनलिथगो को हेग का पत्र, (जून 1938)
73. प्रसाद को कृष्ण बल्लभ सहाय का पत्र, (13 अक्टूवर 1937), आर॰पी॰पी॰ रोल– 8, एन॰एम॰एम॰एल॰
74. जी॰डी॰ बिरला पूर्वोक्त, पृ॰ 87
75. वही, पृ॰ 91–95
76. देखिए कपिल कुमार, ''कांग्रेस पीजेंट रिलेशनशिप' पृ॰ 238,248
77. अमृत बाजार पत्रिका (17 जून 1938) यह भी देखिए कपिल कुमार ''आइडियोलोजी कांग्रेस एण्ड पीजेंट्स इन 1930 : क्लास एडजस्टमेंट और सबमिशन'' सोशल साइंटिस्ट (अगस्त–सितम्बर 1986)
78. लिनलिथगो को नेहरू का पत्र (6 अक्टूबर 1939) जवाहरलाल नेहरू, पेपर्स पत्राचार खण्ड– 42, एस॰एन॰ 2704, एन॰एम॰एम॰एल॰
79. सहजानन्द पूर्वोक्त, पृ॰ 481
80. संघर्ष (10 जून 1938)
81. कांग्रेस सोशलिस्ट (12 मार्च 1938)
82. वही
83. लिनलिथगो को हेग का पत्र (10 अप्रैल 1939) एच॰पी॰ रोल – 1
84. वायसराय के साथ विभिन्न प्रांतीय गर्वनरों के गुप्त एवं गोपनीय पत्र व्यवहार में (1930–40) के दौरान दक्षिण–पंथियों के इस व्यवहार का उल्लेख किया गया है। (1939–40) एन॰पी॰

संपर्क: व्याख्याता
शुकदेव मुख्यालय कॉलेज, हाजीपुर

❑❑❑

साहित्य के सामाजिक प्रयोजन का प्रश्न और लघुपत्रिका आंदोलन

डॉ॰ कुमारी आशा

एक बड़ी आबादी को श्रम की संस्कृति के विरुद्ध उकसाया जा रहा है। श्रम की संस्कृति की जगह 'पाप कल्चर' जैसी अन्तर्विरोधी संस्कृति को महिमा मंडित किया जा रहा है, इस षड्यंत्र में सर्वाधिक सक्रियता 'इलेक्ट्रानिक मीडिया' ने दिखाई है, लेकिन अफसोस प्रिंट मीडिया भी बहती गंगा में हाथ धोने से पीछे नहीं रहा।

साहित्य के सामाजिक प्रयोजनों, सरोकारों एवं साहित्य की सामाजिकता के अभियानों की चर्चा खूब होती रही है। आरा से निकलने वाली 'मित्र' ने तो साहित्य की सामाजिकता का रचनात्मक 'अभियान' अपना नारा ही घोषित कर दिया। आम आदमी के जीवन से किताबों को और प्रकारान्तर से साहित्य को अनुपस्थित किया जा रहा है। एक बड़ी आबादी को श्रम की संस्कृति के विरुद्ध उकसाया जा रहा है। श्रम की संस्कृति की जगह 'पाप कल्चर' जैसी अन्तर्विरोधी संस्कृति को महिमा मंडित किया जा रहा है, इस षड्यंत्र में सर्वाधिक सक्रियता 'इलेक्ट्रानिक मीडिया' ने दिखाई है, लेकिन अफसोस प्रिंट मीडिया भी बहती गंगा में हाथ धोने से पीछे नहीं रहा। दूरदर्शन ने समाज के स्थस्नय के लिए क्या किया? व्यक्तिवादिता, मक्कारी, धूर्तता, स्वार्थपरता, चाटुकारिता, मुनाफाखोरी, एय्याशी एवं आरामतलवी को 'इंजेक्ट' करने का काम किया है, लोगों की चेतना में फकत एक रोटी की खातिर न जाने कितने लोग हाड़तोड़ मेहनत करते हैं। दिन भर यह दूरदर्शनी संस्कृति उन्हें रातों को 'इलीट कल्चर' के बोध में ढेल देती है। यह 'पाप कल्चर' है जो भ्रमों की विराट् दुनिया रचती है। आम आदमी कटु-कठोर यथार्थ से पलायन की सुविधा पा जाता है। यह सिर्फ दु:खों से ध्यान हटाने की तरकीब है, दु:खों के विरोध की, उनसे संघर्ष की कोई तकनीक नहीं ऊर्जा भी नहीं। एडीर्नो ने लिखा है कि पाप कल्चर- कठमुल्ला, समाज से कटा हुआ और उन्मादी मनुष्य निर्मित करता है। जो हताश होता है और पलायनवादी भी। जाहिर है ऐसी संस्कृति, साहित्य को हाशिए पर डालने की साजिशें तो रचेगी ही। मिथिलेश्वर ठीक ही चिन्तित हैं कि अपने घर-परिवार में, समाज के विभिन्न हिस्से एवं आयोजनों में साहित्य की उपेक्षा और अनुपयुक्तता का एहसास हम करने लगे हैं, या हमें कराया जाने लगा है''[1]। उन्होंने उस विभीषिका की तरफ भी ध्यान दिलाया है जब हम अपने-अपने द्वीपों में अपनी स्वेच्छा से कैद कर दिए जाएँगे,'' तब सम्भवत: अपने माध्यम के साथ अपने समाज परिवार एवं घर में निपट अकेले होते जाना हमारी नियति हो जायेगी। यह हमारे समाज का और एक व्यापक असर वाले माध्यम के निरर्थक हो जाने का सच है, जिससे इनकार नहीं किया जा सकता''[2] लब्ध प्रतिष्ठ आलोचक विश्वनाथ त्रिपाठी कहते हैं कि ''किताबों की बदौलत आप एकान्त में देशकाल की यात्रा करते हैं। अच्छी किताबों का पाठक होना, सभ्य और सुसंस्कृत मनुष्य की बहुत बड़ी पहचान है''[3] श्री त्रिपाठी का किताबों से मतलब साहित्य से है। और इसमें कोई विवाद नहीं कि लघु पत्रिकाओं के बिना साहित्य को बचा पाना ही मुश्किल है। परमानन्द श्रीवास्तव तो कहते हैं कि दरअसल लघु पत्रिकाओं के बिना साहित्य का इतिहास ही नहीं लिखा जा सकता[4]। ऐसे में लघु पत्रिकाओं की भूमिका और बढ़ जाती है। एक समाज जिसका 'लुम्पेनाइजेशन' किया जा रहा है, जिसमें क्रमश: प्रतिरोधी स्वरों को (जिसमें साहित्य भी शामिल है) हाशिए पर डाला जा रहा है; लघु पत्रिकाओं की जिम्मेदारी कुछ अधिक ही प्रतीत होने लगती है। शंभुनाथ कहते भी हैं कि, ''यह बौद्धिक प्रतिवाद का बचा हुआ मंच है''[5] लघु पत्रिकाएँ ही हैं जो उपभोक्तावाद और बाजारवाद के हमलों के बीच मानवीयता को बचा सकती है। क्योंकि 'ये उनकी निर्मितियाँ हैं जिनके दिल जुझारू विचारों एवं कलाओं से भरे होते हैं''।

वस्तुत: लघु पत्रिकाओं के सामने सबसे बड़ी चुनौती है और रही है कि समाज में जरूरी परिवर्तन किए जाएँ। परिवर्तन कामी शक्तियों को बल प्रदान करे। आजादी के ठीक बाद जब व्यावसायिक घरानों ने साहित्य को अपने घर की चेरी बनाने की कोशिशें की, साहित्य को बेच कर मुनाफा कमाने का प्रयास किया, उस समय बड़ी संख्या में लघु पत्रिकाओं ने प्रतिरोध का वातावरण बनाया एवं उस प्रतिरोध को आन्दोलन का रूप दिया। आज फिर त्रासद स्थिति है। व्यावसायिक घरानों ने अपनी उन तमाम पत्रिकाओं को बंद कर दिया जिनमें वे कभी साहित्य की छौंक मारा करते थे। कागजों के दाम बढ़े इमरजेंसी लगी, छपाई मंहगी हुई। पढ़ने की संस्कृति पर हमले किए गए लेकिन लघु पत्रिकाएँ अभी भी जीवित है। एक अनुमान के मुताबिक आज करीब चार सौ के आस-पास हिन्दी में लघु पत्रिकाएँ निकल रही है, तब रमेश उपाध्याय का कथन बड़ा अजीब लगता है कि ''लघु पत्रिकाओं के दिन पूरे हो गए[6]।''

शंभुगुप्त लघु पत्रिकाओं को 'इंजिन' कहते हैं जिनके बिना साहित्य की गाड़ी का चलना मुश्किल है[7] लेकिन उस समाज की भी कल्पना कम मुश्किल नहीं प्रतीत होती जहाँ साहित्य की कोई संस्कृति ही न हो। लघु पत्रिकाओं के माध्यम से साहित्य ने ये साबित किया है कि समाज के स्पन्दनों पर अभी भी उसकी पकड़ है। इन्हीं लघु पत्रिकाओं के माध्यम से साहित्य समाज में संवेदनाएँ रोपता है, मानवीयता को हरा-भरा रखता है। ऊँचे मानवीय मूल्यों की स्थापना करता है।

आम तौर पर लघु पत्रिकाएँ मानवीय स्वतंत्रता की ही संवाहक होती हैं इसके बावजूद कि बाजारवाद ने साहित्य को भी काफी क्षति पहुँचाई है। अपसंस्कृति के तात्कालिक हमलों से क्षणिक तौर पर यह प्रतीत हो सकता है कि साहित्य की जगह सिकुड़ती जा रही है लेकिन साहित्य की प्रकृति भी 'अग्निपक्षी' की तरह है, जो बार-बार मर कर बार-बार जीवित हो उठती है।

परमानन्द श्रीवास्तव ने लघु पत्रिकाओं के जरूरी आदर्शों को गिनाते हुए यह बताया है कि, ''अपने कठिन समय को परिभाषित करना, उन ज्वलंत सवालों के परिप्रेक्ष्य में, जो आज के समाज को तीखे ढ़ंग से प्रभावित कर रहे हैं''[8] यानी सामाजिक सरोकारों को एक बार फिर उन्होंने साहित्य एवं साहित्यिक प्रत्रिकाओं के मूल स्वर के रूप में रेखांकित किया है।

शंभुनाथ कहते हैं कि, ''साहित्य लेखन एक मुश्किल काम है, पर इससे ज्यादा मुश्किल है एक साहित्यिक संस्कृति बनाना''[9] बेशक और तब तो और जब तमाम तरह की सत्ताएँ साहित्य की दुनिया को अनुकूलित करने में लगी है। बाजार की सत्ता हो, अर्थ की सत्ता हो, राजनीतिक सत्ता हो या समाज की अन्य वर्चस्वशाली शक्तियाँ हो। लेकिन परमानन्द श्रीवास्तव ठीक ऐसे ही समय में उस विचार को चिन्हित करते हैं जो इन लघु पत्रिकाओं के पीछे सबसे बड़ा सम्बल बन खड़ा होता है, ''लघु पत्रिकाओं में स्वीकृत नवीनता को अक्सर एक विचारधारा का बल प्राप्त होता है, जो प्रभुता सम्पन्न वर्ग को चुनौती देने वाली हों, जो सामाजिक परिवर्तन की वाँच्छित कल्पना की पक्षधर हो, जो जनता के संघर्ष से जुड़ी हो''[10]।

सामाजिक परिवर्तन की इच्छा एवं जनता के संघर्षो से तीव्र जुड़ाव ही लघु पत्रिका आन्दोलन के मूल में रहा। समाज की उन्हीं स्थितियों से उपजे तनाव एवं उसकी अभिव्यक्ति ने लघु-पत्रिका आन्दोलन में सूत्रधार की भूमिका निभाई।

नक्सलवादी आन्दोलन को भी लघु-पत्रिकाओं ने वैचारिक समर्थन दिया। इमर्जेन्सी के दिनों में तमाम तरह के प्रतिबन्धों को झेलते हुए भी जीने का माद्दा इन्हीं लघु पत्रिकाओं ने दिखाया।

'नये पत्ते (1953) 'नयी कविता (1954) निष्कर्ष (1955) इत्यादि पत्रिकाओं के प्रकाशन ने हिन्दी साहित्य में कई नई बहसों को जन्म दिया। समवेत (1956) सागर आकलन (1956) कथा कहानी (बिल्ली) ने न सिर्फ अपने समय के नवलेखन को ही रेखांकित किया अपितु कई नव विमर्शों को भी आमंत्रित किया। विचार को लेकर भी तीखी बहसें जारी रही। प्रगतिशीलों एवं परिमलियों के बीच की वैचारिक बहसों ने परस्पर एक-दूसरे खेमें को रचनात्मक ऊर्जा से तो लैस किया ही, उनमें सांगठनिक एवं प्रकाशन से संबंधित सक्रियता भी भरी। 'कथा कहानी' - ने इसी समय 'राज्याश्रय बनाम सेठाश्रय की बहस को बड़ी गम्भीरता से चलाया था। नई कहानी और कविता के आन्दोलन इसी दौर की परिणतियाँ हैं।

नक्सलवादी आन्दोलन को भी लघु-पत्रिकाओं ने वैचारिक समर्थन दिया। इमर्जेन्सी के दिनों में तमाम तरह के प्रतिबन्धों को झेलते हुए भी जीने का माद्दा इन्हीं लघु पत्रिकाओं ने दिखाया। न जाने ऐसी कितनी बहसें, लघु पत्रिकाओं के द्वारा संचालित की गई एवं प्रचारित-प्रसारित की गई जो कहीं भी-कभी भी किसी व्यावसायिक पत्रिका की सीमा और क्षमता से बाहर ही पड़ती। लघु पत्रिकाएँ इन्हीं अर्थों में और सार्थक हो उठती हैं कि वे एक सतत संवाद भी होती है। जनता और समकालीन वैचारिकी के बीच एक सेतु। 1950 में प्रकाशित 'नई चेतना' सही अर्थों में सृजनात्मक लेखन के प्रति प्रतिबद्ध पत्रिका के रूप में सामने आती है।

'नया साहित्य' ने एक नई गति प्रदान की साहित्यिक लेखन से लेकर साहित्य के वातावरण तक। इसके सम्पादक प्रकाश चन्द्र गुप्त थे। मई 1951 का अंक काफी विवादास्पद रहा। जैनेन्द्र विषयक यशपाल के आलेख से और उसके बाद राम विलाश शर्मा को लेकर की गई सम्पादकीय टिप्पणियों से।

साहित्यिक पत्रकारिता के क्षेत्र में 'प्रतीक' की अपनी विशिष्ट पहचान है। मुख्य रूप से सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्साययन के सम्पादन में प्रयाग से प्रकाशित प्रतीक ने बाद में कई श्रेष्ठ अंक दिए।

विश्व साहित्य के प्रति जागरूकता के परिणामस्वरूप हरीश रायजादा के सम्पादन में ''विश्वसाहित्य'' नामक पत्रिका ने प्रमुख भाषाओं की कुछ प्रतिनिधि रचनाओं को पहले ही अंक में प्रकाशित कर साहित्य की हलचलों को कुछ और बढ़ाया।

1956 में इलाहाबाद से 'सृजन' बद्रीनाथ तिवारी के सम्पादन में, प्रकाशित हुआ जबकि 1953 से ही इलाहाबाद परिमल की ओर से रामस्वरूप चतुर्वेदी के सम्पादन में 'नए पत्ते' निकल ही रहा था। प्रगतिशील खेमे की ओर से भी दुष्यन्त कुमार के सम्पादन में ''विहान'' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ।

मध्य प्रदेश भी साहित्य सर्जना के लिहाज से काफी उर्वर रहा है। और साहित्यक सांस्कृतिक गतिविधियों के लिहाज से तो हर वक्त दो कदम आगे ही। इसी सक्रियता की निष्पत्ति लघु पत्रिकाओं के प्रकाशन के रूप में होती है। 1955 में श्रीकांत वर्मा ने रायपुर से 'नयी दिशा' त्रैमासिक का प्रकाशन प्रारम्भ किया। हालाँकि पीछे मूल प्रेरणा मुक्तिबोध की ही थी परन्तु मध्य प्रदेश के लगभग सारे लेखकों ने इसे समृद्ध करने में अपना-अपना योगदान किया था।

लेकिन साठ के दशक की सर्वाधिक प्रभावपूर्ण पत्रिका 'वसुधा' थी। हरिशंकर परसाई के सम्पादन में इस पत्रिका ने प्रगतिशील वातावरण के निर्माण की जिस गौरवशाली परम्परा की नींव डाली थी, वह प्रो० कमला प्रसाद की प्रतिबद्ध वैचारिकी एवं कुशल सम्पादन में अद्याविधि अक्षुण्ण है।

वैसे साठ के दशक की अन्यानेक पत्रिकाएँ हैं जिन्होंने लघु पत्रिकाओं के आन्दोलनात्मक स्वरूप को समृद्ध किया था। जैसे - कलकत्ता से राम बहादुर सिंह 'मुक्त' के द्वारा 'क्षितिज', नलिन विलोचन शर्मा ने पटना से 1957 में कविता को केन्द्र में रखकर 'कविता', वाराणसी से एक अन्य कविता को केंद्रित पत्रिका 'कवि', तो दिल्ली से कहानी पर केन्द्रित 'कथा कहानी' एवं राजस्थान के अजमेर से 'लहर'। राजस्थान के ही लेकिन जयपुर से 1960 में कृष्णवल्लभ शर्मा के सम्पादन में 'निष्ठा' निकली।

इन्हीं छोटी-मोटी लेकिन गम्भीर कोशिशों का सुफल रहा कि लघु पत्रिकाएँ खुद तो संजीदा हुई ही; तत्कालीन साहित्यिक परिदृश्य में इन्हें संजीदगी से लिया भी जाने लगा। यह सही है कि कुछ अवसरवादी लोगों ने लघु पत्रिका आन्दोलन की शक्ति का निहित स्वार्थों के लिए दुरूपयोग भी किया। तमाम लेखकों ने उस दौर को 'भयंकर व्यक्तिवाद एवं अराजकता का दौर'[11] बताया है। यह भी कि 'इनका (लघु पत्रिकाओं का) उद्देश्य अत्यन्त संकुचित था। वे किसी बृहत्तर साहित्यिक या सामाजिक उद्देश्य से नहीं, बल्कि मान्यता और प्रतिष्ठा करने के लिए निकाली गई थी''[12]।

लेकिन यह दशक लघु पत्रिकाओं के आन्दोलन के सकारात्मक पक्षों के लिए ज्यादा जाना जाता है। सर्वप्रथम एक महत्वपूर्ण तथ्य लक्षित करने योग्य यह है कि लघु पत्रिकाएं ठीक इसी दशक में व्यावसायिक पत्रिकाओं से सीधे-सीधे मुठभेड़ को सन्यस्त हुई। अब इनकी उपेक्षा संभव नहीं रह गई थी। इनकी धार सभी महसूस करने लगे थे। इनके प्रभाव से वाकिफ भी होने लगे थे। और इनकी शक्ति के आगे समर्पण भी करने लगे थे। हालाँकि दिनमान साप्ताहिक के 18 मार्च 1966 के अंक में सर्वेश्वर दयाल सक्सेना ने लघु पत्रिकाएँ महात्वाकांक्षाएं शीर्षक आलेख में लघु पत्रिकाओं को खारिज कर देने की एक कोशिश तो की थी। परन्तु रमेश बक्षी जो प्रारम्भ से ही व्यावसायिक प्रतिष्ठानों-पत्रिकाओं से जुड़े रहे थे, अचानक साहित्यिक पत्रकारिता की ओर उन्मुख हुए एवं 'आवेश' नामक पत्रिका का प्रकाशन भी प्रारम्भ कर दिया।

यद्यपि कि इस दशक का सबसे बड़ा अवदान रहा 'लघु पत्रिका' प्रदर्शनी और लघु पत्रिकाओं पर गोष्ठी का आयोजन। कई मायनों में यह ऐतिहासिक रहा।

प्रथमत: यह कि लघु पत्रिकाओं से जुड़े हुए लोग कोई छोटी जमात के नहीं है। यह जान कर कि 128 पत्रिकाएँ निकल रही है, तत्कालीन लघु पत्रिका आन्दोलन एक नई गति से भर उठा। सुदूर अंचलों से गाँवों-कस्बों से लघु पत्रिका के प्रति प्रतिबद्ध लोगों का दिल्ली जैसी जगह में जुटना ही बड़ी बात थी।

इस संगोष्ठी एवं प्रदर्शनी ने यह भी किया कि लघु पत्रिकाओं की 'रेंज' की सही जानकारी हो गई। यह भाव भी विन्यस्त हुआ कि जनोन्मुखी-प्रतिबद्ध साहित्य लघु पत्रिकाओं में ही छप रहा है, और यह भी कि व्यावसायिक पत्रिकाओं का बहिष्कार लेखकों के चरित्र को और भाँजता ही है। लघु पत्रिका में छप रहे साहित्यकार इस हीनता ग्रन्थि से भी बाहर आए कि वे व्यावसायिक पत्रिकाओं में छप रहे और छाप रहे महान् साहित्यकारों की कृपा से ही साहित्य की दुनिया में है।

'आवेश' के माध्यम से रमेश बक्षी ने लघु पत्रिकाओं के क्षेत्र में भी प्रवेश किया, परन्तु बहुत दिनों तक टिक नहीं पाए। लेकिन इस अल्पावधि में ही रमेश बक्षी ने न सिर्फ लघु पत्रिकाओं के आन्दोलन में एक अनिवार्य ऊर्जा भरी अपितु उसके संघर्षों को एक व्यापक फलक भी सौंपा। कुछ प्रमुख पत्रिकाओं को निम्नवत चिन्हित किया जा सकता है-

नवलेखन (भोपाल), रागरंग (कलकत्ता), रूपाम्बरा (कलकत्ता), विशेष (कलकत्ता), वातायन (बीकानेर), युयुत्सा (कलकत्ता), लेखन (कलकत्ता), समीक्षा (पटना), भराल (वाराणसी), समानान्तर (चण्डीगढ़), शब्द (अलवर), कविता (दिल्ली), साहित्य दर्पण (दिल्ली), अक्षर (कलकत्ता), सामयिक (कलकत्ता), संविधा (छपरा), आरम्भ (लखनऊ), शताब्दी (जबलपुर), परिचय (जबलपुर), प्रज्ञा (कलकत्ता), अंकन

(चेन्नई), विनियोग (वाराणसी), कथा (इलाहाबाद), कथांतर (मिर्जापुर), इतरेतर (लखनऊ), मूल्यांकन (लखनऊ), हस्ताक्षर (रायपुर), आधुनिका (मुजफ्फरपुर), अ-रचना (रायपुर), फेनिल (मुरादाबाद), नवलेखन (भोपाल), दिशा (दिल्ली), क ... ख ... ग (इलाहाबाद), दर्पण (हाबड़ा), बिन्दु (उदयपुर), रेखांकन (भिलाईनगर), संबोधन (कांकरोली), कविताएँ (जयपुर) एवं सम्प्रति (गोरखपुर) इत्यादि।

अधिक क्रांतिकारी और कम क्रांतिकारी; सुविधाजीवी और संघर्षकामी, ये इस तरह के विभाजन रहे है कि इसने वामपंथ की प्रतिरोधी चेतना को तो क्षीण किया ही, लघु पत्रिका आन्दोलन को भी लक्ष्य भ्रष्ट किया। क्योंकि यह निर्विवाद तथ्य है कि लघु पत्रिका आन्दोलन को वामपंथी चेतना ने एक स्वरूप, एक व्यक्तित्व, एक विचार तो दिया ही है कुछ इस कदर कि दोनों को पर्याय भी समझा जाने लगा था। लेकिन 'एफ्रो-एशियाई लेखक सम्मेलन' में वामपंथ और लेखकीय प्रतिबद्धता को जैसे विवाद का मुद्दा बनाया गया उससे क्षति ही अधिक पहुँची। मुद्रा राक्षस, रमाकान्त और धमेन्द्र गुप्त जैसे 'अतिक्रान्तिकारी' लेखकों ने सज्जाद जहीर और मुल्कराज आनन्द को 'कुछ कम' क्रांतिकारी बताते हुए उन्हें 'सुविधाजीवी कम्युनिस्ट'' भी करार दिया एवं इस पूरे सम्मेलन का विरोध किया।[13]

इसके बाद इन तीनों लेखकों ने 'लेखन को इस बहुरूपिएपन'[14] से बचाने के लिए अप्रैल 1971 में 'निकेत' नामक एक नई पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया, धमेन्द्र गुप्त के निर्देशन में।

आठवें दशक में और भी कई पत्रिकाएँ निकली। जिनमें सर्वाधिक ख्याति अर्जित की, 'पहल' ने अपने प्रकाशन से लेकर आज तक, जबकि 88वाँ अंक सामने है, लघु पत्रिका का एकदम से अनाबिल आदर्श सामने रखा है। 'पहल' को छोड़ भी दें तब भी लघु पत्रिका आन्दोलन के लिहाज से सर्वाधिक महत्वपूर्ण दशक यही रहा। कुछ प्रमुख पत्रिकाओं की सूची श्री धर्मेन्द्र गुप्त ने बनाई है, ''निकेत के अतिरिक्त आठवें दशक में अनेक लघु पत्रिकाएँ प्रकाशित हुईं जैसे विनिमय (पटना), पहल (जबलपुर), अस्वीकार (कलकत्ता), अप्रस्तुत (कलकत्ता), ओरांग उटांग (उज्जैन), तनाव (पिपरियाँ), बाम (आरा), प्रतिमान (गोड्डा), हम (जयपुर), चिति (बीकानेर), बातचीत (मुंगेर), निरंतर (कानपुर), अथवा (दिल्ली), विचार (मुंबई), अब (सासाराम), अन्तर (दिल्ली), उत्तरार्ध (कोटा), निष्कर्ष (सुल्तानपुर), पुरूष (मुजफ्फरपुर), मंगिया (गोरखपुर), आवेग (रतलाम), कैमूर (सासाराम), प्रगतिशील समाज (पटना), क्यों (मीनमाल), उत्तरार्ध (मथुरा), केतन (दिल्ली), कालपात्र (दिल्ली), विवेक-विकास (जयपुर), समानान्तर साहित्य (पटना), प्रतिमा (प्रयाग), ओर (भरतपुर), दीर्घा (दिल्ली), मंच (अम्बाला), समकालीन कविता (इलाहाबाद), लोक सम्पर्क (जयपुर), दीर्घा (दिल्ली), मंच (अम्बाला) , समकालीन कविता (इलाहाबाद), लोक सम्पर्क (जयपुर), त्रिज्या (पिपरिया), अवाम मित्र (रतलाम), ऋतुचक्र (इन्दौर), इबादत (रताम), प्रतिबद्ध कविता (दिल्ली), संज्ञा (बड़ौदा), प्रतिमान (शाहजहाँपुर), धरती (कानपुर), तत्काल (मुंगेर), अकविता (दिल्ली), अभिव्यंजना (कलकत्ता) तश्य (दिल्ली), समझ (पटना), गवाह (औरंगाबाद), शिल्पी (भागलपरु), युवा (कानपुर), कंक (रतलाम), युवा कविता (दिल्ली), उदाहरण (कन्नौज), नागफनी (कलकत्ता), दिशाबोध (दिल्ली), बोध (कलकत्ता), पदक्षेप (बिहारशरीफ), अस्ति (दिल्ली), धरातल (नालंदा), इत्यलम (रायपुर), कथानक (कानपुर), अभिव्यक्ति (चण्डीगढ़) नया कथन (कलकत्ता), बुनीया (सागर), विषय वस्तु (दिल्ली), जारी (रायपुर), हस्तक्षेप (नैनीताल), अंचल भारती (देवरिया), मधुमाधवी (जयपुर), ग्रहण (छिन्दवाड़ा), कथाराज (डूँगरगढ़), मासिकी (दिल्ली) इत्यादि।[15]

वस्तुतः आठवाँ दशक ही सही अर्थों में लघु पत्रिकाओं को आन्दोलनात्मक

एक चीज साफ दिखाई देती है। जो राहत देती है और जिसका पूरी तरह स्वागत किया जाना चाहिए वह है छोटी पत्रिकाओं के मिजाज में परिवर्तन। छोटी पत्रिकाएँ, 'स्त्री की योनि' से निकल कर एक स्वस्थ सार्थक धरातल पर आ गई है।

विस्तार देता है। विचार-तेवर से लेकर स्वरूप और सम्भावनाओं तक में। यहाँ तक कि सर्वेश्वर दयाल सक्सेना को भी इनकी महता को स्वीकार करते हुए उसी दिनमान में लिखना पड़ा, ''एक चीज साफ दिखाई देती है। जो राहत देती है और जिसका पूरी तरह स्वागत किया जाना चाहिए वह है छोटी पत्रिकाओं के मिजाज में परिवर्तन। छोटी पत्रिकाएँ, 'स्त्री की योनि' से निकल कर एक स्वस्थ सार्थक धरातल पर आ गई है'[16]।

इसी सन्दर्भ में मुंबई में आयोजित मार्च 1975 में अखिल भारतीय हिन्दी लेखक सम्मेलन में धर्मवीर भारती द्वारा पठित आलेख के भी महत्व का रेखांकन जरूरी प्रतीत होता है जिसका विषय था 'छोटी पत्रिकाएँ, बड़ी पत्रिकाएँ और साहित्यिक संस्कार'। हालाँकि इसमें उन्होंने छोटी पत्रिकाओं के महत्व और उनकी आवश्यकता को समझते हुए, व्यवसायी पत्रिकाओं के साथ उनके सहयोगी रूख पर बल प्रदान तो किया परन्तु लघु पत्रिकाओं की विरोधी मुहिम की एक तरह से हवा निकाल देने की की। कोशिश भी जब उन्होंने कहा कि, ''इस दिशा में उन सबको विचार करना होगा जिनके विरोध की भंगिमाएँ केवल व्यक्तिगत कुण्ठा या दलगत आग्रह के कारण नहीं है''।

आशय साफ है कि विरोध की एक धारा व्यक्तिगत कुण्ठा और दलगत आग्रहों

के आधार पर चल रही है, उसे शेष धारा से काट कर दो धाराएँ बनाई जाए। ताकि इनके अन्तर्विरोध बढ़े। दूसरा यह भी कि इन 'कुण्ठाओं और आग्रहों को छोड़ कर' उस मुहिम के कुछ लोग इनसे आ मिले जो नहीं मिलेंगे वे, कुण्ठा और दलगत आधार पर आग्रही है।

नवें दशक में लघु पत्रिकाओं की दुनिया कुछ सिमटी। लघु पत्रिका आन्दोलन की चर्चित शख्शियत धर्मेन्द्र गुप्ता का कहना है कि, ''नवें दशक को पूवार्ध और उत्तरार्ध में विभाजित करके देखा जाना ही हितकर होगा।''[17] उनका मानना है और यह सही भी प्रतीत होता है कि नवें दशक का उत्तरार्ध जो ह्रास संकेतित करता है पूर्वार्ध में वैसा नहीं लगता क्योंकि प्रेमचन्द जन्मशताब्दी वर्ष, 1980 ने शुरूआत में ही एकदम से पूरे आन्दोलन को ऊर्जा से भर दिया। कई विशेषांक निकले, गोष्ठियाँ- सेमेनार हुए। दिल्ली से प्रकाशित 'विषयवस्तु' ने अपना प्रवेशांक ही 'प्रेमचन्द विशेषांक' के रूप में निकला। 1981 में इलाहाबाद से राजेन्द्र कुमार के सम्पादन में शुरू 'अभिप्राय' ने अपने प्रवेशांक में 'प्रेमचन्द के मजदूर और प्रेमचन्द की सामाजिक चेतना'' विषयक दो महत्वपूर्ण आलेख भी दिये।

लेकिन उत्तरार्ध जरूर निराश जनक रहा। वर्ष 1988 में सिर्फ तीन नई लघु पत्रिकाएँ सामने आती है। और क्रमशः 89-90 में दो-दो। इसके कारणों की पड़ताल में जाएँ तो व्यवसायिक घरानों की कुटिल चालें तो मिलती ही है, सत्ता और साहित्य के तनाव पूर्ण सम्बन्ध भी कहीं न कहीं उत्तरदायी ठहरते हैं। क्योंकि इमर्जेन्सी के बाद सत्ता ने अपने कसबल कुछ कड़े किए थे। लघु पत्रिकाओं ने उसे स्वीकार नहीं किया। लेकिन राजनीति ने समाचार पत्रों के माध्यम से अपनी गोटी लाल करने की सोची। सफलता भी मिली। बड़े-बड़े प्रतिष्ठानों ने साहित्य छापने का ढ़ोंग भी अब छोड़ दिया। ''सत्ता की राजनीति और राजनीति पत्रकारिता में एक समझौता हो गया''[18] परिणाम यह हुआ कि साहित्य भी समाचार बन कर रह गया। सूचना और सिर्फ सूचना ज्ञान का कोई मतलब नहीं। विचार और वैचारिकी को खत्म कर देने की साजिशों के बावजूद नवें दशक के पूर्वाध में कुछ लघु पत्रिकाएँ सामने आई जिनमें प्रमुख है - विचार (लातूर) वृत्तांत (कलकत्ता), कथाबिम्ब (मुबंई), लेखन (इलाहाबाद), वर्तमान साहित्य (इलाहाबाद), अभिप्राय (इलाहाबाद), इसबार (आरा), प्रस्थान (पटना), वसुधा (भोपाल), पलप्रतिपल (पंचकूला) समकालीन सृजन (कलकत्ता), अगला कदम (इलाहाबाद), कारखाना (जमालपुर), कथाभाषा (फरीदाबाद) समग्र चेतना (कानपुर), स्वर्ण रेखा (राँची), प्रसंगवश (अलगढ़), व्योम (पटना) व्याख्यान माला (जयपुर) युग स्पंदन (दिल्ली) कश्यरूप (इलाहाबाद) इत्यादि।

इसके साथ ही अंतिम दशक की कुछ लघु पत्रिकाओं का भी उल्लेख ताकि आज तक के प्रतिरोधी विचारों एवं मुक्तिकामी चेतना के अभियानों की झलक पायी जा सके। अभिव्यक्ति (कोटा), सम्यक् (मथुरा) अब (सासाराम) अमिधा (मुजफ्फरपुर), द्वारा (काकिनाड़ा), सहकार (उन्नाव), अभिनव प्रसंग (अलीगढ़), युद्धरत आम आदमी (हजारीबाग अब दिल्ली), कला (पूर्णिया) शेष (जोधपुर) महिम पतिमा (इम्फाल) सरयू धारा (देवरिया) असुविधा (सोनभद्र) सरोकार (अररिया) अक्षत (बोकारो) संभवा (मुजफ्फरपुर) आवर्त (मुजफ्फरपुर) इत्यादि।

लेकिन सर्वाधिक महत्वपूर्ण परिघटना रही 'हंस' का प्रकाशन। वस्तुतः अन्तिम दशक लघु पत्रिकाओं की सत्ता का दशक रहा। भूमण्डलीकरण कई आर्थिक नीतियों एवं बाजारवादी हमले के बावजूद नवें दशक का अन्तिम वर्ष मण्डल कमीशन के लिए ही नहीं जाना जाएगा, शोषितों वंचितों की राजनीतिक अभिव्यक्ति के लिए भी जाना जाएगा। राजनीति की सत्ता ने उनमें प्रतिरोधी विचारों का प्रकटीकरण किया। उसी तरह नरसिंह राव की सरकार और नई आर्थिक नीतियों के स्वीकरण ने आम जनता में प्रतिरोधी चेतना का बीज वपन किया। बाबरी मस्जिद विध्वंस ने प्रतिरोध की एक तरह से लहर ही पैदा कर दी। तब तक गुजरात दंगों ने एक बार फिर प्रतिवाद के स्तरों को तीव्र होने का अवसर दिया। इन तमाम घटनाओं ने साहित्य के सामाजिक प्रयोजन लघु पत्रिकाओं की भूमिका को भी निखरने का अभूतपूर्व अवसर प्रदान किया जिसे लघुपत्रिकाओं ने भी दोनों हाथों लपक लिया।

संदर्भ सूची :-

1. मिथिलेश्वर, प्रवेशांक 'मित्र', सम्पादकीय, पृष्ठ 4
2. वही
3. विश्वनाथ त्रिपाठी, हरेप्रकाश को साक्षात्कार देते हुए, दैनिक हिन्दुस्तान, पटना, साप्ताहिक परिशिष्ट 'कृति' 17 मई 2005
4. परमानन्द श्रीवास्तव, समकालीन सृजन, संयुक्तांक, 9-12 पृष्ठ 179
5. शम्भूनाथ, मित्र -1, बाजारवाद, कट्टरतावाद और परिधि की आवाजें, पृष्ठ 58
6. रमेश उपाध्याय, राष्ट्रीय सहारा, साप्ताहिक परिशिष्ट 'हस्तक्षेप' 13 नवम्बर 1994
7. शम्भूनाथ, मित्र-1, बाजारवाद, कट्टरतावाद और परिधि की आवाजें, पृष्ठ 60
8. परमानन्द श्रीवास्तव, समकालीन सृजन, संयुक्तांक, 9-12 पृष्ठ 183
9. शम्भूनाथ, मित्र-1, बाजारवाद, कट्टरतावाद और परिधि की आवाजें, पृष्ठ 61
10. परमानन्द श्रीवास्तव, समकालीन सृजन, संयुक्तांक, 9-12 पृष्ठ 180
11. रमेश उपाध्याय, राष्ट्रीय सहारा, साप्ताहिक परिशिष्ट 'हस्तक्षेप' 13 नवम्बर 1994 देवेन्द्र चौबे, राष्ट्रीय सहारा, साप्ताहिक परिशिष्ट 'हस्तक्षेप' 13 नवम्बर 1994
12. रमेश उपाध्याय, राष्ट्रीय सहारा, साप्ताहिक परिशिष्ट 'हस्तक्षेप' 13 नवम्बर 1994
13. धर्मेन्द्र गुप्ता, लघु पत्रिकाएँ और साहित्यिक पत्रकारिता, पृष्ठ 139
14. वही
15. वही, पृष्ठ 140
16. सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, 'दिनमान' 18 अगस्त 1974
17. धर्मेन्द्र गुप्त, पूर्वोक्त पृष्ठ 142
18. वही

संपर्क: व्याख्याता, हिन्दी विभाग, रामेश्वर सिंह महाविद्यालय, मुजफ्फरपुर

❑❑❑

हिन्दी साहित्य

त्रिलोचन शास्त्री की कविताएँ- एक विहंगम दृष्टि

डा. महेश प्रसाद सिंह

> **त्रिलोचन अपने जीवन में ही किंवदन्ती पुरुष हो गये हैं। उनके बारे में बहुत-सी कपोल कल्पित बातें भी कही-सुनी जाती हैं। मुख्य बात यह कि त्रिलोचन कठिनाइयों से जूझते हुए आगे बढ़ते हैं। वे व्यक्तिवादी नहीं हैं। दु:ख ने उन्हें सामाजिक बना दिया है।**

त्रिलोचन के बारे में कहा जाता है कि वह एक प्रगतिशील कवि हैं। मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित होकर उन्होंने प्रगतिशील साहित्य में अपना विशिष्ट योगदान दिया है, इसमें संदेह नहीं। लेकिन जैसा कि प्रेमचन्द जी ने कहा था, 'साहित्यकार स्वभावत: प्रगतिशील होता है तो यह बात एक बहुत बड़ी सीमा तक त्रिलोचन जी के लिए भी कही जा सकती है। जैसे कबीरदास जी स्वभावत: क्रान्तिकारी हैं, त्रिलोचन स्वभावत: प्रगतिशील हैं। कारण, वे प्रगतिशील होकर ही स्वत्व बचा सकते थे, अपनी पहचान बना सकते थे। जिन परिस्थितियों से उन्हें आद्यन्त अपने जीवन में जूझना पड़ा, उसमें साम्यवादी होना ही उनके लिए स्वाभाविक है। यह अलग बात है कि साम्यवादियों में भी त्रिलोचन सबसे अलग हैं। वे देशज संस्कारों के साम्यवादी हैं। उनकी कविता की जड़ें हमारे जातीय जीवन में बहुत गहरे गई हैं। उनके काव्य और कर्म में संत-भक्त कवियों-जैसी एकरूपता के दर्शन होते हैं। एक खास तरह की निस्पृहता और अहं से मुक्त मनोदशा के दर्शन उनकी कविता में होते हैं -

'पथ का वह रजकण हूँ, जिस पर छाप युगों की।
यहाँ-वहाँ है मूक कहानी सहज डगों की।'

इसके अतिरिक्त त्रिलोचन के काव्य में हम कुछ उन तत्त्वों का समावेश पाते हैं जो सामान्य रूप से हमारे जातीय कवियों की कविता में मिलते हैं। यथा-प्रकृति-चित्रण और उदात्त मानवीय प्रेम। ये तत्त्व त्रिलोचन जी के काव्य में प्रचुर हैं। प्रगतिशील कवि सामाजिक- आर्थिक विषमता के विरोधी रहे हैं, त्रिलोचन ने भी स्वभावत: सामाजिक- आर्थिक वैषम्य का विरोध किया है। लेकिन उग्र और उत्तेजक नहीं लिखते। उन्होंने नागार्जुन की तरह नहीं कहा कि 'प्रतिहिंसा ही स्थायी भाव है मेरे कवि का।' त्रिलोचन ने मुक्तिबोध की तरह यह प्रस्ताव भी नहीं कि 'अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे उठाने ही होंगे / तोड़ने ही होंगे मठ और गढ़ सब।' उन्होंने शमशेर की तरह 'वाम वाम वाम दिशा/ समय साम्यवादी' का प्रचार भी नहीं किया। बल्कि उन्होंने बड़े ही शान्त और शालीन तरीके से कविता में सर्वहारा संस्कृति के उत्थान के लिए प्रयास किया है। उत्पादन के कार्य में लगे लोगों के प्रति त्रिलोचन के काव्य में बड़े सम्मान की जगह है। 'चम्पा काले-काले अक्षर नहीं चीन्हती' त्रिलोचन की एक आरंभिक कविता है, जिसमें सादगी ही कला है। रघुवीर सहाय की बड़ी प्रसिद्ध उक्ति है- जहाँ बहुत अधिक कला होगी, परिवर्तन नहीं होगा।' त्रिलोचन ने यही किया है, कविता को समर्पित अपने जीवन को लक्ष्यनिष्ठ किया है।

त्रिलोचन के व्यक्तित्व-विकास के अवलोकन के लिए बहि:साक्ष्य की तुलना में अन्त:साक्ष्य पर अधिक भरोसा किया गया है। त्रिलोचन अपने जीवन में ही किंवदन्ती पुरुष हो गये हैं। उनके बारे में बहुत-सी कपोल कल्पित बातें भी कही-सुनी जाती हैं। मुख्य बात यह कि त्रिलोचन कठिनाइयों से जूझते हुए आगे बढ़ते हैं। वे व्यक्तिवादी नहीं हैं। दु:ख ने उन्हें सामाजिक बना दिया है। उनमें कवि-प्रतिभा तो जन्मजात रही, किन्तु उसे विकसित होने का अवसर जिस परिवेश में मिला वह है ब्रजभाषा, अवधी और खड़ी बोली की कविता का मिला-जुला परिवेश। अपनी जमीन और जनपद को त्रिलोचन जी ने कभी छोड़ा नहीं। वैसे वे देश के विभिन्न क्षेत्रों में जीविकोपार्जन के लिए यात्राएँ और प्रवास करते रहे। कवि त्रिलोचन के जीवन-संघर्ष में ही उनकी कविता का संघर्ष शामिल है। धरती से लेकर 'मेरा घर' तक त्रिलोचन जी के अनेक संग्रह प्रकाशित

हुए हैं, उससे तिगुनी कविताएँ या तो खो गई या लुप्त हो गई। जो हो, त्रिलोचन की कविता संख्या के मामले में ही समृद्ध नहीं है, बल्कि गुणात्मक समृद्धि से भी वह आश्वस्त करती है। उनका काव्य अन्तर्वस्तु और संरचना दोनों स्तरों पर विविधरूपात्मक है। उनका वैविध्य हमारे जातीय जीवन के अनुरूप है। उनकी संवेदना मैथिलीशरण गुप्त और निराला की तरह ही किसान संवेदना है। कभी शमशेर ने कहा था, 'तुमने धरती का पद्य पढ़ा है, सहजता उसकी प्राण है।'

त्रिलोचन जी के काव्य में प्राप्त प्रवृत्तियों का अनुशीलन विशेषत: प्रेम, प्रकृति, सामाजिक यथार्थ और जनपदीय चेतना के संदर्भ में किया गया है। त्रिलोचन जी समग्रता में एक प्रगतिशील कवि हैं, स्वभावत: प्रगतिशील, इसलिए उनका काव्य जातीय तत्त्वों से समृद्ध है। एक बड़े कवि का अनुभूति-क्षेत्र भी बड़ा होता है। जीवनानुभव जितना व्यापक होगा उतना ही बड़ा कैनवास होगा कविता का। त्रिलोचन अपनी कविता के दिगन्त में तुलसी और गालिब दोनों को जगह देते हैं। इसके लिए जो सबसे सुन्दर अभिव्यक्ति-माध्यम उन्हें मिलता है-वह है सॉनेट। हिन्दी में त्रिलोचन और सॉनेट एक दूसरे के पर्याय हैं। उनके सॉनेट ऐसे हैं जिनमें गेयता और एकान्विति दोनों की रक्षा हुई है। त्रिलोचन जी ने रुबाई और गजलें भी बड़ी मात्रा में लिखी हैं। उन्होंने कुछ लम्बी कविताओं, काव्य नाटकों और गद्य काव्यों की भी रचना की है। त्रिलोचन का गद्य अलग से विचारणीय ठहरता है। नयी कविता के उत्कर्ष-काल में प्रवाह-पतित होने का खतरा उठाकर भी वे धारा के विरुद्ध वाक्य-विन्यास की रक्षा के लिए आवाज बुलन्द करते रहे। उनके मन में सदैव यह भाव रहा है कि कवि तो मानव आत्मा का शिल्पी होता है और मानव-आत्मा विपुल बन्धनों में जकड़ी रहती है। जिस तरह से बुढ़ापे की लकड़ी के बल पर कोई बूढ़ा तन को ढ़ोता है, 'उसी तरह से होता है साहित्य सहारा सबके मन का।' इस उदारता के साथ त्रिलोचन जी सॉनेट के चौदह चरणों में चौदहों भुवन को यथाशक्ति नापने का प्रयास करते हैं।

सॉनेट का रास्ता अधिक चौड़ा नहीं है। उसमें अनूठे भाव कसे मिलते है जैसे आगरे के किले में जड़ा नग जो पूरे ताजमहल को दिखाता है। कहना न होगा कि त्रिलोचन जी एक समर्थ गीतकार भी हैं। 'सबका अपना आकाश' के गीतों में केवल सम्मोहन नहीं है, दार्शनिक उड़ान नहीं है, एक मानवीय भावना की तरलता भी आकर्षित करती है। अभिव्यक्ति-माध्यम जो भी हो, कवि त्रिलोचन प्रगतिशील और प्रयोगशील साथ-साथ दिखायी पड़ते हैं।

इस कवि के पाँव कविता की स्वाभाविक भाव-भूमि पर खड़े हैं-'धरती का-सा धैर्य दृगरें में व्योम बताऊँ' के संकल्प के साथ त्रिलोचन जी ने प्रेम का आख्यान रचा है। किसी का यूँ तो हुआ कौन उम्र भर फिर भी-त्रिलोचन ने कविता में प्रेम का उदात्तीकरण किया है। पहले प्रेम स्पर्श होता है, तदन्तर चिन्तन भी/प्रणय प्रथम मिट्टी कठोर है, तब वायव्य गगन भी। त्रिलोचन की प्रेम कविताओं में रूपाशक्ति प्रबल है, वह आँखिन देखी सच है। दांपत्य-रति की अर्थसघन प्रस्तुति है वह लेकिन उसका प्रसार भी कम आकर्षक नहीं है। 'धरती' की पहली रचना की पहली पंक्ति है – 'मुझे जगत् जीवन का प्रेमी बना रहा है प्यार तुम्हारा'। इसमें अकेलेपन की पीड़ा भी कम मार्मिक नहीं है, लेकिन इस भाव-बोध के साथ कि'आज मैं अकेला हूँ / अकेला रहा नहीं जाता / जीवन मिला है यह रतन मिला है यह।' त्रिलोचन के प्रेम का आलम्बन है गीतमयी। वह कभी चाँद-सी दिखती है। नीले नभ में खड़ी तो कभी नीरव सस्मित सरिता की लहरों पर शशि-लेखा-सी। त्रिलोचन लिखते हैं,-'जबसे देखा तुम्हें, तुम्हीं को पाना चाहा /जीवन क्रम अकस्मात् कुछ और हो गया।' उस रहस्यदर्शिनी की आँखों की भाषा में एक अद्भुत आकर्षण था। तात्पर्य यह कि गीतमयी ही मूलत: त्रिलोचन की काव्य-प्रेरणा हैं उसी का स्वरूप कविता है। त्रिलोचन की कविता में विह्वल समुद्र का उत्तरंग गायन यों ही नहीं सुनायी पड़ता । उनके हृदय-सिन्धु की गहराई तुलसी की कम जायसी की याद अधिक दिलाती है। जो हो, गीतमयी का सान्निध्य कवि को प्रीतिकर है। वह कवि को आत्म-विस्मृति की अवस्था में ले जाता है। गीतमयी का रूप कवि की स्मृति की लहरों से मिलकर अत्यन्त प्रभावशाली हो जाता है। गीतमयी की देह-दूर कविता की सर्वांगपूर्ण काया में परिणत हो सकी है। त्रिलोचन के मत में मैत्री चेतन तक ही सीमित नहीं है। उनका काव्य जगत् चेतन सत्ता तक ही सीमित नहीं है। अर्थ यह कि त्रिलोचन प्रेम को अभिव्यक्ति देते समय गीता का अतिक्रमण करते हैं। वे अपनी प्रेम कविताओं में भाव-योग की सबसे उच्च कक्षा तक पहुँचे प्रतीत होते हैं। प्रेम का प्रसार प्रकृति और मानवेतर प्राणियों की अनुभूति तक जाता है। यानी संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदना के समानुपात से प्रेम कविता संवेदना और दर्शन का संयोग घटित करती है। संक्षेप में, प्रदर्शन और विज्ञापन से दूर रहकर त्रिलोचन जी ने प्रेम को रचनात्मक शक्ति बना लिया है। इससे प्रगतिशील काव्यधारा पर्याप्त समृद्ध हुई है।

त्रिलोचन के काव्य में वर्णित प्रकृति को निहारना भी अत्यंत रोचक है। त्रिलोचन प्रेम के बड़े कवि हैं तो प्रकृति के भी छोटे कवि नहीं है। हम पाते हैं कि उनके प्रकृति-चित्रण से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की अपेक्षाओं की पूर्त्ति हुई है। कवि की सच्ची भावुकता प्रकृति से जुड़े बिना निखरती नहीं। अर्थात् प्रकृति के सान्निध्य में ही वस्तुत: कवि हृदय विस्तीर्ण होता है। शुक्ल जी साहचर्य जनित प्रेम को सच्चा प्रेम मानते थे। प्रकृति का सान्निध्य ही कविता में प्रकृति-प्रेम बन जाता है। त्रिलोचन जी जीवन को समग्रता में ग्रहण करते हैं। जीवन समग्र पर आँखें टिकी हों तो मनुष्य के साथ-साथ प्रकृति भी आएगी ही। जीवन-द्रव्य मूल है, प्रकृति और मनुष्य उसके दो समर्थ उपकरण हैं। त्रिलोचन की विशेषता यह है कि उन्होंने

प्रकृति का आलम्बन-रूप तन्मय होकर आँका है। इसमें उनके कवि-चित्त का प्रसार लक्षित होता है। उन्होंने विभिन्न ऋतुओं का वैभव कविता में चित्रित किया है। प्रकृति की संवेदना त्रिलोचन एक किसान की तरह व्यक्त करते हैं। हम कह सकते हैं कि त्रिलोचन प्रकृति दृश्यों में चाक्षुष के साथ गन्धोन्माद भी लाते हैं। उनमें प्राणवायु के झकोरे हैं और जगत् की अनन्तता भी। उसमें सृजन और विनाश के बिम्ब हैं। प्रकृति में सौन्दर्य देखकर कवि त्रिलोचन सस्वर हो जाते हैं। इसमें संचरित मधु का धीर समीर अनेक सुगन्ध सँभाले यदा-कदा ऊधमी भी हो चला है। इसमें गुलाब है तो बुलबुल भी पर ज्योति और अन्धकार के झिलमिल झकोरे अतीन्द्रिय भी खूब हैं। प्रकृति का कण्टकभूषित रूप भी त्रिलोचन ने चित्रित किया है। उनकी कविता में 'नवदल लिये शिरीष खिला है कठिन ताप में।' यानी अनन्तरूपात्मक प्रकृति के रूप और प्रभाव दोनों का ध्यान रखते हैं, अत: उनका प्रकृति काव्य कहीं भी संदर्भ से कटा हुआ प्रतीत नहीं होता।

त्रिलोचन के काव्य में सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति पर भी कुछ बातें। एक प्रगतिशील कवि की कविता में सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति अत्यन्त स्वाभाविक है। त्रिलोचन के काव्य में सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति प्रखर है, युगबोध के साथ और विचारधारा-संपन्न है। यानी त्रिलोचन एक दृष्टि-संपन्न कवि हैं, यह कहने की आवश्यकता नहीं। उन्होंने खुद को जनपद का कवि कहा है। उनका जनपद भूख-दु:ख से त्रस्त है। जनता का संघर्ष सामाजिक यथार्थ का ही दूसरा रूप है। 'अगर कोठरी अँधेरी है तो कवि को उसे अँधेरी कहने का अधिकार है, लेकिन इस समझ के साथ कि 'दु:ख के तम में ही जीवन-ज्योति जला करती है।' त्रिलोचन एक समर्थ संवेदनशील किसान कवि की तरह अपने जनपद के किसानों का जीवन चित्रित करते हैं। ऐसा करते हुए त्रिलोचन जातीय-शक्ति के स्रोतों की खोज करते हैं। किसान की दृष्टि में प्रकृति, समाज और विश्व जीवन का समावेश होता है, एक सहज दार्शनिकता भी। कवि अपने जनपद के लोगों से अलग नहीं है। जो बहुसंख्यक समाज की वेदना है, उससे कवि का नाता अटूट है। विपन्न होने का अर्थ विफल मनोरथ होना नहीं है। 'दीनता देह से लिपटी है, पर मन अदीन है।' त्रिलोचन के कवि-व्यक्तित्व में जो जुझारूपन है, अकेले भी सच के पक्ष में खड़े हो जाने का साहस है, उनकी कविता में सामाजिक यथार्थ के चित्रण में उसका ही हाथ है। यानी अन्य प्रगतिशील कवियों की सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति से कुछ अलग है, त्रिलोचन की अभिव्यक्ति का ढंग। इसमें शोषकों के प्रति घृणा उतनी नहीं, जितनी शोषितों के प्रति प्रेम, सहानुभूति और संवेदना। इसमें एक उम्मीद है, आतुरता भी। हाथों के दिन आयेंगे, कब आयेंगे - की विकलता भी। ग्राम समाज का जैसा सधा हुआ चित्रण प्रेमचन्द की कहानियों में हुआ है, कमोवेश वैसा ही त्रिलोचन की कविताओं में मिलता है। संक्षेप में नगई महरा के अनुशीलन से त्रिलोचन की क्षमता का अनुमान किया जा सकता है।

त्रिलोचन के काव्य में मार्क्सवादी विचारधारा की समझ को संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है और तत्पश्चात उसकी विशेषताओं को त्रिलोचन के काव्य में खोजने का प्रयास किया गया है। त्रिलोचन मार्क्सवादी हैं, यह कहने की बात नहीं। उनका मार्क्सवाद शास्त्र सम्मत है, लेकिन केवल किताबी नहीं। यह विचारधारा उनकी जीवन-स्थितियों के अनुरूप है। इस विचारधारा में व्यक्ति समाज से अभिन्न है, समाज की एक शक्ति है। समाज वर्गों में विभाजित है तो एक कवि का मार्क्सवादी होना इस बात पर निर्भर करता है कि वह हर साँस से शोषित वर्ग के उत्थान का प्रयास करे। उत्पादक वर्ग में नैराश्य है, शोषण का संजाल इतना फैला हुआ और विविध स्तरीय है कि नैराश्य स्वाभाविक है। कवि उसकी शक्ति को जगाता है। वह सर्वसाधारण की एकता का आह्वान करता है। एकाधिकार और तानाशाही

कवि अपने जनपद के लोगों से अलग नहीं है। जो बहुसंख्यक समाज की वेदना है, उससे कवि का नाता अटूट है। विपन्न होने का अर्थ विपफल मनोरथ होना नहीं है।

का विरोधी मार्क्सवादी कवि बेहतर दुनिया के सपने देखता है। त्रिलोचन आरंभ से ही कविता में साम्राज्यवाद, पूँजीवाद और सामन्तवाद की तीखी आलोचना करते हैं। वे पुरानी व्यवस्थाओं के अन्तर्विरोधों पर प्रहार करते हैं यानी एक बड़ी ही सीमा तक कविता उनके लिए साधन है। वे शुद्ध कवितावादी नहीं हैं। बल्कि साम्यवाद की स्थापना के लिए वे तन और मन से समर्पित रहे हैं। श्रमिक जनता शोषण के अभिशाप से कैसे मुक्त हो, इसके लिए कवि त्रिलोचन सदैव विकल प्रतीत होते हैं। साम्य, सद्भाव और विश्व मैत्री का राग उन्हें प्रिय है। त्रिलोचन जनवाद के पक्षधर हैं, लोकसत्ता में उनकी गहरी आस्था है। उन्होंनं मनुष्य को ही अपने भाग्य का नियन्ता माना है। त्रिलोचन का काव्य लोकरंग से स्नात है। लोक चेतना से संपृक्त होकर उन्होंने इसी संसार की विशेषताओं और विद्रूपताओं पर अपनी कवित्वशक्ति को केन्द्रित किया है। यानी वह एक भौतिकवादी सोच के कवि हैं। यथार्थ के साथ कल्पना का मिश्रण करते हुए भी उनकी आसक्ति लक्ष्य केन्द्रित रही है। रैल्फ फॉक्स की बड़ी प्रसिद्ध उक्ति है-'संस्कृति हमारे लिए महान् सौन्दर्य-चिन्तन की वस्तु नहीं है,

उसका उपयोग हम अच्छी तरह जिन्दा रहने के लिए करते हैं।' त्रिलोचन ने भी एक सच्चे मार्क्सवादी प्रगतिशील कवि की तरह कविता में जीवन को और सुन्दर बनाने का स्वप्न देखा है। वे एक स्वप्न द्रष्टा कवि हैं।

त्रिलोचन के काव्य में जनपदीय चेतना को एक स्पष्ट समझ के साथ दिखाया गया है कि एक महत्त्वपूर्ण कवि सभ्यता के आरंभ से ही अपने जनपद की सांस्कृतिक विशेषताओं के प्रवक्ता रहे हैं। जैसे नागार्जुन मिथिला जनपद के कवि है, मुक्तिबोध मालवा जनपद के कवि हैं – त्रिलोचन भी अवध की संस्कृति के समर्थ गायक हैं। उनकी कविता की अन्तर्वस्तु अवध के लोगों के स्वभाव-संस्कार का पता देती है। यानी त्रिलोचन की कविता की अपनी एक जमीन है, अपना एक आसमान है। वे जायसी और निराला से भी जुड़ते हैं, तुलसी और नागार्जुन से भी। संकीर्णता उनमें नहीं है। जनपदीय चेतना वृहत्तर की दिशा में उन्मुख है। त्रिलोचन की जनपदीय चेतना इतनी सुदृढ़ और समावेशी है कि 'अमोला' जैसी विलक्षण कृति संभव हुई है।

सहायक ग्रंथ सूची :-

1. अनकहनी भी कुछ कहनी है – त्रिलोचन, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1985
2. अनभै साँचा – डॉ. मैनेजर पाण्डेय, पूर्वोदय प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण–2002
3. अमोला – त्रिलोचन, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण–1990
4. अरघान – त्रिलोचन, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण–1983
5. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ – डॉ. नामवर सिंह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण
6. उस जनपद का कवि हूँ – त्रिलोचन, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण–1981
7. आँचलिकता और हिन्दी उपन्यास – डॉ. नगीना जैन, अक्षर प्रकाशन, प्रा. लि., नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण–1976
8. कविता और कवि-कर्म – डॉ. जीवन सिंह, बोधि प्रकाशन, जयपुर, प्रथम संस्करण–1999
9. कविता और मानवीय संवेदना – डॉ. रेवतीरमण, राजेश प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण–1991
10. कविता और समय – अरुण कमल, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण–1999
11. कविता का वर्त्तमान – डॉ. खगेन्द्र ठाकुर, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण–1992
12. कविता के नये प्रतिमान – डॉ. नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, तृतीय संस्करण–1982
13. कविता के संदर्भ – राजाराम भादू, रचना प्रकाशन जयपुर, प्रथम संस्करण–1990
14. कविता के सम्मुख – गोविन्द प्रसाद, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण–2002
15. कविता में समकाल – डॉ. रेवतीरमण, रामकृष्ण प्रकाशन, विदिशा, प्रथम संस्करण–1998
16. कविता से साक्षात्कार –मलयज, संभावना प्रकाशन, हापुड़, प्रथम संस्करण – 1979
17. कालिदास ग्रन्थावली – सं. सीताराम चतुर्वेदी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, चतुर्थ संस्करण–1980
18. गुलाब और बुलबुल – त्रिलोचन, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण–1985
19. चिन्तामणि – पहला भाग–रामचन्द्र शुक्ल, इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, 1989
20. चिन्तामणि– द्वितीय भाग–सं॰–विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पंचमावृत्ति
21. चैती – त्रिलोचन, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण–1987
22. जनकवि – सं॰ – डॉ. विजय बहादुर सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण–1984
23. ताप के ताय हुए दिन – त्रिलोचन, संभावना प्रकाशन, हापुड़, प्रथम संस्करण–1980
24. तुम्हें सौंपता हूँ – त्रिलोचन, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण–1985
25. त्रिलोचन की कविता यात्रा – डॉ॰ जीवन प्रकाश जोशी, संधान प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण–1983
26. दलित साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र – ओम प्रकाश वाल्मीकि, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण–2001
27. दर्शन के इतिहास की रूपरेखा – ई॰ खल्याक्वि, प्रगति प्रकाशन, मास्को, प्रथम संस्करण–
28. दिगन्त – त्रिलोचन, सरस्वती प्रेस, इलाहबाद, प्रथम संस्करण–1957
29. धरती – त्रिलोचन, नीलाभ प्रकाशन, इलाहबाद, प्रथम संस्करण–1977
30. नयी कविता और अस्तित्वाद – डॉ॰ रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण
31. पाश्चात्य काव्यशास्त्र की मार्क्सवादी परम्परा – डॉ॰ मक्खनलाल शर्मा, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण
46. रूपतरंग और प्रगतिशील कविता की वैचारिक पृष्ठभूमि – डॉ॰ रामविलास शर्मा, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण–1990
47. शब्द – त्रिलोचन, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण–1980
48. शब्द और मनुष्य – डॉ॰ परमानन्द श्रीवास्तव, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण–1988
49. शब्द जहाँ सक्रिय हैं – डॉ॰ नन्दकिशोर नवल, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण–1986
50. सबका अपना आकाश – त्रिलोचन, राजकमल प्रकाश्न, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण–
51. साहित्य का उद्देश्य – प्रेमचन्द्र, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद–1967
52. हिन्दी कविता की प्रगतिशील भूमिका – सं॰ डॉ॰ प्रभाकर श्रोत्रिय, मैकमिलन, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण–1978
53. हिन्दी काव्य में मार्क्सवादी चेतना – डॉ॰ जनेश्वर वर्मा, ग्रन्थम, कानपुर, प्रथम संस्करण–1978
54. हिन्दी की मार्क्सवाद कविता–डॉ. संपत ठाकुर, प्रगति प्रकाशन, आगरा, प्र. सं– 1978
55. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास– डॉ॰ रामस्वरूप चतुर्वेदी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण–1986
56. हिन्दी साहित्य : उसका उद्‌भव और विकास – हजारी प्रसाद द्विवेदी, यू॰ सी॰ कपूर एण्ड सन्ज, कश्मीरी गेट दिल्ली, प्रथम संस्करण–1969
57. हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष – शिवदान सिंह चौहान, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय संस्करण–1961

(अंग्रेजी)

1. आॅन लिटरेचर एण्ड आर्ट – माओ–त्से–तुंग, फॉरेन लैंग्वेलजेज पब्लिशिंग हाउस, पेकिंग, 1960
2. ऑन लिटरेचर एण्ड आर्ट –वी. आई. लेनिन, प्रोगेस पब्लिशिंग मास्को– 1967

संपर्क: व्याख्याता हिन्दी विभाग, राय बीरेन्द्र सिंह, महाविद्यालय, कुतुबपुर कोठी, हाजीपुर, वैशाली

❑❑❑

संस्कृत साहित्य

चतुर्वर्गसंग्रह में धर्म एवं मोक्ष-चिन्तन

डॉ. मधु बाला सिन्हा

धर्म की महिमा है कि वह लोक-परलोक में सुखद, अन्धकार का विनाशक, आपत्तियों का शमनकर्ता, बन्धुहीन स्थलों में बन्धुरूप एवं संसार-रूप मरुभूमि में कल्पतरु है। धर्म के अभाव में मानव की सारी उपलब्धियाँ निरर्थक क्लेश-प्रद हैं।

''चतुर्वर्गसंग्रह'' आचार्य क्षेमेन्द्र विरचित एक नीतिकाव्य है। प्रायः नीतिविषयक उपदेश पुराणेतिहास के समान तथाकथित ''मित्रसम्मित'' होते हैं और ''येनेष्टं तेन गम्यताम्'' के विकल्प छोड़ देते हैं, किन्तु काव्य में जो नीतियाँ प्रस्तुत होती हैं वे सरसता से युक्त होने के कारण ''कान्तासम्मित'' उपदेश ही देती हैं। चतुर्वर्गसंग्रह में ऐसे ही काव्यात्मक उपदेश हैं। इस ग्रन्थ की रचना के दो लक्ष्य हैं - शिष्यों को उपदेश देना तथा विद्वानों को सन्तोष देना।[1] इस काव्य में भारतीय जीवन-दर्शन में प्रसिद्ध चार पुरुषार्थों पर गंभीर चिन्तन किया गया है। यहाँ धर्म एवं मोक्ष पर चर्चा अभीष्ट है।

मानव जीवन में धर्म को प्रधानता दी गयी है क्योंकि धर्म त्रिवर्ग का सार है। धर्मरहित अर्थ और काम हेय माने गये हैं। ग्रन्थारम्भ धर्म को वृक्ष का रूपक देते हुए किया गया है (धर्मः प्रोद्यत्कुशलकुसुमः श्रीफलो मङ्गलाय)[2]।

यह वृक्ष तरुण करुणा-रूपी अमृत से सींचा जाता है, सत्य इसका तना है, क्षमा छाया है, सुमतिरूपी लता इस पर आरोहण करती है, शील (सदाचार) इसकी जड़ है, सत्त्ववृत्ति पल्लव है और सम्पत्ति फल है। धर्म की महिमा है कि वह लोक-परलोक में सुखद, अन्धकार का विनाशक, आपत्तियों का शमनकर्ता, बन्धुहीन स्थलों में बन्धुरूप एवं संसार-रूप मरुभूमि में कल्पतरु है। धर्म के अभाव में मानव की सारी उपलब्धियाँ निरर्थक क्लेश-प्रद हैं। कहा गया है कि मनुष्यता से रहित जन्म लेना, बुद्धि से रहित मनुष्य होना, पाण्डित्य से हीन बुद्धि होना और धर्म से हीन पाण्डित्य - यह कष्ट ही है।[3]

महाकवि धर्मरहित बुद्धि होना चिन्ता का विषय मानते हैं - धर्मे न धीर्यस्य स एव शोच्यः।[4] वह समय पछताने का होता है जब मनुष्य परहित नहीं करता, दान से विमुख रहता है, सत्य नहीं बोल पाता और आयु को व्यर्थ जाते हुए पाता है (1.9)। दान, सत्य, शील तथा क्षमा बड़े धर्म हैं। अन्य व्यक्तियों के प्राणों की रक्षा महान् अहिंसाव्रत है (1.12-13)। मुख की शोभा सत्य-रूपी आभरण से होती है - सत्याभरणा सरस्वती।[5] धर्म-कार्य से विमुख रहकर स्वार्थ के लिए शरीर और धन की रक्षा करना अनर्थ है -

स्वार्थासक्तमनर्थसार्थसदनं मा मास्तु तत्कस्यचित्।[6]

दूसरे के धन से निःस्पृह, परस्त्री से निरुत्सुक, दूसरे पर प्रेमदृष्टि रखने वाले, दूसरे से अपमानित होने पर भी क्षमाशील, परप्रशंसा में मुखर, परनिन्दा से विमुख और परकष्ट के निवारण के लिए प्रस्तुत कोई पुण्यात्मा ही होता है।[7] परोपकार के समान कोई पुण्य नहीं होता (संसारे न परोपकारसदृशं पश्यामि पुण्यं सताम्, 1.20)।

अहिंसा पर बल देते हुए क्षेमेन्द्र कहते हैं -

तीर्थानि दीर्घाध्वपरिश्रमाणि बहुव्ययानि क्रतुडम्बराणि।
तपांसि मुक्त्वा तनुशोषणानि हिंसाविरामे रमतां मतिर्वः॥ (1.21)

तीर्थ, यक्ष और तपस्या से बढ़कर अहिंसाव्रत है। इसी प्रकार निःस्पृहता, अदीनता, अयाचन, दानशीलता इत्यादि की महत्ता का वर्णन कवि ने किया है। धर्म प्रशंसा के अन्त में कवि कहते हैं कि अहिंसा के समान कोई व्रत नहीं, सत्य के समान कोई तीर्थ नहीं, उपकार के समान कोई दान-पुण्य नहीं और विष्णु की भक्ति विद्यमान हो तो अन्य मोक्ष-साधन व्यर्थ हैं।

संसार के सभी आकर्षण और सुख इन्द्रजाल के समान भ्रममात्रा हैं। बालावस्था, यौवन तथा वार्धक्य सभी अस्त-व्यस्त करते हैं। वैराग्य के अभाव में सब कुछ शोकमय है।

क्षेमेन्द्र परमपुरुषार्थ मोक्ष में ही जीवन की सार्थकता सिद्ध करते हैं। अन्य सभी इस पुरुषार्थ के साधन-मात्र हैं। काम के समस्त व्यापार अन्ततः शोक, वियोग तथा रोग में परिणत होते हैं, अतः मोक्ष-रूप फल देने वाले विवेक को नमस्कार किया जाता है (सेकं मोक्षफलस्य संशयतरोरेकं विवेकं नुमः, 4.1)। संसार के सभी आकर्षण और सुख इन्द्रजाल के समान भ्रममात्र हैं। बालावस्था, यौवन तथा वार्धक्य सभी अस्त-व्यस्त करते हैं। वैराग्य के अभाव में सब कुछ शोकमय है। बार-बार आने-जाने (भव) के कारण जीवन व्यर्थ चला गया (यातं वृथा जीवितम्)। संसार में स्नेह ही बार-बार जन्म लेने का मलिन कारण है।

शम (चित्तशान्ति) ही एकमात्र निर्दोष है, अन्य सभी पदार्थ दोषों से भरे हैं -

आक्रान्तं पिशुनैर्नरेन्द्रभवनं विद्यागृहं मत्सरैः

आयासैर्द्रविणं कुलं कुतनयैर्नानावियोगैः सुखम्।

साधुत्वं खलव चनापरिभवैश्चिन्तासहस्रैर्मनः

तन्नास्त्येव न यत्सदोषकलुषं निर्दोष एकः शमः॥[8]

इसी प्रकार सांसारिक पदार्थों में सर्वत्र भय दिखाते हुए कवि ने केवल वैराग्य को ही भय-रहित कहा है (सर्वं नाम भवे भवेद् भयमहो वैराग्यमेवाभयम् 4.7)। संसार के सभी पदार्थ व्यर्थ होते हैं, अतः यह व्यर्थता किसे शान्ति का उपदेश नहीं देती (न कस्य कुर्वन्ति शमोपदेशम्, 4.15)?

विरक्त हो जाने पर इच्छा-रूपी मयूरी सन्तोष-रूपी जल पीकर रहती है, अन्तःकरण-रूपी हरिण इधर-उधर घूमकर शान्त हो जाते हैं और शीतल शान्ति-तरु के नीचे मत्तचित्त-रूपी गजराज अपना ताप मिटाता है। जब भोग का सुख अतीत हो जाता है (याते भागे स्मरणपदवीम्) निःस्पृह लोगों के चित्त को शोक छू भी नहीं पाता। शरीर के विनाश होने का चिन्तन समय-समय पर होना चाहिए। निर्विकार चित्त में शान्ति की कामना कवि को निरन्तर होती है (शान्तिश्चित्ते स्थिरसुखसखी निर्विकारे ममास्तु, 4.20) मोक्ष का मार्ग तभी बाधा-रहित होता है जब राग, भोग, मोह - ये सब नष्ट हो जाते हैं -

रागेण सार्धं वयसि प्रयाते, गतेषु भोगेषु सह स्पृहाभिः।

देहे च मोहेन समं प्रलीने, निरर्गलोऽसावपवर्गमार्गः॥ (4.22)

मानव भवग्रन्थियों को दूर करने के लिए रूप को सन्ध्याकालीन धूप, भोग को मोह, यौवन को क्षणिक स्मित, बन्धुसमागम को स्वप्न तथा शरीर को मार्ग का झरना (तनुमपि प्रस्थानपुण्यप्रपाम्) समझता रहे (4.23)। अन्त में वे कहते हैं - सर्वक्लेशविनाश-निर्वृतिरसः को नाम मोक्षात्परः इस प्रकार क्षेमेन्द्र ने ''चतुर्वर्गसंग्रह'' में पुरुषार्थचतुष्ट्य के वर्णन के क्रम में धर्म के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए मोक्ष को परम आनन्दस्वरूप परम पुरुषार्थ कहा है।

संदर्भ

1. चतुर्वर्गसंग्रह, 1.2
2. चतुर्वर्ग॰, 1.1
3. चतुर्वर्ग॰, 1.5
4. चतुर्वर्ग॰, 1.8
5. चतुर्वर्ग॰, 1.14
6. चतुर्वर्ग॰, 1.15
7. चतुर्वर्गसंग्रहः, 1.17
8. चतुर्वर्ग॰, 4.6

संपर्कः व्याख्याता, संस्कृत विभाग, धर्मसमाजसंस्कृत महाविद्यालय, मुजफ्फरपुर, (बिहार)

❑❑❑

राजनीति विज्ञान पर कुछ बेहतरीन पुस्तकें

• भारत का संविधान • सामाजिक संरचना • भारतीय राजनीतिक व्यवस्थाः दशा एवं दिशा • भारतीय राजनीति : उभरते मुद्दे • राजनीति के प्रमुख वाद • दलीय व्यवस्था तथा राजनीतिक प्रक्रिया • नौकरशाही एवं विकास • राजनीतिक वादों का अध्ययन • भूमंडलीकरण : विविध आयाम • भारतीय शासन एवं राजनीति • प्रजातंत्र • भारत में सामाजिक आन्दोलन • धर्म निरपेक्षता की आवश्यकता • भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस

पुस्तकें मंगाने के लिए लिखें-

पुष्पांजलि प्रकाशन

एल-46, गली नं. 5, शिवाजी मार्ग,
करतार नगर, दिल्ली-110053
फोन : 9811710900

राजनीति विज्ञान

गांधी दर्शन में अहिंसा की अवधारणा

सरोज राम

जैन धर्म में अहिंसा की अनुशंसा बड़े ही कठोर ढंग से की गयी है। यहाँ तो किसी के प्रति मन में बुरे विचार आना भी हिंसा है। जैन धर्म में अहिंसा के पालन में कहा गया है कि इसका पालन मन में, वचन में तथा कर्म में- तीनों स्तरों पर होना चाहिए।

'अहिंसा' का अर्थ 'हिंसा न करना' कभी-कभी इस शब्द की व्यापकता को स्पष्ट करने के प्रयत्न में यह कहा जाता है कि 'हत्या नहीं करना'। किसी भी जीव को कष्ट या मारने की भावना का त्याग ही अहिंसा है। लेकिन गाँधी जी ने अहिंसा की इससे व्यापक परिभाषा बताते हुए कहा है कि किसी को न मारना अहिंसा का एक अंग है। अहिंसा इसके अतिरिक्त कुछ और भी है, किसी के प्रति कुविचार, विद्वेष, क्रोध, किसी का अहित चाहना, किसी की वस्तु पर अधिकार करने की अनाधिकार चेष्टा, मिथ्या भाषण आदि भावनाओं का त्याग भी अहिंसा है। इसके अतिरिक्त वाणी और संवेगों पर नियंत्रण रखना भी अहिंसा है।

अहिंसा सभी धर्मों का सार है। महाभारत में लिखा है-

अहिंसा परमो धर्मः,
अहिंसा परमं तपः।
अहिंसा परमं सत्यं,
यतो धर्मः प्रवर्त्तते।।

महाभारत के समान ही अन्य ग्रन्थों जैसे पातंजलि के महाभाष्य में आत्मशुद्धि के उपकरणों में अहिंसा को प्रथम स्थान दिया गया है। इसी प्रकार जैन धर्म में अहिंसा पर सर्वाधिक बल दिया गया है। इसमें किसी भी प्रकार से जीव की हत्या पर प्रतिबन्ध किया गया है। जैन धर्म में अहिंसा की अनुशंसा बड़े ही कठोर ढंग से की गयी है। यहाँ तो किसी के प्रति मन में बुरे विचार आना भी हिंसा है। जैन धर्म में अहिंसा के पालन में कहा गया है कि इसका पालन मन में, वचन में तथा कर्म में - तीनों स्तरों पर होना चाहिए। इतना ही नहीं जैन धर्म में कहा गया है कि इन तीनों स्तरों पर स्वयं तो हिंसा का त्याग करना ही है, इन तीनों स्तरों में अन्य से हिंसा करना, तथा हिंसा होने देना - ये सब भी हिंसा ही है। गाँधी जी को यह अवगत था कि सामान्य जीवन में सामान्य मनुष्यों के लिये अहिंसा का इस कठोर रूप में पालन न व्यावहारिक है - न सम्भव, अत: वे अहिंसा के निषेधाात्मक शर्तो को उतना कठोर नहीं बना देते जितना कठोर जैन धर्म में बनाया गया है। वे समझते हैं कि कुछ-कुछ परिस्थितियों में हिंसा का पूर्ण त्याग तो सम्भव नहीं है - जैसे 'श्वांस लेने में, खाने में, पीने में आदि। इन क्रियाओं में जीवों का हनन हो ही जाता है, तथा उससे बचना प्राय: असम्भव है। इसके अतिरिक्त गाँधी यह भी मानते हैं कि कुछ विशेष परिस्थितियों में 'हिंसा' भी अनुशंसित है। मान लें एक पागल बन्दूक लेकर लोगों की हत्या करता चल रहा है, यदि उसे अन्य ढंग से पकड़ा नहीं जा रहा है, और वह हत्या ही करता जा रहा है, तो उसकी हत्या अनुशंसित हो सकती है।

इस प्रकार देखते हैं कि गाँधी जी के अनुसार कुछ विशेष परिस्थितियों में प्राण-लेना अनुशंसित भी है। अत: हम कह सकते हैं कि 'हत्या' अथवा 'किसी को पीड़ा पहुँचाने' को 'हिंसा' तभी कहा जा सकता है जब इसे 'हिंसा' बनाने वाली कुछ शर्त उपस्थित हो। ये शर्त है, क्रोध, अहंकार, घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, स्वार्थ, बुरे अभिप्राय तथा ऐसी ही अन्य मानसिक वृत्तियां। इन्हीं वृत्तियों के अन्तर्गत की गयी 'हत्या' या पीड़ा 'हिंसा' के उदाहरण कहे जा सकते हैं।

अहिंसा के दो पक्ष हैं - अभावात्मक और भावात्मक। किसी का क्रोध, द्वेष के कारण हिंसा न करना अहिंसा का अभावात्मक रूप है। अहिंसा का वास्तविक एवं पूर्ण स्वरूप भावात्मक पक्ष में दिखाई देता है। इसमें भलाई

गाँधी जी कहते हैं कि अहिंसा में बलिदान तथा कष्ट, दु:ख आदि निहित ही है। प्रेम अपने से परे जाना है 'स्व' से ऊपर उठना है।

करना आवश्यक हैं। अहिंसा में चार मुख्य तत्व हैं - प्रेम, धैर्य, अन्याय का विरोध और वीरता।

गाँधी जी का कहना है कि अहिंसा का भावात्मक स्वरूप वस्तुत: 'प्रेम' है। प्रेम का अर्थ ही है क्रोध, बदले की भावना, द्वेष आदि से मन को मुक्त रखना। गाँधी जी के अनुसार प्रेम वह शक्ति है जो मन को पूर्णतया स्वच्छ कर देती है, तथा व्यक्ति को श्रेष्ठतर बनाती है। इसी कारण वे 'प्रेम' के अन्तर्गत दया, क्षमा, करुणा सहानुभूति, परकल्याण, बर्दाशत करने की शक्ति आदि जैसी - उच्चतर भावनाओं को समाविष्ट करते हैं। प्रेम तब कठिन हो जाता है जब हमें कहा जाता है कि जो तुम्हारा विरोधी है उससे भी प्रेम करो। यही कारण है कि प्रेम के लिए आन्तरिक शक्ति की आवश्यकता होती है और यही कारण है 'गाँधी जी कहते हैं कि प्रेम निर्बलों के लिए नहीं है, सशक्तों के लिये है, संकल्प शक्तिवालों के लिए है। अहिंसा का पालन वही कर सकता है जिसने भय को जीत लिया है। गाँधी जी कहते हैं कि एक असहाय चूहा जो बिल्ली से बचने के लिए भागता है, अहिंसक नहीं है। वह तो निर्बल है यदि उसमें शक्ति होती तो वही बिल्ली को खा जाता।

इस प्रकार गाँधी जी का कहना है कि निर्बल तथा कमजोर व्यक्ति अहिंसा का उपयोग नहीं कर सकता बल्कि ऐसा व्यक्ति जिसमें यह बल भी है कि वह हिंसा का उत्तर हिंसा से दे सके - वह यदि हिंसा का त्याग करता है, तो वही अहिंसा का उपयोग कर सकता है। ''बल का उत्तर बल में देने की शक्ति के रहने पर भी बल के स्थान पर प्रेम करना अहिंसा है।'' गाँधी जी इन बातों को स्पष्ट करते हैं, "Nonviloence presupposes the capacity to Strike"। अत: गाँधी जी का कहना है कि जो सचमुच सबल एवं सशक्त हैं, वे भौतिक बल प्रहार से विजय नहीं पाते, बल्कि निर्भयता तथा प्रेम से विजय पाते हैं।

इसी कारण गाँधी जी कहते हैं कि अहिंसा में बलिदान तथा कष्ट, दु:ख आदि निहित ही है। प्रेम अपने से परे जाना है 'स्व' से ऊपर उठना है। अत: वही प्रेम कर सकता है जो नि:स्वार्थ बन सका हो जो अब पाना नहीं चाहता, बल्कि देने के लिए इच्छुक है।

इस प्रकार गाँधी जी का कहना है कि अहिंसा पालन करने वाला झुकता नहीं है, विरोधी को झुकना पड़ता है। अहिंसा का पालन तब तक संभव नहीं है, जब तक ईश्वर में अटूट आस्था न हो। अहिंसा के पालन के लिए जिस असीम शक्ति की आवश्यकता होती है, वह तभी सम्भव हो सकती है जब ईश्वर में अटूट आस्था हो जाए।

संदर्भ ग्रन्थ सूची:-

यंग इंडिया 12-8-26

हरिजन, जुलाई 20,1935

Ibid 12-6-22

समकालीन भारतीय दर्शन-

बी०के० लाल

प्रतियोगिता दर्पण, दिसम्बर।

❑❑❑

मुंशी प्रेमचन्द साहित्य

निर्मला	125.00	प्रतिज्ञा	125.00
अहंकार	150.00	सेवासदन	200.00
सद्गति	100.00	गबन	200.00
ग्राम्य जीवन की कहानियां	150.00	कफन	200.00
न्याय	100.00	गोदान	250.00
चांदी की डिबिया	100.00	वरदान	125.00
कलम, तलवार और त्याग	125.00	प्रेमाश्रम	300.00
चुनी हुई कहानियां	200.00	कर्मभूमि	225.00
नारी जीवन की कहानियां	200.00	रंगभूमि	350.00
होली का उपहार	150.00	मानसरोवर (भाग-1)	200.00
मानसरोवर (भाग 1 से 8)	1600.00		

पुस्तकें मंगाने के लिए लिखें-

पुष्पांजलि प्रकाशन

एल-46, गली नं. 5,
शिवाजी मार्ग,
करतार नगर,
दिल्ली-110053
फोन : 9811710900

नारी सशक्तिकरण में महात्मा गाँधी का योगदान

डॉ. अशोक कुमार

ब्रिटिश औपनिवेशिक काल से भारत में नारी सशक्तिकरण की शुरूआत मानी जा सकती है, क्योंकि इसी काल में अनेक सुधारवादी आन्दोलनों का जन्म हुआ। ब्रह्म समाज, आर्य समाज, प्रार्थना समाज तथा अन्य कई आन्दोलनों ने नारी की स्थिति में सुधार हेतु आवाज बुलन्द किया।

नारी सृष्टि की अद्‌भुत व अद्वितीय रचना है; सभ्यता एवं संस्कृति के निर्माण-विकास में भी इसकी अद्वितीय भूमिका रही है। यह जगत जननी है, परन्तु इतिहास इसका साक्षी है कि भारतीय समाज में उत्तर वैदिक काल से नारी जाति शोषण, दमन एवं उत्पीड़न का शिकार होती रही है; उसे नि:शक्त 'अबला' बनाया गया है। यदि संक्षिप्त रूप से भारतीय इतिहास में महिलाओं की स्थिति पर एक नजर डालें तो नारी के प्रति व्यवहार में प्रशंसा व श्रद्धा से तिरस्कार व दुर्व्यवहार तक की अस्थिरता दर्ज है। वैदिकयुगीन भारतीय समाज में नारी की स्थिति अच्छी थी, क्योंकि उन्हें पुरूष के समान शिक्षा, धर्म, राजनीति, सम्पत्ति व उत्तराधिकार के साथ अन्य अधिकार प्राप्त थे। अदिति, लोपमुद्रा, गार्गी, मैत्रेयी, घोषा और अपाला जैसी असाधारण प्रतिभाशाली नारियां वैदिक युग के शिक्षित पुरूषों के समकक्ष एवं समान थी। मनीषी याज्ञवलक्य ने वयस्क महिलाओं को अपना जीवन साथी चुनने की स्वतन्त्रता प्रदान किया था। उत्तरवैदिक काल से नारी जाति की स्थिति उतरोत्तर रूप में दयनीय होती गई तथा ऐसी धारणा विकसित व सशक्त हुई कि शारीरिक, मानसिक, आर्थिक तथा सभी प्रकार की प्रस्थिति में पुरूष की तुलना में नारी दुर्बल है; वह पुरूष की सहचारी है तथा उसका कार्यक्षेत्र घर की चहारदीवारी तक ही सीमित है। समाज में नारी जाति का अस्तित्व व प्रस्थिति स्वतंत्र व स्वायत्त न होकर पति की प्रस्थिति पर अवलम्बित है। मध्यकालीन भारत में विविध कारकों के प्रभाव में नारियों की स्थिति अति दुर्बल हो गई तथा वह पर्दा प्रथा, सती प्रथा, बाल विवाह जैसी सामाजिक कुरीतियों का शिकार रही। स्पष्टत: उत्तर वैदिक काल से लेकर लगभग ब्रिटिश साम्राज्यवाद की औपचारिक स्थापना से पूर्व तक भारतीय समाज में नारी अत्यधिक शोषित व उत्पीड़ित रही है।

ब्रिटिश औपनिवेशिक काल से भारत में नारी सशक्तिकरण की शुरूआत मानी जा सकती है, क्योंकि इसी काल में अनेक सुधारवादी आन्दोलनों का जन्म हुआ। ब्रह्म समाज, आर्य समाज, प्रार्थना समाज तथा अन्य कई आन्दोलनों ने नारी की स्थिति में सुधार हेतु आवाज बुलन्द किया। सरकार ने सती प्रथा उन्मूलन अधिनियम 1829; विधवा पुनर्विवाह अधिनियम 1856 और कानूनी विवाह अधिनियम 1872 पारित किया। सामाजिक सुधार आन्दोलनों एवं कानूनों के क्रियान्वयन से नारियों की दुर्दशा में कुछ सुधार हुआ तथा नारी जागृति को थोड़ा बल जरूर मिला, परन्तु पुरुषीय समाज के आचरण में अधिक परिवर्तन नहीं दिखाई दिया।

आधुनिक भारत में महिला सशक्तिकरण में महात्मा गाँधी का योगदान महत्वपूर्ण है। इसके विवेचन से पूर्व नारी सशक्तिकरण की अवधारणा को स्पष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है। नारी सशक्तिकरण का तात्पर्य है- महिला द्वारा अपने अस्तित्व को स्थापित करके अपने व्यक्तित्व का विकास करना; मानव होने के नाते समस्त मानवाधिकार को अविभेद रूप में प्राप्त करना; अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास के लिए तमाम सुविधाओं को समान रूप में प्राप्त करना; व्यवस्था के सभी स्तर पर समान भागीदारी का निर्वहन करना। नारी सशक्तिकरण के लिए पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक स्तर पर समानता की स्थापना आवश्यक है। सार रूप में, स्त्री जाति को 'अबला' से 'सबला' तथा पुरूष जाति के समान बनाना ही नारी सशक्तिकरण है।

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के तीसरे चरण में महात्मा गाँधी की भूमिका महत्वपूर्ण ही नहीं, केन्द्रीय रही है। महात्मा गाँधी की भूमिका राष्ट्रीय आन्दोलन के सत्य व अहिंसा के प्रयोग को लेकर ही विशिष्ट नहीं

है, बल्कि उन्होंने स्वतन्त्रता के राजनीतिक तथा सामाजिक लड़ाई को एक साथ जोड़ कर उसे मज़बूत बनाया है।

महात्मा गाँधी की सामाजिक लड़ाई में नारी सशक्तिकरण के प्रयास को महत्वपूर्ण माना गया है, उनके **'विचार दर्शन'** में भी लिंग समानता पर बल दिया गया है। गाँधी जिस रामराज्य 'खुशहाल समाज' की परिकल्पना करते हैं वह सत्य अहिंसा, परोपकार, परमार्थ, सादगी, सदाचार, सहिष्णुता जैसे अनेकानेक मानवीय आध्यात्मिक मान्यताओं पर आधारित है। इन मान्यताओं का सम्बन्ध समतामूलक समाज, जिसमें स्त्री-पुरुष सभी समान हों, को साकार करना है। गाँधी ने नारी सशक्तिकरण हेतु उसकी शिक्षा व स्वास्थ्य पर बहुत अधिक ध्यान दिलाना चाहा। उनका कहना था कि ''एक बाप का शिक्षित होना हमें आश्वस्त नहीं करता है कि उसका अपना परिवार शिक्षित हो जायेगा, परन्तु एक शिक्षित माँ का परिवार निश्चित ही शिक्षित हो जायेगा, इसकी गारंटी दी जा सकती है।'' उन्होंने नारी के व्यक्तित्व के संतुलित विकास हेतु बाल विवाह पर रोक लगाने की बात कही तथा विधवा विवाह का समर्थन किया। उनके द्वारा विधवाओं के लिए शिक्षण और

''एक बाप का शिक्षित होना हमें आश्वस्त नहीं करता है कि उसका अपना परिवार शिक्षित हो जायेगा, परन्तु एक शिक्षित माँ का परिवार निश्चित ही शिक्षित हो जायेगा, इसकी गारंटी दी जा सकती है।''

धंधे की सुन्दर प्रबन्ध व्यवस्था स्थापित करने की बात कही गयी, जिससे भी नारी सशक्तिकरण को बल मिलता है।

गाँधी के विचार में स्त्रियों की दुर्दशा के लिए पुरुषों की स्वार्थी भावना जिम्मेदार रही है। बाल विवाह, पर्दा प्रथा तथा स्त्रियों को पिता की सम्पत्ति में हक नहीं देना, यह सब पुरुषों के लोभ के कारण है। गाँधी जी ने लिखा था, ''मैं नारी जाति के अधिकारों के विषय में कोई समझौता नहीं करना चाहता। मेरे विचार में लड़का और लड़की दोनों को समान अधिकार मिलना चाहिए। स्त्रियों में जैसे-जैसे शिक्षा का विकास होगा, वे अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हो जायेंगी तथा वे समाज में असमानता दूर करने का प्रयत्न करेंगी, लेकिन वास्तव में नारी जाति की दुर्दशा का कारण पुरुषों में अधिक शक्ति और यश पाने का लोभ है। पुरुष ने बराबर स्त्री को अपनी सम्पति समझा है और समाज में चूँकि सम्पति का अधिकार पुरुषों के हाथ में है, जिसने उन्हें समाज में नारी जाति पर अधिकार प्रदान कर दिया है।''

महात्मा गाँधी ने स्वराज्य की कल्पना में राजनीतिक स्वाधीनता के साथ-साथ सामाजिक, आर्थिक, नैतिक और शैक्षणिक उत्थान को आवश्यक समझा। गाँधी जी के प्रभाव में बड़ी संख्या में स्त्रियों ने राजनीतिक जीवन में भाग लेना शुरू किया, उनके नेतृत्व में स्त्रियों की अपार आस्था थी। उन्होंने 1971 के चम्पारण सत्याग्रह के दौरान देखा कि चम्पारण के गाँवों में स्त्रियों में अशिक्षा तथा पर्दा प्रथा बड़े पैमाने पर विद्यमान है। इसलिए गाँधी ने चम्पारण के कई गाँवों में शिक्षा के प्रसार के लिए स्थानीय लोगों के सहयोग से अनेक स्कूल भी खोले। बम्बई से बबन गोखले, उनकी पत्नी श्रीमती अवन्तिका बाई गोखले तथा अपने पुत्र देवदास गाँधी को बुलवा कर पाठशाला का संचालन करवाया। 1927 में गाँधी जी ने बिहार का दौरा किया तो उस वक्त उन्होंने दरभंगा में बड़ी संख्या में महिलाओं को पर्दे में देखा। इससे उन्हें बहुत दु:ख दुआ और उन्होंने 3 फरवरी, 1927 की यंग इण्डिया

मेरे विचार में लड़का और लड़की दोनों को समान अधिकार मिलना चाहिए। स्त्रियों में जैसे-जैसे शिक्षा का विकास होगा, वे अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हो जायेंगी तथा वे समाज में असमानता दूर करने का प्रयत्न करेंगी।

में पर्दा प्रथा के विरूद्ध एक लेख लिखा, जिसमें उन्होंने देश के शिक्षित लोगों से शिक्षा का प्रचार-प्रसार कर ''पर्दा-प्रथा'' उठाने की अपील की।

1929 में बाल-विवाह को समाप्त करने के लिए हरविलास शारदा के प्रयासों से ''शारदा ऐक्ट'' केन्द्रीय विधान सभा दिल्ली से पास किया गया। इसके अनुसार शादी के लिए लड़कों की उम्र 18 वर्ष तथा लड़कियों की उम्र 14 वर्ष निश्चित की गई। बाद में लोगों के विरोध के कारण लड़कियों की उम्र 15 वर्ष कर दी गई। गाँधी जी इन कानूनों के अलावा अपने प्रयासों से महिलाओं को समान अधिकार दिलाना चाहते थे। उनकी दृष्टि में स्त्री पुरूषों की अपेक्षा नम्र, श्रद्धालु त्यागी और कष्ट सहने में अधिक सक्षम होती है। इसलिए गाँधी जी ने 20 फरवरी, 1918 को बम्बई के भगिनी समाज में भाषण देते हुए कहा था स्त्री पुरूष की सहचरी है और उसे प्रकृति की ओर से समान मानसिक योग्यता प्राप्त है। अत: उसे पुरूष के बराबर समाज में अधिकार मिलना चाहिये। मार्च-अप्रैल, 1930 में गाँधी ने जब नमक सत्याग्रह के दौरान अपनी दाण्डी यात्रा शुरू की तब भारत की महिलाएँ गाँधी के आह्वान पर पर्दे से बाहर

कांग्रेस के कार्यक्रम के अनुसार महिलाओं ने विदेशी कपड़ों की दुकानों, विदेशी वस्तुओं की दुकानों तथा शराब की दुकानों पर धरना प्रदर्शन किया जिससे इन दुकानों को लगभग बन्द करना पड़ा।

आयी तथा सक्रिय राजनीति के सत्याग्रह आन्दोलन में बढ़-चढ़ कर भाग लिया। कांग्रेस के कार्यक्रम के अनुसार महिलाओं ने विदेशी कपड़ों की दुकानों, विदेशी वस्तुओं की दुकानों तथा शराब की दुकानों पर धरना प्रदर्शन किया जिससे इन दुकानों को लगभग बन्द करना पड़ा। इस कार्यक्रम में महिलाओं को लाठी चार्ज और जेल की सजा सहनी पड़ी। इस कार्यक्रम में जिन प्रमुख महिलाओं ने भाग लिया उनमें श्रीमती सरोजनी नायडू, कस्तूरबा गाँधी, श्रीमती कमला नेहरू, श्रीमती विजया लक्ष्मी पंडित तथा श्रीमती कमला देवी चट्टोपाध्याय प्रमुख थी।

गाँधी जब द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने 1931 में लंदन गए, तब इटली में उन्होंने भारतीय महिलाओं की अपने एक भाषण में बड़ी प्रशंसा की थी। उन्होंने कहा था, ''संग्राम में महिलायें पुरुषों की तरह सक्रिय भाग ले सकती हैं। भारत की स्त्रियों ने यह कर दिखाया है; उनलोगों ने पर्दा को फेंक कर नमक बनाया, विदेशी कपड़ों और विदेशी शराब की दुकानों पर धरना दिया तथा लाठीचार्ज तथा जेल का भी मुकाबला किया।''

महिलायें सन् 1939 तक भारतीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सम्मानित होने लगी थी। 1939 तक भारत के विभिन्न प्रान्तों के विधान सभाओं एवं देशी राज्यों में 80 महिला सदस्य निर्वाचित हुई थी। महिलाओं के प्रभाव और पद को देखते हुए भारत का स्थान दुनिया में तीसरा हो गया था। संयुक्त राज्य अमरीका में महिलायें सबसे अधिक उच्च पदों पर थी। दूसरा स्थान सोवियत यूनियन का था और तीसरा स्थान भारत का ही था। यह सब गाँधी के चमत्कारिक नेतृत्व का प्रभाव था। उन्होंने अपने भाषणों में इस बात पर जोर दिया कि महिलाओं की दशा सुधारने से हिन्दू धर्म का उत्थान होगा। 1931 से कांग्रेस द्वारा ''सेवा दल कैम्प'' का आयोजन किया जाने लगा, इसमें महिलाओं को देश सेवा करने की ट्रेनिंग दी जाने लगी।

1931 के कांग्रेस के करांची अधिवेशन में एक प्रस्ताव पास करके भारत के संविधान में मौलिक अधिकारों की घोषणा की गई। इस प्रस्ताव में 14 धारायें थी और उसमें चौथी धारा के अनुसार स्वाधीन भारत में जाति, धर्म और लिंग के आधार पर पक्षपात नहीं किया जायेगा। सभी स्त्री पुरूष तथा सभी धर्मों तथा जातियों को मानने वाले कानून की निगाह में समान होंगे तथा उनके साथ नौकरी और व्यवसाय के मामले में कोई भेद-भाव नहीं किया जायेगा। भारत के आजाद होने पर 1950 में नया संविधान लागू किया गया जिसमें महिलाओं सहित सभी नागरिकों को मताधिकार का अधिकार दिया गया।

1920 से 1947 के बीच देश में अनेक महिला संस्थाओं ने स्थानीय एवं राष्ट्रीय स्तर पर काम करना शुरू किया। देश के विभिन्न भागों में आर्य महिला समाज, सेवा सदन तथा विधवा आश्रम पहले से ही काम कर रहे थे। 1947 तक इनकी संख्या लगभग 200 पहुँच चुकी थी। कुछ अखिल भारतीय महिला संस्थायें भी काम करने लगी थी जिनमें नेशनल काऊन्सिल ऑफ वीमेन इन इण्डिया, दि ऑल इण्डिया वीमेन कान्फरेन्स, द यंग वीमेन्स क्रिश्चियन एसोसिएशन तथा फेडरेशन ऑफ यूनिवर्सिटी वीमेन प्रमुख थे। नेशनल काऊन्सिल ऑफ वीमेन इन इण्डिया तथा ऑल इण्डिया वीमेन कान्फरेन्स के नेतृत्व में महिला जागरण आन्दोलन तेजी से आगे बढ़ा तथा महिलाओं के अधिकारों की माँग होने लगी। 1944 में कस्तूरबा के निधन के पश्चात् कस्तूरबा गाँधी राष्ट्रीय स्मारक कोष की स्थापना हुई, जिसका उद्देश्य गाँवों में रहनेवाले बच्चों तथा स्त्रियों की दशा सुधारने के लिए विशेष प्रयास करना था। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत ग्राम सेविकाओं को गाँवों में सेवा करने के उद्देश्य से भेजा गया।

सन्दर्भ :

1. अल्तेकर, अनंत सदाशिव, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, लीडर प्रेस प्रयाग, 1946 ।
2. आहूजा, राम, राइट्स ऑफ वोमेन, रावत पब्लिकेशन, 3-एन-20 जवाहर नगर, जयपुर, 1992 ।
3. चंद्र, विपिन, भारत का स्वतन्त्रता संघर्ष, हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, 1994 ।
4. चटर्जी, ए. शोभा, द इंडियन वोमेन, सर्च फॉर एन आइडेनटिटी, विकास पब्लिकेशन हाऊस, नई दिल्ली।
5. कुमार, अशोक, वोमेन इन कान्टेम्पोरटरी इंडियन सोसाइटी, अनमोल, प्रकाशक, नई दिल्ली ।
6. कौशिक सुशीला, वोमेन पार्टिशिपेशन इन पॉलिटिक्स, विकास पब्लिकेशन, नई दिल्ली 1993 ।
7. शर्मा, बालाराम, वोमेन एण्ड सोशल चेन्ज, अनमोल पब्लिकेशन, दिल्ली ।
8. शर्मा, लालता प्रसाद, भारत की विदुषी स्त्रियाँ पुस्तक मंदिर, मथुरा, 1967 ।
9. कृष्ण कृपलानी : गाँधी जी का जीवन-उन्हीं के शब्दों में, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, 1983।
10. कृपलानी, जे. वी. दि, गांधियन वे, वोरा एण्ड के. बम्बई, 1938 ।
11. गाँधी की निजी रचनाएँ, भाषण-संग्रह आदि ।
12. विभिन्न प्रकाशनों से प्रकाशित रचनाएँ एवं पत्र-पत्रिकाएँ ।

संपर्क: स्कूल ऑफ पॉलिटिकल साइंस नोवेल्टी बिल्डिंग, द्वितीय तल, अशोक राजपथ, निकट-खुदा बख्श लाइब्रेरी, पटना-4।

❑❑❑

नयी पंचायती व्यवस्था में महिलाएं

मोनालिसा

गुबरौल पंचायत, जहां सुखिया नाम की एक आदिवासी महिला का किस्सा आज भी लोगों की जुबान पर है। सुखिया देवी कुछ दिन पहले भोपाल के एक अस्पताल में जीवन और मौत से जूझ रही थी। लगभग 80 फीसदी जल चुकी सुखिया बाई को राज्य सरकार ने सरकारी विमान से इलाज के लिए दिल्ली भेजा, जहां अंततः उसने दम तोड़ दिया। उनके साहस और पहल को लोग आज भी नहीं भुला पाये हैं। खुद को आग में झोंक लेने का कारण था पंचायत विभाग के अधिकारियों का भ्रष्टाचार।

मध्य प्रदेश के सिहोर जिले की जमुनिया तालाब ग्राम पंचायत की गीता राठौर 1995 में आरक्षित सीट से सरपंच चुनी गयीं। अपने इस कार्यकाल में गीता ने अपने काम से ग्रामीणों को मोहित कर लिया। परिणामस्वरूप 2000 में जब वे गैर-आरक्षित सीट से चुनाव लड़ने के लिए आगे आयीं तो किसी अन्य प्रत्याशी को चुनने के बजाय लोगों ने उन्हें ही चुना। 1995 के पूर्व की गीता के व्यक्तित्व पर गौर फरमाया जाये, तो वह एक कुशल गृहिणी के अलावा गांव के मामलों से दूर रहनेवाली, अपनी गृहस्थी में निमग्न एक महिला थीं। लेकिन आज उनके पास एक पंचायत की जिम्मेदारी है। अब उनका कौशल राजनीतिक प्रबंधन में देखा जा सकता है। मौके को चूकना वह नहीं जानती। यह उनकी कुशलता ही कही जायेगी कि आज जमुनिया तालाब पंचायत हर मामले में सम्पन्नता में है, बच्चों का स्कूल हो या पेयजल की सुविधा या फिर वहां की सड़कें- हर चीज दुरुस्त नजर आती है।

स्थानीय शासन व्यवस्था की बुनियादी इकाई के रूप में पंचायत की भूमिका अहम होती है। पंचायतों के लिए सरकार ने कई प्रकार की सुविधाएं मुहैया करायी हैं। लेकिन जानकारी के अभाव में कई योजनाएं पंचायत की जमीन पर उतर नहीं पातीं। गीता राठौर ने इसी दूरी को पाट डाला और वे सभी सुविधाएं पंचायत को उपलब्ध करवायीं जो स्थानीय स्वशासन के माध्यम से संभव हैं। इसके बाद समाज में वर्षो से जारी महिला उत्पीड़न जैसे मामलों पर उन्होंने सख्ती से पाबंदी लगायी। इतना ही नहीं, घरेलू झगड़ों तक का निपटारा भी वह बड़ी तत्परता से करती हैं। पर्यावरण के प्रति जागरूकता और वृक्षारोपण को भी उन्होंने प्रोत्साहित किया। उनके इन कार्यों का ही परिणाम है कि आज गीता राठौर महिला सशक्तिकरण की मिशाल बन गयी है।

मध्य प्रदेश के बैतूल जिले के अंतर्गत आती है गुबरौल पंचायत, जहां सुखिया नाम की एक आदिवासी महिला का किस्सा आज भी लोगों की जुबान पर है। सुखिया देवी कुछ दिन पहले भोपाल के एक अस्पताल में जीवन और मौत से जूझ रही थी। लगभग 80 फीसदी जल चुकी सुखिया बाई को राज्य सरकार ने सरकारी विमान से इलाज के लिए दिल्ली भेजा, जहां अंततः उसने दम तोड़ दिया। उनके साहस और पहल को लोग आज भी नहीं भुला पाये हैं। खुद को आग में झोंक लेने का कारण था पंचायत विभाग के अधिकारियों का भ्रष्टाचार। उन्होंने सुखिया का जीना मुहाल कर दिया था। उन्हें वह गेहूँ भी नहीं मिला, जो पंचायत द्वारा कराये गए कामों के लिए मजदूरों के बीच बांटा जाना था। इसके पहले पंचायत में कुएं की व्यवस्था के लिए वह अपने एक रिश्तेदार से चार हजार रुपया इस आश्वासन पर मांग लायी थी कि कुआं खुद जाने पर पंचायत सचिव उसका भुगतान कर देंगे। वह भी नहीं हुआ। दिन-ब-दिन समस्याएं बढ़ती चली गयीं। एक ओर मजदूर अपनी मजदूरी के लिए तगादा करते, तो दूसरी तरफ रिश्वत के लिए अधिकारियों का दबाव बढ़ रहा था। इन सबसे हताश, परेशान सुखिया देवी को जब कोई रास्ता नहीं सूझा, तो उसने अपने शरीर में आग लगा कर आत्महत्या कर ली।

मदुरै नगर निगम के चुनाव में लीलावती के साथ यह शर्त्त रखी गयी थी कि अगर उनकी जीत होती है, तो वे वार्ड में पेयजल के लिए पाइप बिछवाने की व्यवस्था करेंगी।

तमिलनाडु की लीलावती के साथ भी कमोबेश ऐसा ही हुआ है। 1996 में हुए मदुरै नगर निगम के चुनाव में लीलावती के साथ यह शर्त्त रखी गयी थी कि अगर उनकी जीत होती है, तो वे वार्ड में पेयजल के लिए पाइप बिछवाने की व्यवस्था करेंगी। चुनाव हुआ और लीलावती वार्ड काउंसलर चुनी गयीं। जीत के छह माह बाद ही उन्होंने वार्ड में पानी का पाइप बिछवा दी। पानी आने से पूरे वार्ड में उत्सव-सा माहौल बन गया, लेकिन उसके अगले ही दिन लीलावती की हत्या हो गयी। कारण पाइप बिछ जाने से वार्ड में उन माफिया-सरगानाओं के निहित स्वार्थों को धक्का लग रहा था, जो पूरे वार्ड के निवासियों को मनमानी कीमत पर पानी बेचा करते थे। अपने धंधों में खलल की भनक पाकर वे आतंकित हो उठे, जिसका परिणाम निकला - लीलावती हत्या।

सुखिया देवी हो या लीलावती, उनका कसूर सिर्फ इतना था कि उन्होंने भारत के संविधान के मुताबिक चुनाव लड़ा था, संवैधानिक पद ग्रहण किये और देश के कानून के अनुसार कर्त्तव्य पालन करने का प्रयास किया।

भारत सरकार ने 23 दिसम्बर 1992 को संविधान में 73वाँ एवं 74वाँ संशोधन करते हुए पंचायतों और नगरपालिकाओं को स्वशासन की संस्थाओं का दर्जा दिया और सुनिश्चित किया कि इन स्थानीय निकायों में कम-से-कम एक तिहाई सीटें महिला के लिए आरक्षित हो जायेंगी। एक मौन क्रांति की शुरूआत के रूप में इस व्यवस्था का स्वागत किया गया। एक दशक बाद, हमारे समाने गीता राठौर, सुखिया देवी और लीलावती जैसी पात्र हैं। सवाल यह है कि मौन क्रांति क्या हिंसक क्रांति में बदल चुकी है?

इन दो संविधान संशोधनों का क्रमशः 24 अप्रैल और 1 जून 1993 को देश का कानून बन जाना एक ऐतिहासिक घटना थी, क्योंकि हर पाचवें वर्ष पंचायतों और नगरपालिकाओं में निर्वाचित होने वाले 34 लाख प्रतिनिधियों में दस लाख से ज्यादा महिलायें होती हैं। इतना ही नहीं, एक तिहाई स्थानीय निकायों के प्रमुख पदों पर भी महिलाएं है। इसलिए भारत में हमने 24 अप्रैल को महिला राजनीतिक सशक्तिकरण दिवस के रूप में मनाने का फैसला किया। इसके आशय गहरे हैं।

1 जून 1993 को देश का कानून बन जाना एक ऐतिहासिक घटना थी, क्योंकि हर पाचवें वर्ष पंचायतों और नगरपालिकाओं में निर्वाचित होने वाले 34 लाख प्रतिनिधियों में दस लाख से ज्यादा महिलायें होती हैं।

नयी पंचायतों का यह एक दशक कुल मिलाकर बहुत निराशाजनक नहीं जान पड़ता है। हमारे समाज में जिस तरह के सामाजिक-राजनीतिक अवरोध हैं, जैसे सामाजिक विषमता, जाति प्रथा, पितृसत्ता, सामंती मनोवृत्ति, निरक्षरता, असमान विकास आदि, उन्हें देखते हुए बहुत-सी ऐसी चीजें हुई हैं, जिन पर हम गर्व कर सकते हैं।

स्थानीय निकायों का चुनाव हर पांच वर्ष में होना आज आम बात है। यद्यपि शुरू के वर्षों में देश के प्रायः सभी राज्यों ने, वहां चाहे जिस पार्टी का शासन हो, नियमित चुनाव के संवैधानिक प्रावधान की अवहेलना की। जहां तक ग्राम से जिला स्तर तक निर्णय प्रक्रिया में वंचित तबकों को शामिल करने की बात है - पिछला दशक एक अनवरत प्रगति का साक्षी रहा है। इससे स्त्रियां सबसे ज्यादा लाभान्वित हुई हैं। लगभग 30 लाख महिलाएं स्थानीय स्वशासन के चुनावों में हिस्सा लेती हैं। यह मान लें कि प्रत्येक सीट के लिए तीन महिलाएं दावेदार होती हैं, तो कहा जा सकता है कि लगभग एक करोड़ महिलाएं चुनाव मैदान में उतरती हैं। एक पितृसत्तात्मक और पुरूष वर्चस्व वाले समाज में यह कोई छोटी उपलब्धि नहीं है।

इस अभूतपूर्व और साहसिक पहल ने दुनिया को दिखा दिया है कि भारतीय महिलाएं निष्क्रिय अथवा राजनीतिक या सार्वजनिक जीवन के प्रति उदासीन नहीं हैं। सम्पन्न और प्रभावशाली महिलाएं ही पंचायतों और नगरपालिकाओं के चुनाव में हिस्सा नहीं ले रही हैं, बल्कि ऐसी भी महिलाएं कामयाब हो रही हैं, जो आर्थिक दृष्टि से कमजोर और सामाजिक रूप से पिछड़ी हुई पृष्ठभूमि से, सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक अवरोधों को तोड़ते हुए आती हैं।

यह धारणा कि, स्त्रियों को आरक्षण मिलने के बाद नेताओं की रिश्तेदार या उनसे जान-पहचान रखने वाली महिलाएं ही चुनाव लड़ेंगी, पिछले दस वर्षों में गलत साबित हुई है। यह आम शिकायत कि परिवार के पुरुष ही निर्वाचित महिला

आज भारत के सामने सबसे बड़ी चुनौती यह है कि क्या हम स्त्रियों को अत्याचार के इस ढांचे का शिकार होने के वर्तमान चरण को स्त्री-पुरुष समानता के चरण में बदल सकते हैं?

सदस्यों को नियंत्रित करते हैं, आंशिक रूप से सही हो सकती है। विभिन्न अध्ययन दर्शाते हैं कि स्थिति तेजी से बदल रही है। जैसे-जैसे समय बीतता जा रहा है, सामान्य सीटों से पुरुषों को पराजित कर विजयी होनेवाली महिलाओं की संख्या बढ़ती जा रही है। उदाहरण के लिए कर्नाटक में फिलहाल 43 प्रतिशत निर्वाचित होकर सरकारों में आ रही हैं। इस नये व संवेदनशील माहौल का लाभ उठाते हुए कई राज्यों में स्थानीय शासन की इकाइयों में स्त्रियों से जुड़े मामलों में सृजनात्मक प्रयोग हो रहे हैं।

बहरहाल, महिलाओं को अभी भी संरचनागत तथा व्यवस्थागत समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। उदाहरण के लिए, अगर महिला पंचायत अध्यक्ष ताकतवर भूस्वामियों अथवा ठेकेदारों की लॉबी के दबावों के आगे झुकने से इंकार कर देती है, तो उनके विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पारित कर उन्हें पंचायत के प्रमुख के पद से हटा दिया जाता है।

कई राज्यों में यह कानून बनाया गया है कि जिनके दो से ज्यादा बच्चे हैं, वे पंचायत या नगरपालिका का चुनाव नहीं लड़ सकते और अगर कोई सदस्य अपने कार्यकाल में तीसरे बच्चे का बाप या मां बन जाता है, तो पंचायत या नगरपालिका की उसकी सदस्यता समाप्त हो जायेगी। स्पष्टतः यह कानून पक्षपातपूर्ण है। गांवों में रहनेवाली महिलाएं इसकी सर्वाधिक शिकार हो रही हैं। दुर्भाग्यवश देश के कुछ हिस्सों में पुरुष आज भी निर्वाचित महिला सदस्यों/सरपंचों का उचित सम्मान नहीं करते, जबकि इन महिलाओं को दोहरी जिम्मेदारियां भी निभानी पड़ती हैं।

दस वर्ष का सफर कोई बहुत लंबा सफर नहीं है। इस सफर में पंचायतों और महिला प्रतिनिधियों ने कोई जादू नहीं किया है, लेकिन एक छोटी और अर्थपूर्ण शुरूआत हुई है। हम सुखिया देवियों और लीलावतियों की कुर्बानियां और सपनों को व्यर्थ नहीं जाने दे सकते। आज भारत के सामने सबसे बड़ी चुनौती यह है कि क्या हम स्त्रियों को अत्याचार के इस ढांचे का शिकार होने के वर्तमान चरण को स्त्री-पुरुष समानता के चरण में बदल सकते हैं? क्या हम सार्वजनिक जीवन का एक ऐसा ढांचा बना सकते हैं, जिसमें सभी की गरिमा सुनिश्चित हो? यह उत्साह बढ़ानेवाली बात है कि प्रबुद्ध नागरिक, गैर-सरकारी संगठन और मीडिया इस चुनौती का सामना करने की पहल कर रहे हैं और उन्हें किसी हद तक सफलता भी मिल रही है। यदि हस्तक्षेप की यह धारा बनी रहती है, तो वह समय बहुत दूर नहीं है, जब भारत की इस नयी पंचायती राजव्यवस्था में गीता राठौर जैसी महिलाएं सभी सार्वजनिक और शक्तिशाली पदों में से 50 फीसदी पदों को संभाल रही होंगी।

संपर्कः मोनालिसा

एम॰ए॰, पटना विश्वविद्यालय, पटना।

❑❑❑

उपन्यास

राधारानी	शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय	150.00
स्वामी	शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय	150.00
आनन्दमठ	बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय	150.00
काशीनाथ	शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय	125.00
शिकारी	अगाथ क्रिस्टी	200.00
बर्फीली आंधी	अलेक्सांद्र पुश्किन	125.00
यामा, भाग-1	अलैक्जेंडर कुप्रिन	225.00
यामा, भाग-2	अलैक्जेंडर कुप्रिन	225.00
फर्ज	राकेश चक्र	125.00
आहुति	सी. रंजन	250.00
महानायिका	सी. रंजन	300.00
द गेट वे ऑफ इंडिया	सी. रंजन	300.00
गरीबी जुर्म नहीं	अलेक्सान्द्र ओस्त्रेव्स्की	100.00
कमाई की जगह	अलेक्सान्द्र ओस्त्रोव्स्की	150.00
दर्द भरा दिल	अलेक्सान्द्र ओस्त्रोव्स्की	150.00
चन्द्रकांता (भाग 1 से 6)	देवकी नन्दन खत्री	2400.00
चन्द्रकांता संतति	देवकी नन्दन खत्री	200.00

पुस्तकें मंगाने के लिए लिखें-

पुष्पांजलि प्रकाशन

एल-46, गली नं. 5,
शिवाजी मार्ग,
करतार नगर,
दिल्ली-110053
फोन : 9811710900

इतिहास

बाल गंगाधर तिलक के राजनीतिक एवं सामाजिक सुधार संबंधी विचार : एक समीक्षात्मक अध्ययन

मो. इरशाद खान

> **तिलक ने भारतीयों में यह भावना भरने का अथक प्रयास किया कि वेदों एवं गीता के महान संदेशों से नई शक्ति एवं नई स्फूर्ति ग्रहण करके ही राष्ट्र वह आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त कर सकेगा जिसके बल पर ब्रिटिश नौकरशाही से लोहा लेकर स्वराज्य संभव होगा।**

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को एक निश्चित दिशा देने का योगदान तिलक को है। जिनके समक्ष साधन और उद्देश्य स्पष्ट थे। वे उदारवादियों की भांति शून्य में ताकने वाले नहीं वरन् वास्तविकता की अनुभूति करने वाले तथा तदनुसार मार्ग निर्धारण करने वाले व्यवहारवादी थे। तिलक के राजनीतिक विचार स्पष्ट एवं व्यावहारिक है।

आध्यात्मिक धारणाओं ने तिलक के राजनीतिक दर्शन को विशेष रूप से प्रभावित किया। वे एक वेदान्तवादी थे और वेदान्त के अद्वैतवादी सिद्धान्त के आधार पर ही उन्होंने प्राकृतिक अधिकारों की राजनीतिक धारणा का निर्माण किया और स्वतंत्रता एवं सर्वोच्चता का पाठ पढ़ा।

इस तरह तिलक के राष्ट्रवाद का दर्शन आत्मा की सर्वोच्चता के वेदांतिक आदर्श और मैजिनी, बर्क, पील तथा विल्सन की धारणाओं का समन्वय था। इस समन्वय को तिलक ने 'स्वराज्य' शब्द द्वारा व्यक्त किया।

तिलक का राष्ट्रवाद अन्ततः पुनरूत्थानवादी तथा पुनर्निर्माणवादी था। उन्होंने वेदों और गीता से आध्यात्मिक शक्ति एवं राष्ट्रीय उत्साह ग्रहण करने का संदेश दिया और बताया कि प्राचीन परम्पराओं के आधार पर ही आज के भारत के लिए स्वस्थ राष्ट्रवाद की स्थिति को प्राप्त किया जा सकता है। तिलक ने भारतीयों में यह भावना भरने का अथक प्रयास किया कि वेदों एवं गीता के महान संदेशों से नई शक्ति एवं नई स्फूर्ति ग्रहण करके ही राष्ट्र वह आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त कर सकेगा जिसके बल पर ब्रिटिश नौकरशाही से लोहा लेकर स्वराज्य संभव होगा। सुधारों के नाम पर प्राचीनता का अनादर करना राष्ट्रीयता के पतन का प्रतीक है। भारत में सच्ची राष्ट्रीयता उत्पन्न करने के लिए प्राचीन संस्कृति का पुर्नजागरण आवश्यक है।

तिलक के अनुसार राष्ट्रवाद एक आध्यात्मिक एवं मनोवैज्ञानिक धारणा है। इस संबंध में उन्होंने कहा कि प्राचीन काल में आदिम जातियों के मन में अपने कबीले के प्रति जो भक्ति रहती थी उसी का आधुनिक नाम राष्ट्रवाद है। इस राष्ट्रवाद का संबंध तीव्र संवेगों एवं अनुभूतियों से होता है। पहले जो आत्मिक प्रभाव एवं लगाव एक क्षेत्र विशेष तक सीमित थे, वे अब राष्ट्रवाद के अंतर्गत सम्पूर्ण राष्ट्र में व्याप्त हो गये। यही कारण है कि आज राष्ट्रवाद की भावना किसी क्षेत्र विशेष के प्रति नहीं वरन् संपूर्ण राष्ट्र के प्रति अनुभव की जाती है।

हिन्दुओं में सामंजस्य एवं एकता की भावना उत्पन्न करने के लिए, तिलक ने राष्ट्रवाद के विकास में सार्वजनिक उत्सवों को महत्वपूर्ण माना। राष्ट्रीयता को आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक स्वरूप देने के लिए उन्होंने 'गणपति उत्सव' एवं 'शिवाजी उत्सव' मनाना आरंभ किया।

तिलक ने राष्ट्रवाद के संबंध में आर्थिक कारकों को भी पर्याप्त महत्व दिया। उन्होंने राष्ट्र की गरीबी का मुख्य कारण यह माना की देश से विपुल धन राशि विदेशों में चली जाती है। दादाभाई नौरोजी के आर्थिक निष्कासन के सिद्धान्त से वे सहमत थे। केसरी में अपने एक लेख में उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि भारत का कच्चा माल विदेशों से पक्का बनकर जब लौटता है तो भारत की इस प्रकार लूट की जाती है और देश की पूंजी किस तरह इंग्लैंड पहुँचा दी जाती है। भारत में जो स्वदेशी आन्दोलन चलाए गए वह आर्थिक दृष्टि से देश के प्रारंभिक पूँजीवाद की वृद्धि एवं विस्तार का आन्दोलन था। उन्होंने विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार पर बल दिया।

1916 में तिलक ने समूचे भारत को यह मंत्र प्रदान किया था कि "स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है हम इसे लेकर रहेंगे" स्वराज्य का शब्दार्थ 'अपना राज्य' है।

राजनीतिक क्षेत्र में श्री तिलक की सबसे बड़ी देन 'स्वराज्य' का विचार था। 1916 में उन्होंने समूचे भारत को यह मंत्र प्रदान किया था कि "स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है हम इसे लेकर रहेंगे" स्वराज्य का शब्दार्थ 'अपना राज्य' है। इससे श्री तिलक का जो अभिप्राय था उसे उन्होंने अपने एक भाषण में स्पष्ट करते हुए कहा था 'स्वराज्य का अर्थ सारा नियंत्रण अपने हाथ में लेना है। मैं अपने घर की कुंजी अपने हाथ में रखना चाहता हूँ। हमारा लक्ष्य स्वराज्य है। हम प्रशासन करने वाले समूचे तंत्र पर अधिकार चाहते हैं। हम केवल क्लर्क नहीं बनना चाहते.... ... इस समय हम क्लर्क और एक विदेशी सरकार के हाथों में अपने ही उत्पीड़न का साधन बने हुए है।" वे स्वराज्य से इस शोचनीय स्थिति का प्रतिकार करना चाहते थे।

तिलक के स्वराज्य व होमरूल की कल्पना कुछ अंशों में आयरलैंड के स्वतंत्रता के आन्दोलन पर आधारित थी। आयरिश आन्दोलन से प्रभावित होते हुए भी तिलक का स्वराज्य का विचार गीता के स्वधर्म के विचार पर आधारित था। स्वराज्य से उनका अर्थ केवल इतना ही है कि भारत के शासन की समूची व्यवस्था भारतीयों द्वारा भारत के हितों का ध्यान रखते हुए की जानी चाहिए। भारत को यह स्वराज्य अपने ही प्रयासों से मिलेगा, अत: उन्हें इसकी प्राप्ति के लिए उग्र संघर्ष करना चाहिए।

तिलक ने उन उपायों का भी उल्लेख किया है जिनके द्वारा स्वराज्य प्राप्त किया जा सकता है। स्वराज्य को नैतिक कर्तव्य मानते हुए उन्होंने कहा था "स्वराज्य एक अधिकार ही नहीं वरन् एक धर्म भी है।" भारतीयों को भी स्वराज्य का अधिकार अपने उग्र प्रयत्नों अथवा क्रियात्मक उपायों से प्राप्त करना होगा। स्वराज्य प्राप्ति के निम्न साधन है–

1. राष्ट्रीय शिक्षा
2. स्वदेशी
3. बहिष्कार
4. निष्क्रिय प्रतिरोध

उपरोक्त साधनों की भावना कर ही स्वराज्य की प्राप्ति की जा सकती है। क्रांतिकारी पद्धति के समर्थक न होते हुए भी श्री तिलक देश में और कांग्रेस में उग्रवादी आन्दोलन के अथवा गरम दल के जन्मदाता समझे जाते हैं। इनके पूर्व के नेताओं की नीति याचना एवं प्रार्थना करने वाली थी। इन्होंने इस नीति के स्थान पर शक्तिशाली संवैधानिक साधन अपनाने पर बल दिया। इसके साथ ही तिलक ने पुरानी याचनावादी नीति के स्थान पर संघर्ष की नई नीति की घोषणा करते हुए कहा था 'हमको राजनीतिक अधिकारों के लिए संघर्ष करना पड़ेगा। उदारवादी समझते है कि केवल प्रार्थना करने से अधिकार प्राप्त हो जाएंगे, किन्तु हम समझते हैं कि अंग्रेजी शासन पर कठोर दबाव पड़ने से ही ये अधिकार प्राप्त हो सकते हैं।'

इस प्रकार तिलक का कांग्रेस को उग्रवाद के पथ पर ले जाने में महत्वपूर्ण योगदान है। हालांकि इसी कारण 1907 में सूरत की फूट हुई।

लोकमान्य तिलक ने राजनीतिक उग्रवाद का पोषण करते हुए भी हिंसा और क्रांति को कभी प्रोत्साहन नहीं दिया। हालांकि तिलक के विरोधियों ने एवं उनके राजदर्शन के विदेशी व्याख्याताओं ने उनपर क्रांतिकारी और हिंसावादी होने का आरोप लगाया है। किन्तु एक व्यावहारिक राजनीतिज्ञ के रूप में तिलक ने सदैव यही अनुभव किया कि तत्कालीन परिस्थितियाँ भारत में हिंसात्मक एवं क्रांतिकारी साधनों के प्रयोग के अनुकूल नहीं थी। सशस्त्र क्रांति का समय अभी नहीं आया था और राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए हिंसात्मक कारवाईयों का आश्रय लेना सरकार के हाथों में खेलना था। तिलक का यद्यपि प्रमुख क्रांतिकारियों से संपर्क था किन्तु उन्होंने क्रांति को उकसाया नहीं वरन् युवा क्रांतिकारियों को सदैव संयत करने का प्रयास किया। हत्या एवं हिंसा को राजनीतिक साधन के रूप में ग्रहण करने से वे सदैव कतराते रहे।

सर वेलेनटाइन शिरोल ने अपनी पुस्तक 'भारतीय अशांति' (Indian Unresr) में तिलक को भारतीय अशांति का जनक कहा है। किन्तु तिलक की कार्य शैली; उनके उद्देश्य पर प्रकाश डाला जाय तो वे कहीं से अशांति के जनक नहीं प्रतीत होते।

तिलक का उद्देश्य किसी सशस्त्र विद्रोह को फैलाना नहीं था। वे कोई

सशस्त्र क्रांति का समय अभी नहीं आया था और राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए हिंसात्मक कारवाईयों का आश्रय लेना सरकार के हाथों में खेलना था।

हिंसक क्रांति नहीं पैदा करना चाहते थे। तिलक जनता को इस सीमा तक नहीं उग्र करना चाहते थे कि वह हथियारों का सहारा ले। तिलक तो वैधानिक सीमाओं के भीतर रहकर भारतीय जनता में स्वराज्य के लिए अधिक से अधिक जागृति फैलाना चाहते थे और दमनकारी एवं अन्यायपूर्ण कानूनों से असहयोग करने के पक्ष में थे। स्वराज्य से भी तिलक का तत्कालीन परिस्थितियों में यह आशय नहीं था कि ब्रिटेन से संबंध विच्छेद कर ले। वे ब्रिटिश सरकार का देश की वैदेशिक नीति पर नियंत्रण तक बने रहने के लिए तैयार थे। वे प्रांतों को भाषा के आधार पर विभाजित कर एक संघात्मक सरकार स्थापित करना चाहते थे। तिलक ने ब्रिटिश शासन को भारत से उखाड़ फेंकने के लिए सशस्त्र क्रांति का कोई संदेश नहीं दिया। उन्होंने केवल भारतीय जनता में राष्ट्रवादी विचारधारा जागृत की और उदारवादियों की याचना पद्धति के स्थान पर उग्र दबावकारी नीति का पक्षपोषण किया।

इस प्रकार तिलक 'अशांति के जनक' न होकर एक ऐसे देशभक्त थे जिनका हृदय भारतीयों की दुर्दशा देखकर रोता था और यह कहते अघाते नहीं थे कि 'स्वराज हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं उसे लेकर रहूँगा'।

स्वराज्य से भी तिलक का तत्कालीन परिस्थितियों में यह आशय नहीं था कि ब्रिटेन से संबंध विच्छेद कर ले।

सामाजिक सुधारों के प्रति दुष्टिकोण:

19वीं शताब्दी को भारतीय पुर्नजागरण और सुधार का युग कहा जाता है। इस युग में कई महापुरूषों ने स्वयं व सरकार के माध्यम से समाज सुधार की दिशा में कार्य किए। कांग्रेस का मुख्य उद्देश्य राजनीतिक सुधार करना था जिसे दादाभाई नौरोजी ने कलकत्ता अधिवेशन में स्पष्ट किया था। लोकमान्य तिलक का भी यही दृष्टिकोण था। वे सामाजिक सुधार एवं राजनैतिक समस्याओं को एक में मिलाने के पक्षधर नहीं थे।

लोकमान्य तिलक के सामाजिक सुधार संबंधी विचार उनके पत्र 'केसरी' में छपे लेखों में मिलता है। लोकमान्य सामाजिक सुधार को क्रांतिकारी रूप में सम्पन्न न करके धीरे-धीरे करने के पक्ष में थे। उनके अनुसार समाज एक समवाय है जिसकी प्रत्येक व्यवस्था विकास का परिणाम है। यदि कोई परिवर्तन क्रांतिकारी ढंग से किया गया तो वह लाभ के स्थान पर हानि पहुँचा सकता है। एक राष्ट्रवादी विचारक होने के कारण लोकमान्य तिलक भारत में राष्ट्रवाद के विकास की ओर प्रयत्नशील थे। उनका कहना था कि सुधारवादी आन्दोलन जिसे पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव से अपनाया जा रहा है, संसाधन को मतिभ्रम करके राष्ट्रवादिता के विकास में बाधक बन सकते है। पश्चिम का अन्धानुकरण न तो उचित है न आवश्यक। सामाजिक सुधार भारत में उन लोगों के द्वारा संचालित हो रहे थे जो राष्ट्र की मुख्यधारा से विचलित हो गये थे। इन लोगों पर समाज की कोई श्रद्धा नहीं थी। पहले इन लोगों को राष्ट्र की मुख्यधारा में प्रवेश करना होगा तभी वे श्रद्धा के पात्र बन सकते हैं।

वस्तुत: तिलक सामाजिक सुधारों के विरोधी नहीं थे, अपितु वे कई कारणों से सरकारी कानून बनाकर सुधार कराने की पद्धति का विरोध करते थे। इसका पहला कारण यह था कि वे स्वतंत्रता प्राप्ति को जीवन का प्रधान लक्ष्य मानते थे। उनका कहना था कि सबसे पहले सारी शक्ति स्वतंत्रता प्राप्ति में लगानी चाहिए तत्पश्चात समाज सुधार संबंधी कार्य करना चाहिए। दूसरा कारण यह कि ऐसा करने पर इसके पालन का और इस कानून को भंग करने वाले को दण्ड देने का अधिकार ब्रिटिश शासन को प्राप्त हो जाता। तीसरा कारण तिलक का यह विश्वास था कि वास्तविक सुधार का कार्य यदि शनै: शनै: लोकमत को जागृत करके किया जाए तो वह अधिक स्थायी होता है। चौथा सामाजिक सुधारों के संबंध में समाज में प्रबल मतभेद था। इससे समाज में फूट पड़ने की संभावना थी। स्वराज्य प्राप्ति के लिए आवश्यक एकता को खतरा पैदा हो सकता था। अत: वे मतभेद बढ़ाने वाले सामाजिक सुधारों को करने के पक्ष में नहीं थे।

इस प्रकार तिलक समाज सुधार के विरोधी नहीं थे। उनके समाज सुधार संबंधी प्रस्ताव निम्न है-

1. लड़कों की विवाह की आयु 20 वर्ष तथा लड़कियों की 16 वर्ष हो।
2. 40 वर्ष से अधिक उम्र के पुरुष विवाह न करे और यदि करें तो विधवा से।
3. विवाह उत्सव पर मद्यपान बंद कर दिया जाए।
4. दहेज पर प्रतिबंध।
5. विधवाओं को विरूद्ध नहीं किया जाए।
6. समाज सुधारक अपनी आय का 1/1 भाग सार्वजनिक कार्य में खर्च करे।

संदर्भ-सूची :-

1. डॉ॰ ए॰पी॰ अवस्थी - भारतीय राजनीतिक विचारक
2. वी॰पी॰ वर्मा - भारतीय राजनीतिक चिन्तक
3. डॉ॰ श्री वास्तव एवं जोशी - भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन एवं भारतीय राजनीतिक चिंतन
4. सुमित सरकार - आधुनिक भारत।
5. विपिन चन्द्रा - भारत का स्वतंत्रता संघर्ष।

❑❑❑

वर्तमान शासन व्यवस्था और राजनीतिक दल

अखलाख अहमद

रेने तथ केन्डल ने अपनी पुस्तक 'डेमोक्रेसी एण्ड अमरीकन पार्टी सिस्टम' में राजनीतिक दल की कार्यात्मक परिभाषा दी है तो ऐल्डर्सविस्ड ने अपनी पुस्तक 'पोलिटिकल पार्टीज : ए बिहेवियरल अनैलिसिस' में राजनीतिक दलों की व्यवहारवादी परिभाषा दी है। जबकि राबर्ट सीदृ बोन ने अपनी पुस्तक 'एक्शन एण्ड आरगेनाईजेशन: एन इन्ट्रोडक्शन टू कन्टेम्परेरी पोलिटिकल साइंस' में राजनीतिक दल की संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक आधार पर परिभाषा की है।

किसी भी शासन व्यवस्था के समुचित रूप से संचालन हेतु राजनीतिक दल का होना आवश्यक है, खासकर लोकतांत्रिक व्यवस्था में तो इसे 'रक्त-प्राण' माना जाता है, जिसके बिना आधुनिक लोकतंत्र को मूर्त रूप नहीं दिया जा सकता। यही कारण है कि आज 'दल नहीं तो लोकतंत्र नहीं' जैसी बातें पूर्ण रूप से मान्य हो गई हैं। राजनीतिक दल आधुनिक राजनीति की जीवन डोर बन गए हैं। वर्तमान समय में राजनीतिक दल आधुनिकता के प्रतीक समझे जाने के कारण निरंकुश व्यवस्था में भी प्रतिस्थापित किए जाने लगे हैं।

सामान्यत: निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु व्यक्तियों के संगठित समूह को दल कहा जाता है, एवं जब इस प्रकार के समूह का उद्देश्य राजनीतिक हो तो इसे राजनीतिक दल कहा जाता है। हालांकि यह परिभाषा सरल है, एवं विभिन्न विद्वानों ने इसकी परिभाषा विभिन्न आधार पर भिन्न-भिन्न प्रकार से की है-

बर्क के अनुसार ''राजनीतिक दल व्यक्तियों का ऐसा समूह है, जिसके सदस्य सामान्य सिद्धांतों पर सहमत हों, और सामूहिक प्रयत्नों द्वारा राष्ट्रीय हित को प्रोत्साहित करने के लिए एकता सूत्र में बंधे हों।'' रेने तथ केन्डल ने अपनी पुस्तक 'डेमोक्रेसी एण्ड अमरीकन पार्टी सिस्टम' में राजनीतिक दल की कार्यात्मक परिभाषा दी है तो ऐल्डर्सवेल्ड ने अपनी पुस्तक 'पोलिटिकल पार्टीज : ए बिहेवियरल अनैलिसिस' में राजनीतिक दलों की व्यवहारवादी परिभाषा दी है। जबकि राबर्ट सी॰ बोन ने अपनी पुस्तक 'एक्शन एण्ड आरगेनाईजेशन: एन इन्ट्रोडक्शन टू कन्टेम्परेरी पोलिटिकल साइंस' में राजनीतिक दल की संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक आधार पर परिभाषा की है। उसके अनुसार ''राजनीतिक दल व्यक्तियों का ऐसा संगठन है, जो अपने उद्देश्यों को सरकार पर औपचारिक प्राप्त करके समाज में मूल्यों के आधिकारिकता वितरण में प्राथमिकता के प्रकरण बनाने का प्रयत्न करता है।''

उपरोक्त परिभाषाओं से राजनीतिक दलों की संरचना, उद्देश्य एवं कामों का बोध हो जाता है। ज्ञातव्य है कि हर प्रकार का राजनीतिक संगठन राजनीतिक दल नहीं होता। माइरन वीनर ने किसी भी समूह को राजनीतिक दल कहने के लिए चार लक्षण अनिवार्य माना है, जो इस प्रकार है-

1. संगठन की निरंतरता अर्थात् एक ऐसा संगठन जिसका संभावित कार्यकाल उसके मौजूदा नेताओं के जीवन काल पर आश्रित नहीं हो।
2. स्थानीय स्तर पर प्रकट और संभवत: स्थायी संगठन हो तथा स्थानीय और राष्ट्रीय निकायों के बीच नियमित सम्प्रेषण और अन्य संबंध हो।
3. राष्ट्रीय और स्थानीय दोनों ही स्तरों पर नेताओं का न केवल सत्ता के प्रयोग को प्रभावित करने और अकेले या किसी अन्य दल से मिलकर निर्णय करने की, सत्ता बनाए रखने का स्वचेतन संकल्प हो।

राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक दल अनेक प्रकार से सक्रिय रह सकते हैं। ये एक ही साथ मध्यवर्ती, स्वतंत्र या आश्रित परिवर्त्य के रूप में गत्यात्मक भूमिका निभा सकते हैं। राजनीतिक दल मध्यवर्ती परिवर्त्य के रूप में सरकारी तंत्र तथा राजनीतिक समाज के बीच में आदान-प्रदान की कड़ी का काम करता है।

4. संगठन को चुनावों में अपना समर्थन जुटाने की उद्वीग्नता हो या जो किसी न किसी तरीके से जन-समर्थन प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हो।

हालाँकि ये सब सैद्धान्तिक विशेषताएँ हैं और अधिकांश राजनीतिक दलों के बारे में खरी नहीं उतरतीं। आजकल कुछ विशेष परिस्थितियों में राजनीतिक दल द्वारा बल प्रयोग करके सत्ता प्राप्त करना भी अनुचित नहीं माना जाता है।

राजनीतिक दलों की भूमिका

राजनीतिक व्यवस्था में राजनीतिक दल अनेक प्रकार से सक्रिय रह सकते हैं। ये एक ही साथ मध्यवर्ती, स्वतंत्र या आश्रित परिवर्त्य के रूप में गत्यात्मक भूमिका निभा सकते हैं।

राजनीतिक दल मध्यवर्ती परिवर्त्य के रूप में सरकारी तंत्र तथा राजनीतिक समाज के बीच में आदान-प्रदान की कड़ी का काम करता है। यह समाज और सरकार को जोड़ता है। इस रूप में दल क्षेत्रीय हितों को एक-दूसरे के करीब लाते हैं, भौगोलिक दूरियों का निवारण करते हैं और कभी-कभी विभक्त कर देने वाली शासन संरचनाओं में सामंजस्य स्थापित करते हैं। मध्यवर्ती परिवर्त्य के रूप में दल की तीन सामान्य भूमिकाएँ होती हैं -

1. दल सरकार की नीतियों की अपने समर्थकों व आम जनता के लिए व्याख्या करता है और सरकार के कार्यों के बारे में जनता को समझाता है।
2. राजनीतिक व्यवस्था में उठने वाली माँगों को सरकार तक पहुँचाता है।
3. सत्ता में बने रहने के लिए या सत्ता में आने के लिए लोकमत की परख में लगा रहता है।

राजनीतिक दल शून्य में कार्य नहीं करते हैं। ये राजनीतिक व्यवस्था में कार्यरत रहते हैं। इनका कार्य सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक पर्यावरण में संचालित होता है। अपने चारों तरफ के वातावरण से दल न केवल प्रभावित होते हैं वरन् उससे उनकी गतिविधियाँ बहुत कुछ सीमित व नियमित भी होती हैं। इस प्रकार आश्रित परिवर्त्य के रूप में राजनीतिक दल निम्न भूमिका निभाता है -

1. राजनीतिक समाज की संरचना व समाज के सांस्कृतिक प्रतिमान को प्रभावित करने वाली राजनीतिक प्रक्रिया को जोड़ना, सरल करना और स्थिर बनाना।
2. समाज की संरचनाओं व उप-व्यवस्थाओं में समन्वय स्थापित करना।
3. पर्यावरण में होने वाले परिवर्तनों के अनुरूप अपने को ढालते हुए समाज की सम्पूर्ण समूह व्यवस्था के अनुकूलन में योग देना।

स्वतंत्र परिवर्त्य के रूप में राजनीतिक दल, विचारधारा, कार्यक्रम की रूपरेखा के अनुसार न्यायोचित समाज की स्थापना करने के लिए समाज व सरकार दोनों का ही नियंत्रक, निर्देशक व निरीक्षक रहता है। इस रूप में राजनीतिक दल की भूमिका निम्न प्रकार की रहती है -

1. समाज व सरकार, दोनों का निर्देशन करना व उन पर नियंत्रण रखना।
2. विचारधारा के अनुसार सम्पूर्ण संस्थात्मक व्यवस्थाओं को ढालना।
3. कार्यक्रम की क्रियान्विति में आने वाली सभी प्रक्रियात्मक व संरचनात्मक बाधाओं को दूर करना।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि स्वतंत्र परिवर्त्य के रूप में राजनीतिक दल की भूमिका सर्वाधिकारी शासन-व्यवस्था में ही संभव है।

राजनीतिक दल के कार्य

राजनीतिक दल के कार्य इस प्रकार हैं-

हर प्रकार की शासन व्यवस्था में जनता के नेतृत्व करने वाले नेताओं की आवश्यकता होती है, जिसकी पूर्ति राजनीतिक दल ही करते हैं।

राजनीतिक व्यवस्था में दल ही नीतियों व कार्यक्रमों के उत्पादकर्ता होते हैं। मतदाताओं में अधिकांश तो संपूर्ण समाज के व्यापक हितों की दृष्टि से ऊपर नहीं उठ पाते। अकेला व्यक्ति संपूर्ण समाज के लिए उपयोगी नीतियों

व कार्यक्रमों का निर्धारण चाहकर भी नहीं कर सकता। अतः राजनीतिक दल चुनावों के मुद्दे पेश करके नीतियों व कार्यक्रमों के निर्माता बन जाते हैं। सर्वाधिकारी शासन में तो राजनीतिक दल यह कार्य स्वयं करते हैं।

राजनीतिक दलों का तीसरा महत्वपूर्ण कार्य शासन-अंगों में समन्वय व सरकार के नियंत्रण का है। दल ही सरकार पर प्रभावी नियंत्रण का यंत्र हो सकते हैं। दल का यह कार्य निरंतर चलता रहता है। इतना ही नहीं दलों द्वारा शासन का कार्य केवल उनके सत्ता में बने रहने पर ही नहीं होता वरन् विपक्ष में भी वे शासन कार्य में सक्रिय रहते हैं।

राजनीतिक दल नेताओं की भर्ती व अदला-बदली के लिए संरचनात्मक प्रक्रियाएँ जुटाने के साथ-साथ सत्ता के वैधीकरण की व्यवस्था भी करते हैं। जबरदस्ती हथियाई सत्ता को वैधीकरण के लिए जनता के सामने दल ही रखवाते हैं। इनकी सत्ता वैधीकरण में इतनी महत्वपूर्ण भूमिका रहती है कि निरंकुश व्यवस्थाओं में भी दलों का नहीं तो कम-से-कम एक दल का निर्माण शायद इसीलिए किया जाता रहा है।

राजनीतिक दल समूह मांगों की संतुष्टि और सामंजस्य द्वारा एक-सी मान्यताएँ या विचारधारा उत्पन्न करते हैं, जिससे समाज में विभाजनकारी प्रवृत्तियों का शमन होता रहता है तथा इससे समाज के एकीकरण का मार्ग प्रशस्त होता है।

राजनीतिक दलों का एक कार्य सरकार तथा जनता के बीच संपर्क स्थापित करना है। वे निर्वाचक समूह को जानकारी प्रदान करने, प्रशिक्षित करने और सक्रिय बनाने की कोशिश करते हैं। वे जनता की मांगों को सरकार तक तथा सरकार के निर्णयों को जनता तक ले जाते हैं। इस तरह दल सरकार तथा जनता के बीच मध्यस्थ का कार्य करते हैं।

विकासशील राज्यों की राजनीतिक व्यवस्थाओं में आधुनिकीकरण की समस्या का सामना करने के लिए सरकारें भी राजनीतिक दलों की महत्वपूर्ण भूमिका स्वीकार करती है। इन राज्यों में परम्परागत समाज होने के कारण जातीय, धार्मिक, नस्लीय तथा अन्य लगावों के बीच खिंचाव प्रबल होते हैं, जिससे राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में बाधा उत्पन्न होती है। राजनीतिक दल इस समस्या के समाधान में सरकार द्वारा किए जा रहे प्रयत्न को जन समर्थन प्रदान करते हैं।

हर जगह राजनीतिक दल जन-संचालन का कार्य करते हैं। एकदलीय प्रणालियों में तो जन-संचालन लोक प्रशासन के अनिवार्य अंग के रूप में ही व्यवस्थित रहता है। इन व्यवस्थाओं में जन संचालन, जनता तथा दल के सदस्यों को अनुशासित रखने के एक पहलू के रूप में भी देखा जाता है।

राजनीतिक दल अपने समर्थकों के हितों की अधिकतम सुरक्षा के लिए अन्य संस्थागत संरचनाओं से सौदेबाजी भी करते हैं। यह सौदेबाजी अधिकतर सरकार के साथ करनी होती है।

राजनीतिक दल केवल रचनात्मक कार्यों तक ही सीमित नहीं रहते आजकल राजनीतिक दल विपक्ष में होने पर विरोध की राजनीति अपनाते हैं। वे सरकार को नियंत्रित करने व उसमें समन्वय स्थापित करने के कार्य के बिल्कुल प्रतिकूल कार्य भी करते हैं।

उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि राजनीतिक दल राज-व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण उप-व्यवस्था है, जिससे शासन का सुचारू रूप से संचालन संभव होता है। लोकतंत्र का तो यह प्राण ही है। दल के बिना आधुनिक लोकतंत्र की परिकल्पना ही नहीं की जा सकती। साथ ही अन्य प्रकार के शासन-व्यवस्था में निर्णायक भूमिका के कारण इनकी महत्ता स्वतः सिद्ध है।

दल ही सरकार पर प्रभावी नियंत्रण का यंत्र हो सकते हैं। दल का यह कार्य निरंतर चलता रहता है। इतना ही नहीं दलों द्वारा शासन का कार्य केवल उनके सत्ता में बने रहने पर ही नहीं होता वरन् विपक्ष में भी वे शासन कार्य में सक्रिय रहते हैं। राजनीतिक दल नेताओं की भर्ती व अदला-बदली के लिए संरचनात्मक प्रक्रियाएँ जुटाने के साथ-साथ सत्ता के वैधीकरण की व्यवस्था भी करते हैं।

संदर्भ सूची :-

1. बाल, ए॰आर॰ए-Modern Politics and Government pn. 102, 103
2. गेना, सी॰बी॰ - तुलनात्मक राजनीति एवं संस्थाएँ, पृष्ठ सं॰ 822-871
3. जौहरी, जे॰सी॰ और सीमा - आधुनिक राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त, पृष्ठ सं॰ 446-470
4. गाबा, ओ॰पी॰ - राजनीति सिद्धान्त की रूपरेखा, पृष्ठ सं॰ 252-260

लेखक-पटना विश्वविद्यालय के पटना कॉलेज में राजनीतिशास्त्र विभाग में तदर्थ व्याख्याता के रूप में कार्यरत हैं।

❑❑❑

राजनीति विज्ञान

भारत में मुस्लिम समुदाय की समस्याऐं एवं निदान: एक समीक्षात्मक अध्ययन

गजनपफर आलम

मो॰ इरशाद अली

महान सामाजिक विचारक 'लुईस विर्थ' का कहना है कि "अल्पसंख्यक एवं बहुसंख्यक सम्प्रदायों का संबंध संख्या के आधार पर निर्धारित नहीं होता है, बल्कि उसका निर्धारण शक्ति के वितरण के आधार पर होता है।

भारत में अल्पसंख्यक समुदाय की समस्याओं की चर्चा करने से पहले यह आवश्यक प्रतीत होता है कि हम यह जान लें कि अल्पसंख्यक किसे कहते हैं? दरअसल अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक ये दोनों अवधारणाएँ एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं। अल्पसंख्यक समुदाय का अस्तित्व वहीं हैं, जहाँ बहुसंख्यक समुदाय को उच्च सामाजिक हैसियत एवं बेहतर सामाजिक सुविधा प्राप्त है। भारतीय संविधान में अल्पसंख्यक शब्द का उपयोग किया गया है, किन्तु कहीं भी इसकी परिभाषा नहीं दी गई है। भारतीय संविधान में दो प्रकार के अल्पसंख्यक हैं - एक, जो भाषा पर आधारित है तथा दूसरा जो धर्म पर आधारित है। अधिनियम -1992 की धारा 2(ग) के अंतर्गत पाँच धार्मिक समुदायों अर्थात् मुसलमान (13.4%), ईसाई (2.3), सिख (1.9), बौद्ध (0.8) तथा जैन (0.4) को अल्पसंख्यक समुदायों के रूप में अधिसूचित किया गया है।

महान सामाजिक विचारक 'लुईस विर्थ' का कहना है कि "अल्पसंख्यक एवं बहुसंख्यक सम्प्रदायों का संबंध संख्या के आधार पर निर्धारित नहीं होता है, बल्कि उसका निर्धारण शक्ति के वितरण के आधार पर होता है। अल्पसंख्यकों की समस्याओं की सही जानकारी के लिए यह आवश्यक है कि उनकी सामाजिक परिस्थिति का आकलन हम वस्तुनिष्ठ (objective) एवं आत्मनिष्ठ (subjective) दोनों रूपों में कर लें।

(क) वैषविक (objcetive) रूप में हम पाते हैं कि अल्पसंख्यक समुदाय किसी भी समाज में वंचित स्थिति में होते हैं। बहुसंख्यक समुदाय की तुलना में सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक दृष्टि से वे कई वंचिताओं के शिकार होते हैं और इन सबका नतीजा यह होता है कि अल्पसंख्यक समुदाय के एक व्यक्ति की स्वतंत्र इच्छा एवं उसके स्व-विकास की प्रक्रिया कई ढंग से बाधित होती है। अल्पसंख्यक समुदाय के लोग यह महसूस करते हैं कि बहुसंख्यक उन्हें हेय की दृष्टि से देखता है और इस तरह वे घृणा, तिरस्कार एवं अपमान के पात्र बनकर रह जाते हैं।

(ख) आत्मनिष्ठ (subjective) के रूप में हम पाते हैं कि अल्पसंख्यकों की मानसिकता एक सीमित दायरे में बंधी होती है और यह मानसिक घेरा न केवल उन्हें बहुसंख्यक से दूर-दूर रखता है कि बल्कि उनमें हीन भावना को भी भरता है। जब अल्पसंख्यकों के मन में असुरक्षा का भाव उत्पन्न होता है तो वे एकजुट होने का प्रयास करते हैं और परिणामस्वरूप राजनैतिक दृष्टि से वे एक श्रेणी के रूप में दिखाई देते हैं। साफ शब्दों में कहें तो असुरक्षा की भावना के कारण राजनैतिक दृष्टि से उनकी सक्रियता बढ़ जाती है और इस तरह उनका महत्व भी।

पीटर आई॰ रोज का कहना है कि, जब भी कोई समस्या उत्पन्न होती है तो इस समस्या के प्रति अल्पसंख्यकों के प्रत्युत्तर चार तरह के होते हैं।

(1) समर्पण (Submission)

(2) वापसी (Withdraw)

(3) बहिष्कार (Avoidance)

(4) एकीकरण (Integration)

मुसलमान इस देश के सबसे बड़े अल्पसंख्यक हैं जो लगभग 600 वर्षों तक यहाँ शासक वर्ग के रूप में अवस्थित रहे। उन 600 वर्षों में उन्हें अपने अल्पसंख्यकपन का कभी भी एहसास नहीं हुआ। लेकिन अंग्रेजों के

आजादी के बाद विकास की जो प्रक्रिया चली उसमें खासकर मुसलमान नजर अंदाज किए गए। हालाँकि संविधान और लोकतांत्रिक ढाँचे में मुसलमानों की अपनी पहचान बनाए रखने और अपने मजहब के पालन की इजाजत है।

आगमन के बाद से धीरे-धीरे सुनियोजित रूप में ब्रिटिश सरकार ने हिन्दू और मुसलमान के बीच वैमनस्य का बीज बोना शुरू किया और मुसलमानों को न केवल अपने अल्पसंख्यकपन का एहसास हुआ बल्कि यदा-कदा साम्प्रदायिक दंगे भी होते रहें। अंग्रेजों ने उन्हें विशेष तरजीह देना शुरू किया। फलस्वरूप हिन्दू साम्प्रदायिकता और मुस्लिम साम्प्रदायिकतावाद खुलकर सामने आयी जिसकी चरम परिणति देश विभाजन के रूप में हुई। भारत में सामाजिक संरचना के आधार पर मुसलमानों के तीन समूह हैं।

(1) अशरफ

(2) अजलफ एवं

(3) अरजल।

मुसलमान भारत के विकास की सीढ़ी के सबसे निचले पायदान पर हैं। वे दलितों के साथ हैं। हिन्दुओं की अन्य पिछड़ी जातियों से भी पिछड़े हैं, अगड़ी जाति के हिन्दुओं तथा दूसरे अल्पसंख्यकों से बहुत नीचे है। जनांकिकी आँकड़ों के अनुसार 14 करोड़ जनसंख्या मुसलमानों की है। जिसमें से बी॰पी॰एल॰ 52%, अशिक्षित 59%, मुस्लिम महिला शिक्षित 29%, स्कूल जानेवाले 10%, सरकारी नौकरियों में मात्र 4.4% परन्तु स्वरोजगार में 52% लगे हैं। यह विडंबना ही है कि जम्मू-कश्मीर में 65%, असम में 31%, पं॰ बंगाल में 25%, केरल में 24%, बिहार एवं यू॰पी॰ में 18.5% तक कर्नाटक में 12% जनसंख्या बहुल राज्यों में भी सरकारी नौकरी या शिक्षा में कमोबेश वही स्थिति हैं जो अन्य राज्यों की है।

आजादी के बाद विकास की जो प्रक्रिया चली उसमें खासकर मुसलमान नजर अंदाज किए गए। हालाँकि संविधान और लोकतांत्रिक ढाँचे में मुसलमानों की अपनी पहचान बनाए रखने और अपने मजहब के पालन की इजाजत है, लेकिन राजनैतिक एवं आर्थिक व्यवस्थाओं में उनके प्रतिनिधित्व को झटका लगा है। नतीजतन वे पिछड़ते चले गए और आर्थक सुधार प्रक्रिया का लाभ न उठा सके।

मुसलमानों की प्रमुख समस्याएँ एवं उनके निदान :

भारत में मुसलमान अन्य पिछड़ा वर्ग से भी पिछड़ा है और मुस्लिम समुदाय के भीतर पिछड़े मुसलमान आम मुसलमानों से काफी पीछे हैं।

सार्वजनिक क्षेत्र में मुसलमानों का पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं है। इनका प्रतिनिधित्व बढ़ाने के लिए सतर्कता से सुविचारित नामांकन प्रक्रिया जरूरी है।

अजलफ और अरजल समूहों को अतिरिक्त तवज्जो दिये जाने की जरूरत है जो हिन्दू अन्य पिछड़ा वर्ग की तर्ज पर हो सकता है।

राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन के अनुसार कुल मुस्लिम आबादी में 40% पिछड़ा है। यह देश की कुल पिछड़ी आबादी का 15.7% है।

आंध्रप्रदेश की तर्ज पर स्थानीय निकाय इकाइयों में अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व बढ़ाने के लिए राज्य स्तर पर समुचित कानून बनाये जा सकते हैं ताकि धार्मिक और भाषाई अल्पसंख्यकों को मान्यता मिल सके।

विश्वविद्यालयों और अन्य स्वायत्त कॉलेजों में सभी सामाजिक, धार्मिक वर्गों के अति पिछड़े वर्ग को दाखिला देने की वैकल्पिक प्रवेश मानदण्ड बनाये जाने की वकालत जरूरी है, इसलिए अल्पसंख्यकों को प्राथमिकता के आधार पर हॉस्टल की सुविधा भी उपलब्ध करायी जाए।

मदरसों को उच्च माध्यमिक शिक्षा बोर्डों से जोड़ा जा सकता है। मदरसों की डिग्रियों को मान्यता दी जाए।

दस साल से कम उम्र के बच्चों में मुसलमान समुदाय के बच्चों की संख्या सबसे ज्यादा है, जबकि मौजूदा समय में उनका स्कूलों में पंजीकरण सबसे कम है।

राज्य सरकार को उर्दू माध्यमों के स्कूल चलाने चाहिए, आदि।

मुस्लिम अल्पसंख्यक की समस्याओं के निदान में निम्न आयोग कार्य कर रहे हैं, जैसे :-

(1) अल्पसंख्यक कार्य मंत्रालय

(2) केन्द्रीय वक्फ परिषद्, नई दिल्ली, 1964

(3) राष्ट्रीय अल्पसंख्यक आयोग, नई दिल्ली, 1978

अजलफ और अरजल समूहों को अतिरिक्त तवज्जो दिये जाने की जरूरत है जो हिन्दू अन्य पिछड़ा वर्ग की तर्ज पर हो सकता है।

(4) मौलाना आजाद शिक्षा प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, 1989
(5) राष्ट्रीय अल्पसंख्यक विकास एवं वित्त निगम, 1994
(6) प्रधानमंत्री के 15-सूत्री कार्यक्रम आदि। (घोषणा जून-2006 में)

गरचे मुसलमानों की आर्थिक स्थिति के लिए स्व:रोजगार ही उनकी आस रही है। तमाम तरह के फन, हुनर, कारीगरी में मुसलमान सक्षम रहे हैं मगर वह किसी भी ऑफिस, फैक्ट्री, कारपोरेट फर्म आदि में निचले पायदान पर ही रहे। बहुत मुश्किल से ही कोई मुसलमान किसी बड़े ओहदे पर मिलेगा। केवल राष्ट्रीयकृत बैंकों को ही लें तो इसके 142 डायरेक्टरों में केवल 02 ही मुसलमान रहे हैं।

मुसलमानों की सामाजिक, आर्थिक एवं शैक्षणिक स्थिति के आंकलन हेतु राजिन्दर-सच्चर की अध्यक्षता में 9 मार्च, 2005 उच्च स्तरीय समिति का गठन किया गया था। जिसकी रिपोर्ट 30 नवम्बर, 2006 को संसद में पेश कर दी गई। इस रिपोर्ट ने मुसलमानों की दशा का मूल्यांकन करते हुए कहा है कि, ''विकास के सभी आयामों में मुस्लिम समाज पीछे है।'' इस रिपोर्ट के अनुसार यू॰पी॰, बिहार, पं॰ बंगाल और असम में इस समाज की स्थिति हिन्दू पिछड़ों और अन्य धार्मिक समुदायों से भी खराब है। सच्चर समिति की रिपोर्ट भारतीय मुसलमानों की हालत पर ही टिप्पणी नहीं करती, बल्कि भारतीय लोकतंत्र की बहुत सारी संस्थाओं पर भी टिप्पणी करती है।

सभी जानते हैं कि सिर्फ आरक्षण के जरिए वंचित समूहों की स्थिति में सुधार नहीं हो सकता। उसके लिए आरक्षण से अलग उपाय भी करने होंगे। लेकिन आरक्षण सबसे बड़ा काम यह करता है कि वह वंचित तबकों में लोकतांत्रिक शासन के प्रति विश्वास पैदा करता है जो उन्हें मुख्यधारा से जोड़ता है। मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड के सदस्य सज्जाद नोमानी कहते हैं कि, ''भेदभाव मुसलमानों की किस्मत के साथ नत्थी हो गया है। सरकारी नौकरियाँ मुसलमानों के लिए नहीं है।'' इसके ठीक विपरीत वरिष्ठ प्राध्यापक इफ्तेखार अहमद कहते हैं कि, ''देश की आजादी से पहले नौकरियों में जो मुसलमानों की मौजूदगी थी वह आज नहीं है इसका एकमात्र कारण शिक्षा में कमी है।'' आंध्रप्रदेश के हैदराबाद, वारंगल, गुन्टूर जिलों के सम्मेलन में यह पता चला कि सभी मुस्लिम अपने बच्चों को पढ़ाना चाहते हैं, मगर एक या दो साल ही पढ़ा पाते हैं क्योंकि उनकी आर्थिक स्थिति ठीक नहीं है।

''देश की आजादी से पहले नौकरियों में जो मुसलमानों की मौजूदगी थी वह आज नहीं है इसका एकमात्रा कारण शिक्षा में कमी है।''

उपर्युक्त समस्त चर्चाओं के आधार पर निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि भारत में मुसलमानों की जो स्थिति है, वह हिन्दू समाज या अन्य धार्मिक समाज से कहीं अधिक बदतर है। एक ऐसी व्यवस्था बनाई जानी चाहिए जिसमें मुस्लिमों से भेदभाव की शिकायतें, रोजगार के अवसरों, आवास ऋण की उपलब्धता या स्कूलों में दाखिले संबंधी शिकायतें सुनी जाए। सच्चर समिति के सभी अनुशंसाओं को यथा शीघ्र लागू किया जाए न कि ''गोपाल सिंह समिति'' की तरह ठंडे बस्ते में डाल दिया जाए। सभी राजनैतिक पार्टियों को एक साथ मिलकर इन समस्याओं के निदान हेतु व्यापक रूप से सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक आन्दोलन चलाने की आवश्यकता है।

संदर्भ सूची :-

1. भारतीय समाज की संरचना - एन॰सी॰ई॰आर॰टी॰, पृ॰ 115-120
2. सामाजिक समस्याएँ - राम आहूजा, पृ॰ 165-180
3. समकालीन भारतीय समाज - नदीम हसनैन, पृ॰ 181-209
4. जनसत्ता, राष्ट्रीय सहारा, नवभारत टाइम्स, दैनिक हिन्दुस्तान।
5 प्रतियोगिता दर्पण - अक्तूबर - 2007, पृ॰ - 783

❑❑❑

श्रेष्ठ कथा साहित्य

श्रीराधाकृष्ण प्रेम-प्रसंग व विन्धवासिनी	इंजि. प्रेमलाल सिंह/डॉ. सुधा सिंह	200.00
उत्तरांचल की लोककथाएं	राकेश चक्र	150.00
अन्तोन चेखव की अमर कहानियां, 1	अन्तोन चेखव	200.00
अन्तोन चेखव की अमर कहानियां, 2	अन्तोन चेखव	200.00
ओ. हेनरी की अमर कहानियां	ओ. हेनरी	150.00
ग्राम्य जीवन की कहानियां	प्रेमचन्द	150.00

पुस्तकें मंगाने के लिए लिखें-

पुष्पांजलि प्रकाशन

एल-46, गली नं. 5, शिवाजी मार्ग, करतार नगर, दिल्ली-110053
फोन : 9811710900

"शीतयुद्ध" स्वरूप, समकालीन, प्रासंगिकता एवं शीतयुद्धोत्तर काल में विश्व व्यवस्था का स्वरूप

मनोज कुमार

शीतयुद्ध शब्द से सोवियत संघ-अमेरीकी तनावपूर्ण एवं शत्रुतापूर्ण अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की अभिव्यक्ति होती है जो द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर राजनीति की वास्तविकता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् अंतर्राष्ट्रीय पटल पर संयुक्त राज्य अमेरीका और सोवियत संघ के रूप में दो महाशक्तियाँ उभरीं और दोनों ने विश्व पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयास आरंभ किया, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में इन दोनों महाशक्तियों के मध्य इस तनावपूर्ण स्थिति को अभिव्यक्त करने के लिए 'शीतयुद्ध' का नाम दिया गया।

शीतयुद्ध 1990 तक अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को उद्वेलित करने वाला एक अद्‌भुत तत्व रहा है। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् अंतर्राष्ट्रीय संबंधों को जिस कारक ने सर्वाधिक प्रभावित किया, निःसंदेह वह शीतयुद्ध ही था। दो महाशक्तियों ने 1945 से 1991 के कालखण्ड को अपनी गिरफ्त में रखा और इस दौरान विश्व का शायद ही कोई देश, संस्था या संगठन हो जो इससे प्रभावित न हुआ हो। शीतयुद्ध के कालखण्ड में विश्व के देशों की भूमिका एवं उनका महत्व उनकी भू-राजनीतिक स्थिति के आधार पर बदलती रही। शीतयुद्ध के काल में कूटनीति ने युद्ध का और युद्ध ने कूटनीति का रूप धारण कर लिया। शीतयुद्ध शब्द से सोवियत संघ-अमेरीकी तनावपूर्ण एवं शत्रुतापूर्ण अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की अभिव्यक्ति होती है जो द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर राजनीति की वास्तविकता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् अंतर्राष्ट्रीय पटल पर संयुक्त राज्य अमेरीका और सोवियत संघ के रूप में दो महाशक्तियाँ उभरीं और दोनों ने विश्व पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयास आरंभ किया, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में इन दोनों महाशक्तियों के मध्य इस तनावपूर्ण स्थिति को अभिव्यक्त करने के लिए 'शीतयुद्ध' का नाम दिया गया।

वस्तुतः शीतयुद्ध कोई सैनिक युद्ध या प्रत्यक्ष युद्ध नहीं होकर एक वैचारिक युद्ध था। संयुक्त राज्य अमेरिका उदार लोकतांत्रिक एवं पूंजीवादी व्यवस्था का समर्थक था वहीं सोवियत संघ साम्यवादी विचारधारा का पोषक था। अतः दोनों महाशक्तियों ने अपनी-अपनी विचारधारा के प्रसार तथा शत्रु के विचारधारा के अवरोध के लिए तमाम जायज-नाजायज साधनों का जमकर प्रयोग किया। वास्तव में शीतयुद्ध एक प्रकार का वाकयुद्ध, मनोवैज्ञानिक युद्ध, कूटनीतिक युद्ध, प्रचार युद्ध या पं. जवाहर लाल नेहरू के शब्दों में 'स्नायुयुद्ध' था। चूँकि इस दौरान कोई प्रत्यक्ष युद्ध नहीं हुआ, किन्तु युद्ध का वातावरण सदैव बना रहा, इसी कारण इसे 'सशस्त्र शांति का युग' भी कहते हैं। शीतयुद्ध शब्द का प्रथम प्रयोग बर्नार्ड बारूच ने 16 अप्रैल 1947 को एक भाषण में किया था, किन्तु इसे लोकप्रिय बनाने का काम बाल्डर लिपमैन ने अपनी पुस्तक के माध्यम से किया। पं. जवाहर लाल नेहरू ने शीतयुद्ध को परिभाषित करते हुए कहा था कि "शीतयुद्ध पुरातन शक्ति संतुलन की अवधारणा का नया रूप है।" डी॰एफ॰ फ्लेमिंग के अनुसार, "शीतयुद्ध एक युद्ध है, जो युद्धक्षेत्र में नहीं बल्कि मस्तिष्क से लड़ा जाता है तथा इसके द्वारा विचारों पर नियंत्रण किया जाता है।" जोसेफ क्रेंकल के अनुसार शीतयुद्ध को दो बड़े राज्यों के मध्य विद्यमान गहरी प्रतियोगिता के सिलसिले के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि शीतयुद्ध कोई

शीतयुद्ध अपने स्वरूप में मूलतः एक राजनयिक युद्ध के समान है, यह युद्ध नेताओं एवं राजनयिकों द्वारा लड़ा जाता है।

वास्तविक युद्ध नहीं था, अपितु यह दोनों महाशक्तियों के मध्य, भय, अविश्वास तथा तनाव का सूचक था। यह एक ऐसा युद्ध था जिसमें वैचारिक शस्त्रों का प्रयोग प्रतिपक्षी के प्रभाव क्षेत्र को कम करने तथा अपने समर्थकों की संख्या में वृद्धि के लिए किया जाता था। शीतयुद्ध अपने स्वरूप में मूलतः एक राजनयिक युद्ध के समान है, यह युद्ध नेताओं एवं राजनयिकों द्वारा लड़ा जाता है। इस युद्ध में दोनों महाशक्तियों का राजनयिक जोड़-तोड़ एवं गठजोड़ का खेल इतना उग्र था कि अंतर्राष्ट्रीय वातावरण में सदैव युद्ध सा वातावरण बना रहता था। यद्यपि दोनों महाशक्तियां आपस में द्वैत्य संबंध बनाए रखती थी, किन्तु परस्पर शत्रुता एवं कटुता में कोई कमी नहीं होती थी। दोनों महाशक्तियाँ अपनी विचारधारा एवं नीतियों का प्रसार करने तथा अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए सदैव प्रयासरत् रहती थी एवं इस हेतु अनेक प्रकार के उपायों का सहारा लेती थी।

शीतयुद्ध के उद्‌भव के पीछे अनेक कारणों का योगदान रहा और शीतयुद्ध का प्रभाव वैश्विक स्तर पड़ा। सामान्यतया शीतयुद्ध का नकारात्मक प्रभाव ही अधिक देखने को मिला है, किन्तु आज शीतयुद्ध औपचारिक रूप से अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के परिप्रेक्ष्य में समाप्त हो चुका है और इसका प्रमुख कारण सोवियत संघ का विघटन है। सोवियत संघ के विघटन के बाद यह विचारणीय प्रश्न है कि शीतयुद्ध की समकालीन प्रासंगिकता क्या है? शीतयुद्ध मुख्यतः दो विचारधाराओं का युद्ध था जिसका रणक्षेत्र दोनों महाशक्तियों का मस्तिष्क था। शीतयुद्ध की समकालीन प्रासंगिकता के संदर्भ में कहा जा सकता है कि हालांकि शीतयुद्ध आज औपचारिक रूप से खत्म हो चुका है, किन्तु आज भी विश्व राजनीति में इसका अनौपचारिक अस्तित्व बना हुआ है। वर्त्तमान में इसकी प्रकृति काफी परिवर्तित हो चुकी है अब शीतयुद्ध का स्थान क्षेत्रीय युद्ध एवं प्रॉक्सी-वार ने ले लिया है। शीतयुद्ध के दौरान जो साधन अपनाए जाते थे, वे आज भी परस्पर विरोधी राष्ट्रों, दो परस्पर विरोधी क्षेत्रीय राष्ट्रों के बीच अपनाए जाते हैं। प्रचार, शक्ति प्रदर्शन, आर्थिक सहायता, कूटनीतिक साधन, जासूसी, शस्त्रों का प्रसार इत्यादि साधन आज भी परस्पर विरोधी राष्ट्रों के बीच अपनाए जाते हैं।

आज हम यह कह सकते हैं कि शीतयुद्ध का स्वरूप पूरी तरह बदल चुका है, अब यह दो विचारधाराओं का युद्ध नहीं रह गया है, बल्कि इसने दो राष्ट्रों, दो शक्तियों एवं दो क्षेत्रों के बीच के युद्ध का स्वरूप ले लिया है। क्षेत्रीय एवं द्विपक्षीय तनाव एवं संघर्ष इसी का परिणाम है। यद्यपि शीतयुद्ध का स्वरूप वैश्विक न होकर क्षेत्रीय एवं द्विपक्षीय हो गया है किन्तु शीतयुद्ध के दौरान उत्पन्न हुई अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएँ आज भी बनी हुई हैं एवं शीतयुद्ध के समाप्ति के बाद भी अंतर्राष्ट्रीय जगत में क्रियाशील हैं। नाटो एवं गुटनिरपेक्ष आंदोलन इत्यादि मुख्यतः शीतयुद्ध के पैदाइश माने जाते हैं। यह सच है कि आधुनिक आणविक युग में राष्ट्रों के बीच जो वैचारिक संघर्ष है उसका प्रभाव अंतर्राष्ट्रीय जगत पर वैसा नहीं रह गया है जैसा शीतयुद्ध के काल में था, परन्तु जिस प्रकार विश्व के परस्पर विरोधी राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हितों की पूर्ति के लिए प्रचार एवं मनौवैज्ञानिक युद्ध का सहारा ले रहे हैं उसने शीतयुद्ध की आत्मा को जीवित रखा है। शीतयुद्ध के समाप्ति का निहितार्थ यह नहीं है कि राष्ट्रों के बीच के मतभेद समाप्त हो गए हैं, जब तक राष्ट्रों के बीच के मतभेद व्याप्त रहेंगे तब तक वैचारिक संघर्ष चलता रहेगा और जब तक वैचारिक संघर्ष रहेगा तब तक शीतयुद्ध किसी न किसी रूप में अंतर्राष्ट्रीय संबंधों जीवित रहेगा।

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति एक गतिशील एवं परिवर्तनशील प्रक्रिया है। समय एवं परिस्थिति के अनुसार इसका स्वरूप बदलता रहता है, परिणामतः विश्व व्यवस्था भी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में होने वाले परिवर्तनों से प्रभावित होती रहती है। शीतयुद्ध के अंत ने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति एवं संबंधों को गंभीर रूप से प्रभावित किया है, साथ ही विश्व व्यवस्था की प्रकृति को भी प्रभावित किया। शीतयुद्धोत्तर काल में विश्व व्यवस्था का जो स्वरूप उभरा है उसमें कई नयी प्रवृत्तियाँ देखी गई हैं। अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में आए इन नवीन परिवर्तनों के आलोक में नई विचारधारा एवं नए संबंधों का शुभारंभ हुआ है, जिसका विश्व पर बहुआयामी प्रभावी पड़ा है।

शीतयुद्ध के अंत ने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति एवं संबंधों को गंभीर रूप से प्रभावित किया है, साथ ही विश्व व्यवस्था की प्रकृति को भी प्रभावित किया।

सर्वप्रथम, शीतयुद्ध की समाप्ति के पश्चात् सोवियत संघ का विघटन एवं पूर्वी यूरोप के देशों में साम्यवादी दुर्ग के ढह जाने का एक स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि अमरीका को चुनौती देने वाली शक्ति का अभाव हो गया और अमेरीका विश्व की एकमात्र महाशक्ति के रूप में सामने आया। संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् में अमेरीकी शक्ति को संतुलित करने वाली कोई शक्ति नहीं रह गई हैं जिसके प्रमाण के रूप में खाड़ी युद्ध, युगोस्लाविया संकट, लीबिया, क्यूबा, उत्तर कोरिया और ईरान पर प्रतिबंध, आतंकवाद के नाम पर अफगानिस्तान एवं रासायनिक हथियार के नाम पर इराक पर हमला है। इसे देखते हुए यह कहा जाने लगा है कि विश्व व्यवस्था का स्वरूप एकध्रुवीय हो गया है। आज अमरीका विश्व के प्राय: हर महत्वपूर्ण मामलों में, द्विपक्षीय संबंधों तथा विश्व की आर्थिक गतिविधियों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने लगा है और उसकी इस भूमिका को संबद्ध राष्ट्र स्वीकार भी करने लगे हैं।

यद्यपि वर्तमान विश्व व्यवस्था को एकध्रुवीय माना जा सकता है, फिर भी यह एक ऐसी एकध्रुवीय व्यवस्था है, जो बहुध्रुवीय विश्व व्यवस्था की ओर अग्रसर है। आज विश्व में एकध्रुवीय व्यवस्था का विरोध हो रहा है, रूस, चीन एवं भारत जैसे देशों की आर्थिक एवं सामरिक शक्ति बढ़ रही है और वे सक्रिय रूप से अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में भाग ले रहे हैं। युरोपीय संघ तेजी से सशक्त होता जा रहा है, ऐसे में एकबार फिर बहुध्रुवीय विश्व व्यवस्था का स्वरूप नजर आने लगा है।

शीतयुद्धोत्तर काल में विश्व व्यवस्था का जो स्वरूप उभरा है उसमें अंतर्राष्ट्रीय जगत में आर्थिक संबंधों का महत्व बढ़ गया है। आर्थिक तत्व अब राजनीतिक संबंधों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने लगे हैं। परस्पर निर्भरता के इस आधुनिक युग में यह बात स्पष्ट हो चुकी है कि कोई एक राष्ट्र अपनी समस्त जरूरतों की पूर्ति खुद नहीं कर सकता, फलत: आर्थिक सहयोग की धारणा को

आज विश्व में एकध्रुवीय व्यवस्था का विरोध हो रहा है, रूस, चीन एवं भारत जैसे देशों की आर्थिक एवं सामरिक शक्ति बढ़ रही है और वे सक्रिय रूप से अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में भाग ले रहे हैं।

अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में बल मिला है। आज सभी छोटे बड़े राज्य एक-दूसरे के साथ सहयोग करने लगे हैं। वैश्वीकरण एवं उदारीकरण के विश्वव्यापीकरण ने भी विश्व व्यवस्था में आर्थिक तत्व के महत्व को निरूपित कर दिया है।

शीतयुद्धोत्तर काल में विश्व व्यवस्था स्वरूप सहयोगात्मक हो गया हैं विचारधाराओं का टकराव खत्म हो गया है, जिसके परिणाम स्वरूप विश्व में सहयोग का वातावरण तैयार हुआ है। पूर्वी यूरोप में प्रजातांत्रिक मूल्यों के अधिग्रहण, बर्लिन की दीवार के टूटने व जर्मनी के एकीकरण आदि घटनाओं ने यूरोपीय देशों को एक दूसरे के निकट संपर्क में ला दिया है। फलत: देशों के बीच व्यापक स्तर पर राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक सहयोग का वातावरण तैयार हुआ है।

नवोदित विश्व व्यवस्था के अंतर्गत अंतर्राष्ट्रीय दृष्टि से क्षेत्रीय आर्थिक एकीकरण की प्रक्रिया तेज हो गई है और क्षेत्रीय सहयोग संगठनों का महत्व बढ़ गया है। यूरोपीय आर्थिक एकता की अवधारणा का सफल संचालन दूसरे राष्ट्रों के लिए उत्साहवर्द्धक रहा है। इसमें यूरोपीय साझे बाजार, यूरोपीय आर्थिक समुदाय तथा यूरोपीय संघ की भूमिका महत्वपूर्ण रही है। आसियान, सार्क, साफ्टा, नाफ्टा, ओपेक, जी-8, जी-15, जी-77 जैसी संगठनों की बढ़ती हुई भूमिका को इस परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है। इन संगठनों का उद्देश्य सहयोग एवं क्षेत्रीय विकास को बढ़ावा देना है।

इसके अतिरिक्त शीतयुद्धोत्तर काल में जिस विश्व व्यवस्था का विकास हुआ उसमें विश्व बंधुत्व एवं शांतिपूर्ण सहअस्तित्व एकमात्र वैश्विक मूल्य के रूप में उभरा है। परमाणु मुक्त विश्व की स्थापना पर जोर दिया जा रहा हैं समस्त विश्व में लोकतांत्रिकरण, उदारीकरण एवं भूमंडलीकरण की प्रक्रिया तीव्र हुई है। नये अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक परिप्रेक्ष्य का निर्माण हुआ है। साम्यवादी अर्थव्यवस्था के टूटने के कारण पूंजीवादी एवं उदारवादी मॉडल को सर्वव्यापी मान्यता प्राप्त हो गयी।

अत: देखा जा सकता है कि शीतयुद्ध के अंत का संपूर्ण विश्व पर बहुआयामी प्रभाव पड़ा और इसने विश्व व्यवस्था को उलट दिया। आज दुनिया भर में उदार लोकतंत्रवाद तथा पूँजीवाद का सर्वत्र बोलबाला दिखाई देता है। यद्यपि इस दौरान हितों एवं शक्ति के लिए निरंतर चलने वाले संघर्ष के कारण कट्टरता, धार्मिक उन्माद तथा आतंकवाद जैसे नए कारक भी उभर कर सामने आए हैं परन्तु राष्ट्रों के बीच पारस्परिक मित्रता, द्विपक्षीय एवं बहुपक्षीय सहयोग, सत्त विकास, नि:शस्त्रीकरण, मानवाधिकारवाद, पर्यावरणवाद तथा नारीधिकारवाद जैसे मुद्दों पर जागरूकता एवं आम सहमति बढ़ी है। इस कारण शीतयुद्ध के पूर्ववर्ती स्वरूप के पुनरोदय की संभावना क्षीण दिखाई पड़ती है।

संदर्भ सूची:-

- इंडियन फॉरैन पॉलिसी - जे एल नेहरू
- शीतयुद्ध : पास्ट एण्ड प्रजेन्ट - दैंदयात्तर
- भारत और शीतयुद्ध - के पीएस मेनन
- अंतर्राष्ट्रीय संबंध - बी एन खन्ना
- अंतर्राष्ट्रीय संबंध - एम एल शर्मा
- अंतर्राष्ट्रीय राजनीति - यू आर घई
- आधुनिक विश्व का इतिहास - हुकम चंद जैन, कृष्ण चन्द्र माथुर।

❑❑❑

मार्गेन्थाउ का यथार्थवादी सिद्धान्त: एक आलोचनात्मक अध्ययन

शाहजाद अहमद अंसारी

मार्गेन्थाउ के सिद्धान्त का पहला तत्व यह है कि राजनीति पर प्रभाव डालने वाले सभी नियमों की जड़ मानव प्रकृति में निहित होती है। उनके अनुसार मानवीय स्वभाव के वस्तुनिष्ठ कानूनों को जानने के लिए मानवीय संबंधों के भूतकालीन तथ्यों का विश्लेषण करना होगा।

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अध्ययन हेतु अपनाए गए विभिन्न दृष्टिकोणों में यथार्थवादी दृष्टिकोण को सबसे प्रभावशाली कहा जाए तो इसमें अतिश्योक्ति नहीं होनी चाहिए। इस दृष्टिकोण का उदय आदर्शवाद के प्रतिक्रिया स्वरूप एवं आधुनिक युग में मैकियावेली तथा हाब्स के दर्शन से अभिप्रेरित होकर हुआ। आदर्शवाद अंतर्राष्ट्रीय जगत को प्रथम एवं द्वितीय विश्वयुद्ध जैसी महत्वपूर्ण घटनाओं को भी समझाने में असफल रहा। इतनी बड़ी घटना के संबंध में किसी प्रकार की भविष्यवाणी नहीं की जा सकी, फलस्वरूप द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विद्वानों द्वारा अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सिद्धान्त की कमी महसूस की गयी जिसकी पूर्ति के रूप में यथार्थवाद अस्तित्व में आया।

इस सिद्धान्त के समर्थक इ. एच. कार, जार्ज एफ. कैनन, नेबुर तथा थैम्पसन आदि हैं किन्तु इसे वैज्ञानिक रूप में स्थापित करने का श्रेय मार्गेन्थाउ को ही है।

इस सिद्धान्त की निम्न आधारभूत मान्यताएँ हैं -

1. इतिहास इस बात का साक्षी है, कि मानव स्वभाव से ही जंगली तथा स्वार्थी है।
2. शक्ति की लालसा मानव प्रकृति का सबसे प्रमुख महत्वपूर्ण तत्व है।
3. शक्ति के लिए मानवीय लालसा समाप्त नहीं की जा सकती।
4. शक्ति के लिए संघर्ष अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की अटल तथा अमर विशेषता है।
5. प्रत्येक राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हित के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए शक्ति का प्रयोग करता है, तथा राष्ट्रीय हितों को सदैव शक्ति के रूप में परिभाषित करता है।
6. आत्मपरीक्षण वह नियम है जो सभी राज्यों के सभी कार्यों पर सदैव लागू होता है।
7. राष्ट्र सदैव शक्ति चाहते हैं, शक्ति का प्रदर्शन करते हैं तथा शक्ति का प्रयोग करते हैं।
8. शांति की सुरक्षा केवल शक्ति प्रबंधन के साधनों जैसे, शक्ति-संतुलन, कूटनीति, संधियों, समझौतों आदि द्वारा स्थापित की जाती है।

उपरोक्त तथ्यों का सत्यापन यथार्थवादी सिद्धान्त के प्रमुख प्रवक्ता मार्गेन्थाउ ने अपने तर्कों द्वारा करने का प्रयास किया है। उन्होंने मानव प्रकृति में निहित प्रवृत्ति एवं इतिहास द्वारा इसे स्थापित करने का प्रयास किया है। जिसके लिए उन्होंने छः सिद्धान्त प्रतिपादित किए।

मार्गेन्थाउ के सिद्धान्त का पहला तत्व यह है कि राजनीति पर प्रभाव डालने वाले सभी नियमों की जड़ मानव प्रकृति में निहित होती है। उनके अनुसार मानवीय स्वभाव के वस्तुनिष्ठ कानूनों को जानने के लिए मानवीय संबंधों के भूतकालीन तथ्यों का विश्लेषण करना होगा। इतिहास तथा भूतकाल के कार्यों पर पुनर्विचार वस्तुनिष्ठ कानूनों एवं आज के संबंधों का मूल्यांकन करने के लिए हमारा सहायक हो सकता है, क्योंकि राजनीति के कानूनों का प्रमुख मानव स्वभाव होता है, जो अधिक परिवर्तित नहीं होता। मानव संबंधों के इतिहास का अवलोकन अनुभव सिद्ध तथा तर्क संगत होना चाहिए। मार्गेन्थाउ 'शक्ति-संतुलन' के सिद्धान्त का उदाहरण देता है जिसका राजनीति तथा तर्क दोनों प्रकार के तथ्य समर्थन करते हैं।

राष्ट्र हमेशा शक्ति के साधन द्वारा ही राष्ट्रीय हित प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि राष्ट्रों ने हमेशा शक्ति के आधार पर कार्य किया है।

अपने दूसरे सिद्धान्त के अन्तर्गत मार्गेन्थाउ 'शक्ति के रूप में परिभाषित राष्ट्रीय हित' के अध्ययन की वकालत करते हैं। यही सिद्धान्त मार्गेन्थाउ के यथार्थवाद का केन्द्र बिन्दु है। यह वह सिद्धान्त है जो अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को स्वायत्तता प्रदान करता है तथा घरेलू राजनीति से इसके भेद को प्रकट करता है। राष्ट्र हमेशा शक्ति के साधन द्वारा ही राष्ट्रीय हित प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि राष्ट्रों ने हमेशा शक्ति के आधार पर कार्य किया है। विदेश नीति-निर्माणकर्ता हमेशा शक्ति को राजनीति का केन्द्रीय तथ्य मानते हैं। तथा इसी आधार पर नीति निर्माण करते हैं। विचारधारा इनके अनुसार सिर्फ एक मुखौटा है, केन्द्रीय तत्व नहीं जिसकी आड़ में कोई राष्ट्र अपने हितों की सिद्धि करता है।

तीसरे सिद्धान्त के अंतर्गत मार्गेन्थाउ 'हित को सदैव परिवर्तनीय बताते हैं। राष्ट्रीय हित की धारणा राजनीति का सार है तथा समय और स्थान की परिस्थितियों से प्रभावित नहीं होती। परन्तु राष्ट्रीय हित का क्षेत्र अपने स्वरूप तथा क्षेत्र में परिवर्तनशील होता है। राष्ट्रीय हित परिवर्तनीय है तथा किसी राज्य की नीतियों तथा कार्यों का विश्लेषण करने के लिए इनका भी लगातार विश्लेषण होते रहना चाहिए। यही कथन शक्ति की अवधारणा पर भी लागू होता है। क्योंकि राष्ट्रीय हित के परिवर्तन के साथ ही इसे प्राप्त करने के क्रम में राष्ट्रीय शक्ति भी बदल जाती है।

चौथे सिद्धान्त के तहत राजनैतिक यथार्थवाद नैतिक नियमों के महत्व को मानता है परन्तु उसका यह दृढ़ विश्वास है कि अमूर्त तथा सर्वमान्य स्वरूप के रूप में उन्हें राज कार्यों पर लागू नहीं किया जा सकता। यथार्थवाद इस बात पर विश्वास करता है कि राज्यों से आशा नहीं करना चाहिए कि वे मनुष्य द्वारा माने गए नैतिक मानदण्डों के तरह ही इन्हें मानेंगे। नैतिक नियमों को मानने के लिए कोई भी राज्य अपनी स्वतंत्रता या सुरक्षा या दूसरे मूल राष्ट्रीय हितों का बलिदान नहीं कर सकता। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि यथार्थवाद नैतिकता विहिन है। यथार्थवाद यह मानता है कि सार्वभौमिक नैतिक सिद्धान्तों को उनके अमूर्त सार्वभौमिक सिद्धान्त के रूप में राज कार्यों पर लागू नहीं किया जा सकेगा। परन्तु उन्हें समय तथा स्थान की मूर्त परिस्थितियों में से छान कर (Filterd) ही राज कार्यों पर लागू किया जा सकता है। एवं ऐसा ही किया जाना चाहिए।

पाँचवें सिद्धान्त के अन्तर्गत यह माना गया है कि एक राष्ट्र की नैतिक आकांक्षाओं तथा सार्वभौमिक नैतिक मूल्यों में अंतर होता है। राजनैतिक यथार्थवाद किसी विशेष राज्य की नैतिक आकांक्षाओं तथा सारी दुनिया पर लागू होने वाले नैतिक मूल्यों को एक समान मानने से इंकार करता है कि किसी राज्य के राष्ट्रीय हित या नीतियाँ, सार्वभौमिक नैतिक सिद्धान्तों का ही प्रतिबिम्ब होते हैं। प्रत्येक राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हित को ऐसे ही सिद्धान्तों की ओट में ढँक लेता है। राष्ट्र अपने-अपने राष्ट्रीय हितों को प्राप्त करने में लगे कार्यकर्त्ता हैं न कि नैतिक कानूनों के अनुयायी।

अंत में, मार्गेन्थाउ उपर्युक्त आधार पर अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की स्वायत्तता की बात करता है। उपर्युक्त सभी आधारों से स्पष्ट होते हैं कि राजनीतिक यथार्थवाद के पास विशेष बौद्धिक तथा नैतिक दृष्टिकोण है। बौद्धिक रूप से राजनीतिक यथार्थवाद राजनीतिक क्षेत्र की स्वायत्तता को कायम करता है। एक राजनीतिक यथार्थवादी हमेशा 'शक्ति के रूप में परिभाषित हित' के बारे में सोचता है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के लिए यथार्थवाद न तो आदर्शवादी है न विधिवादी, तथा न ही नीतिवादी दृष्टिकोण है। यथार्थवाद राष्ट्रों के मध्य शक्ति के लिए संघर्ष का अध्ययन करता है। जिसमें प्रत्येक राष्ट्र अपनी शक्ति बनाए रखने तथा बढ़ाने का निरंतर प्रयत्न करता है। इस तरह राजनीतिक यथार्थवाद 'अंतर्राष्ट्रीय राजनीति' के एक विशेष विषय-वस्तु तथा दृष्टिकोण वाले विषय की स्वायत्तता की वकालत करता है।

उपरोक्त वर्णित तथ्यों के अतिरिक्त राष्ट्रों के मध्य परस्पर सहयोग भी वर्तमान राष्ट्रीय राजनीति की वास्तविकता है। जिसे नव-यथार्थवादी अर्थव्यवस्था के महत्व को प्रमाणित कर प्रभावशाली बना रहा है। आज के संदर्भ में अर्थव्यवस्था को गौण विषय नहीं माना जा सकता। वैश्वीकरण एवं उदारीकरण से राष्ट्रों के मध्य जो अंतर्निर्भरता बढ़ी

नैतिक नियमों को मानने के लिए कोई भी राज्य अपनी स्वतंत्रता या सुरक्षा या दूसरे मूल राष्ट्रीय हितों का बलिदान नहीं कर सकता।

मार्गेन्थाउ ने अपने सिद्धान्त में नैतिकता के महत्व की उपेक्षा की है। वह कहता है कि किसी भी राष्ट्र को अपने राष्ट्रहित को नैतिकता से अधिक महत्व देना चाहिए।

है उसे भी नकारा नहीं जा सकता। इस दृष्टि से देखा जाए तो मार्गेन्थाउ का दृष्टिकोण एक महत्वपूर्ण क्षेत्र की उपेक्षा कर आलोचना का पात्र बनता है साथ ही अन्य कई कारणों से भी इसकी घोर आलोचना की जाती है, जो इस प्रकार है-

मार्गेन्थाउ सिर्फ हित संघर्ष पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करता है। इससे अन्य अंगों में उसकी दृष्टि सहायक नहीं हो सकती। यह बिल्कुल एकांगी अध्ययन है। अंतर्राष्ट्रीय संबंध अंतर्राष्ट्रीय राजनीति से व्यापक है, अत: मार्गेन्थाउ का दृष्टिकोण अंतर्राष्ट्रीय संबंध के विषय में अत्यंत संतुलित है।

मार्गेन्थाउ ने यथार्थवादी सिद्धान्त का मुख्य आधार मानव प्रकृति को माना है लेकिन उसके मानव प्रकृति संबंधी विचार वैज्ञानिक न होकर अनुमानों पर आधारित हैं।

इनके विचारों में अधिकांशत: असंगति है, इनकी दृष्टि में एक तरफ यदि यथार्थवाद एवं आदर्शात्मक तत्वों के समन्वय का प्रयास है तो दूसरी तरफ नियतिवाद एवं पुरुषार्थवाद जैसे विरोधी विचारों का ताल-मेल दिख पड़ता है। उनका सिद्धान्त यथार्थवादी होने के साथ-साथ आदर्शात्मक तथा मूल्यपरक भी है। राजनयिक द्वारा शांति स्थापना के क्रम में मार्गेन्थाउ ने योग्य राजनीतिज्ञों की आवश्यकता पर बल दिया है लेकिन यह बता पाने में असमर्थ है कि योग्य राजनीतिज्ञों की कसौटी क्या है।

इस सिद्धान्त की आलोचना इस आधार पर भी कि जाती है कि इसका निर्माण 18वीं एवं 19वीं सदी के ढाँचे पर किया गया है। शक्ति पर अधिक बल देने के कारण शक्तिवादी अद्वैत कहकर भी इसकी आलोचना की जाती है।

मार्गेन्थाउ शक्ति के लिए संघर्ष को अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की प्राकृतिक तथा दृढ़ वास्तविकता मानता है। अगर हम शक्ति संघर्ष को प्राकृतिक मान लें तो हम युद्ध को प्राकृतिक तथा न्याय संगत मानने से इन्कार नहीं कर सकते। अत: मार्गेन्थाउ युद्ध को न्याय संगत बना देता है।

मार्गेन्थाउ ने अपने सिद्धान्त में नैतिकता के महत्व की उपेक्षा की है। वह कहता है कि किसी भी राष्ट्र को अपने राष्ट्रहित को नैतिकता से अधिक महत्व देना चाहिए। इससे वह आदर्शवादी होने से बच जाएगा। मार्गेन्थाउ का यह विचार अत्यंत खतरनाक है, क्योंकि नैतिकता विहीन शक्ति के लिए संघर्ष राजनीति को और भी खतरनाक बना देता है।

मार्गेन्थाउ का विश्व को एक स्थिर क्षेत्र मानना जिसमें शक्ति संबंध अपने आपको समय रहित एकरसता में प्रतिपादित करते हैं, बड़ा अवास्तविक है। यह विश्व तथा विश्व राजनीति के वास्तविक स्वरूप के वर्णन में असफल है।

मार्गेन्थाउ के प्रयत्नों का ही फल है कि हमारे लिए अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सिद्धान्त के रूप में यथार्थवाद की क्रमबद्ध विचारधारा का होना संभव हो पाया है।

मार्गेन्थाउ द्वारा शक्ति को दूसरों के मस्तिष्कों तथा कार्यों का नियंत्रण करने की योग्यता के रूप में वर्णन करना, अपर्याप्त तथा अस्पष्ट है। इस प्रकार की परिभाषा हर प्रकार के संबंधों को राजनीतिक संबंध तथा हर प्रकार के कार्यों को राजनीतिक कार्य बना देती है।

अंत में मार्गेन्थाउ के अपने स्वायत्तता संबंधी विचार भी अस्पष्ट हैं।

उपरोक्त आलोचनाओं से यह नहीं समझना चाहिए कि मार्गेन्थाउ का यथार्थवादी सिद्धांत महत्वहीन है। दरअसल मार्गेन्थाउ ही वह पहला विचारक है जिसे अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को आदर्शवादियों के पंजे से निकालने तथा शक्ति के अध्ययन को महत्वपूर्ण बनाने का श्रेय प्राप्त है। यह मार्गेन्थाउ के प्रयत्नों का ही फल है कि हमारे लिए अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के सिद्धान्त के रूप में यथार्थवाद की क्रमबद्ध विचारधारा का होना संभव हो पाया है। इसने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को आदर्शवाद से बदलकर विज्ञानवाद की ओर ले जाने में प्रमुख साधन का कार्य किया है साथ ही अध्ययन के विषय के रूप में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को एक स्वायत विषय के रूप में अपनी पहचान कायम करने में भी सहायता की है। अत: मार्गेन्थाउ का यथार्थवादी सिद्धान्त अपनी कमियों के बावजूद अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में अपनी देनों के लिए अविस्मरणीय रहेगा।

संदर्भ सूची:

1. महेन्द्र कुमार - अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धांतिक पक्ष
2. यू॰आर॰ घई - अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति
3. बी॰एल॰ फाड़िया - अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति
4. पुष्पेश पंत - 21वीं शताब्दी में अन्तर्राष्ट्रीय संबंध

संपर्क: शाहजाद अहमद अंसारी
यू॰जी॰सी॰-नेट
सहायक शिक्षक,
गार्डेन रिच उच्च विद्यालय, कोलकाता

❑❑❑

वर्त्तमान संदर्भ में प्लेटो के शिक्षा सिद्धान्त की सार्थकता

हरिनारायण प्रसाद चौरसिया

प्लेटो की मान्यता है कि शिक्षा द्वारा मनुष्य की प्राकृतिक क्षमता का विकास किया जा सकता है। यद्यपि परिपोषण मानव प्रकृति का निर्माण नहीं कर सकता तथापि समुचित परिपोषण के अभाव में मानव प्रकृति के विकृत होने की अत्यधिक संभावना रहती है। शिक्षा वह 'परिपोषण' है, जिसके श्रेष्ठ तथा निकृष्ट होने पर मानव की प्राकृतिक क्षमता का समुचित विकास अथवा ह्रास होता है।

सुकरात का प्रधान शिष्य प्लेटो का जन्म एथेन्स के एक प्राचीन समृद्ध कुल में 428-27 ई. पूर्व में हुआ था। 399 ई. पूर्व में सुकरात के प्राण दण्ड के बाद प्लेटो राजनीति से विरक्त हो कर दर्शन की ओर आकृष्ट हुए। इस दर्दनाक घटना ने प्लेटो को यह सोचने के लिए बाध्य कर दिया कि जब तक शासक दार्शनिक, ज्ञानी और विवेकी नहीं होगा, तब तक राज्य का कल्याण संभव नहीं हो सकता।

प्लेटो ने अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' में शिक्षा का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। उसकी मान्यता है कि राज्य प्रथम और सर्वोत्तम शिक्षण संस्थान है। श्रेष्ठ शिक्षा प्रणाली द्वारा कोई भी सुधार संभव हो सकता है। यदि राज्य शिक्षा की उपेक्षा करता है तो उसका महत्त्व नगण्य हो जाता है चाहे वह अन्य कितने भी कार्य क्यों न करे।

प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य को न्याय सिद्धान्त पर आधारित किया है। इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा के एक प्रमुख साधन के रूप में उसने शिक्षा के महत्त्व को स्वीकार किया है। न्याय सिद्धान्त के अनुसार राज्य के प्रत्येक नागरिक को उसकी क्षमता एवं प्रशिक्षण के आधार पर निर्धारित हुए कार्यक्षेत्र में काम करते हुए श्रेष्ठता की प्राप्ति के लक्ष्य की ओर निरन्तर गतिशील रहना चाहिए।

प्लेटो का शिक्षा सिद्धान्त उसकी मूलभूत मान्यता 'सद्गुण ही ज्ञान है' पर आधारित है। यदि सद्गुण ही ज्ञान है तो इसे शिक्षा द्वारा ग्रहण किया जा सकता है और इसलिए नागरिकों को सद्गुणी बनाने के लिए श्रेष्ठ शिक्षा का प्रबंध करना अपरिहार्य माना है।

प्लेटो की मान्यता है कि शिक्षा द्वारा मनुष्य की प्राकृतिक क्षमता का विकास किया जा सकता है। यद्यपि परिपोषण मानव प्रकृति का निर्माण नहीं कर सकता तथापि समुचित परिपोषण के अभाव में मानव प्रकृति के विकृत होने की अत्यधिक संभावना रहती है। शिक्षा वह 'परिपोषण' है, जिसके श्रेष्ठ तथा निकृष्ट होने पर मानव की प्राकृतिक क्षमता का समुचित विकास अथवा ह्रास होता है। उसके अनुसार शिक्षा का ध्येय आत्म-चक्षु को प्रकाशोन्मुख करने का है। शिक्षा के द्वारा आत्मा पल्लवित, पुष्पित और सुरभित होती है।

प्लेटो की शिक्षा योजना का एक सामाजिक पहलू भी है। एक सामाजिक प्रक्रिया के रूप में शिक्षा व्यक्ति को समष्टि के साथ अपना समन्वय बैठाने में सहायता करती है। यह व्यक्ति में वह सत्यवादिता उत्पन्न करती है जो उसमें आज्ञाकारिता तथा आत्मसंयम आदि समष्टि हितकारी गुणों का विकास करती है। शिक्षा के कारण समाज की विभिनन इकाइयाँ सामाजिक चेतना के साथ एकरूपता स्थापित कर, सामाजिक हित की आवश्यकताओं को पूरा करने में जुट जाती है।

प्लेटो के अनुसार शिक्षा विषयक कार्य राज्य के कार्यों में प्रमुख तथा महत्वपूर्ण स्थान रखता है। शिक्षा का महत्त्व इस

आदर्श राज्य में जो सर्वोच्च स्थान प्लेटो ने दार्शनिक शासक को प्रदान किया है एवं संरक्षक वर्ग को उत्पादक वर्ग की तुलना में जो महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है, उसका आधार शिक्षा ही है।

बात में है कि वह नागरिकों को उनके राज्य के नैतिक जीवन में भाग लेने योग्य बनाती है। आदर्श राज्य में जो सर्वोच्च स्थान प्लेटो ने दार्शनिक शासक को प्रदान किया है एवं संरक्षक वर्ग को उत्पादक वर्ग की तुलना में जो महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है, उसका आधार शिक्षा ही है।

शिक्षा का दार्शनिक दृष्टि से महत्त्व यह है कि इसका अंतिम लक्ष्य उस सत्य की खोज करना है, जो काल तथा स्थान की पहुँच से बहुत दूर है, जो सृष्टि की सभी वस्तुओं का मूल कारण है, जो अपनी विभूति से सदा दिव्यमान होता है एवं जिसकी ज्योति से समस्त चराचर प्रकाशित होता रहता है।

प्लेटो के समय दो प्रकार की शिक्षा पद्धतियाँ प्रचलित थीं – पहली पद्धति एथेंस की थी तथा दूसरी स्पार्टा की। इन दोनों प्रणालियों में अन्तर तथा दोनों की अपनी-अपनी विशेषताएँ एवं कमियाँ थीं।

यूनानी नगर राज्य एथेन्स में शिक्षा व्यक्तिगत हाथों में थी। वहाँ नागरिकों की शिक्षा का प्रबंध राज्य नहीं करता था, शिक्षा देना परिवार का निजी कार्य समझा जाता था। यहाँ की शिक्षा व्यवस्था के तीन सोपान क्रमशः (1) प्राथमिक (2) माध्यमिक तथा (3) सैनिक थे। एथेंस के बालक को 6 वर्ष से 14 वर्ष की उम्र तक प्राथमिक शिक्षा मिल सकती थी, जिसके अन्तर्गत साहित्यिक, व्यायाम संबंधी तथा संगीत की शिक्षा शामिल थी। 14 से 18 वर्ष तक व्यक्ति को माध्यमिक शिक्षा मिल सकती थी, जिस शिक्षा का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति को राजनीतिक जीवन का प्रशिक्षण देना होता था, इसका लाभ धनाढ्य वर्ग के कुछ गिने-चुने लोग ही उठा सकते थे। 18 से 20 वर्ष की उम्र तक सैनिक शिक्षा दी जाती थी। नागरिक अधिकार प्राप्ति के लिए, वहाँ प्रत्येक नवयुवक को यह सैन्य शिक्षा अनिवार्य रूप से ग्रहण करनी पड़ती थी। एथेन्स के राजनीतिज्ञों के अज्ञानी होने से प्लेटो के मन में इस शिक्षा-पद्धति के विरूद्ध असंतोष एवं प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई। इसके परिणामस्वरूप उसने अपनी शिक्षा पद्धति में निम्न तत्त्वों पर बल दिया –

(1) शिक्षा राज्य द्वारा दी जानी चाहिए।

(2) शिक्षा का उद्देश्य उत्तम नागरिक बनाना और उन्हें अपने कार्यों का ज्ञान देना होना चाहिए।

(3) एथेन्स में परिवार द्वारा शिक्षा देने की पद्धति का उन्मूलन होना चाहिए।

(4) शिक्षा द्वारा योग्य एवं ज्ञानी शासक दार्शनिक राजा तैयार किए जाने चाहिए और इस प्रकार सर्वोत्तम राज्य का सृजन किया जाना चाहिए।

यूनान में दूसरी शिक्षा-पद्धति स्पार्टा की थी। यहाँ शिक्षा में परिवार का कोई स्थान न था, सात वर्ष की आयु से बालक राज्य के एक अधिकारी को सौंप दिए जाते थे। शिक्षा का मुख्य उद्देश्य युवकों को कठोर सैनिक प्रशिक्षण द्वारा वीर क्षत्रिय योद्धा बनाना था ताकि वे स्पार्टा की रक्षा कर सकें। स्त्रियों के लिए भी शारीरिक शिक्षा अनिवार्य थी। 20 वर्ष की आयु के बाद वहाँ नागरिकों को विवाह करने की स्वतंत्रता थी, किन्तु 30 वर्ष तक उन्हें 'पुरुषों के घर' में रहना पड़ता था। विवाह एक गुप्त एवं अवैध संबंध होता था, पति-पत्नी वैवाहिक तथा पारिवारिक जीवन-यापन नहीं कर सकते थे, बच्चे सात वर्ष के होते ही उनसे पृथक हो जाते थे। सब नागरिक सामूहिक भोजनालय में भोजन करते थे। स्पार्टा की यह शिक्षा-पद्धति उन दिनों इतनी प्रसिद्ध थी कि एथेंस से शिक्षा ग्रहण करने युवक यहाँ आया करते थे। अपनी इस सैनिक शिक्षा-पद्धति के कारण स्पार्टा ने एथेंस का पराभव किया। वहाँ अन्य नगर राज्यों की भाँति शासन प्रणाली में परिवर्तन नहीं होते थे।

अपने आदर्श राज्य के लिए शिक्षा प्रणाली की रूप-रेखा तैयार करते समय प्लेटो ने एथेन्स तथा स्पार्टा की शिक्षा प्रणालियों के गुणों को अंगीकार किया है। अपनी शिक्षा योजना को प्लेटो ने दो स्तरों –

(1) प्रारंभिक शिक्षा तथा

(2) उच्च शिक्षा में विभक्त किया है।

प्रारंभिक शिक्षा 6 से 20 वर्ष की आयु तक के बच्चों के लिए है। इस शिक्षा का मुख्य उद्देश्य नागरिकों में सामाजिकता का विकास करना है। यह मुख्य रूप से भावनाओं द्वारा चरित्र निर्माण की शिक्षा है। यह प्रमुख रूप से सामाजिक प्रशिक्षण है। इसका उद्देश्य नागरिकों के एक वर्ग को सैनिक कार्यों के समुचित सम्पादन के लिए तैयार करना है। अतः प्राथमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में उसने व्यायाम तथा संगीत को सम्मिलित किया है। प्लेटो के शब्दों में, 'शरीर के लिए व्यायाम तथा आत्मा के लिए संगीत है।' प्लेटो ने विशेष अर्थों में व्यायाम और संगीत का प्रयोग किया है।

व्यायाम से तात्पर्य शरीर की सामान्य देख-रेख से है। व्यायाम का अर्थ केवल शारीरिक कसरत ही नहीं, अपितु शरीर को स्वस्थ बनाये रखने वाले आहारशास्त्र और चिकित्सा शास्त्र का भी ज्ञान है। व्यक्ति के शारीरिक विकास के लिए उसने सादे भोजन को महत्त्वपूर्ण माना है। प्लेटो अत्यधिक स्वादिष्ट तथा गरिष्ठ खाद्य-पदार्थों का उपयोग अनुचित समझता था। एक अत्यन्त रूग्ण व्यक्ति को वह मर जाने देने के अधिक पक्ष में था, उसकी चिकित्सा किये जाने के नहीं।

प्लेटो की दृष्टि में 'संगीत' शब्द का विस्तृत क्षेत्र है। संगीत का अर्थ

कोरी गान विद्या नहीं बल्कि, यह काव्य, साहित्य, गीत, नृत्य, मूर्ति चित्र आदि सभी ललित कलाओं का प्रतीक है।' प्लेटो ने ऐसे काव्य को, जो देवताओं तथा ईश्वर के श्रेष्ठ चरित्र तथा महानता का चित्रण करता हो, पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया है। धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा का भी प्लेटो ने साहित्य के अन्तर्गत ही समावेश किया है।

प्लेटो जिस प्रकार शारीरिक शिक्षण द्वारा अपने राज्य से डॉक्टरों को निर्वासित करना चाहता है, उसी प्रकार संगीत की शिक्षा द्वारा वकीलों और न्यायालयों के बहिष्कार का पक्षपाती है। संगीत प्रत्यक्ष रूप से मन का प्रशिक्षण कर सकता है और व्यायाम अप्रत्यक्ष रूप से।

प्लेटो द्वारा प्रतिपादित प्रारंभिक शिक्षा के अन्तर्गत व्यायाम और संगीत का प्रशिक्षण 18 वर्ष की आयु तक दिया जाएगा। उसके उपरान्त 18 वर्ष से 20 वर्ष की आयु तक दो वर्षों की अवधि में सैनिक शिक्षा का पाठ्यक्रम लागू किया जाएगा। उसके समाप्त होने पर जो व्यक्ति सबसे अधिक योग्यता का परिचय देगा उन्हें उच्च स्तरीय शिखा के लिए चुन लिया जाएगा और शेष को सैनिक वर्ग में सम्मिलित करके उनके अनुरूप काम-काज में लगा दिया जाएगा।

प्लेटो की उच्च स्तरीय शिक्षा का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित था। यह शिक्षा राज्य के शासक या संरक्षक बनने वालों के लिए है। उच्च स्तरीय शिक्षा में दो स्तर है - 20 से 30 वर्ष का शिक्षण और 30 से 35 वर्ष तक का शिक्षण।

उच्च शिक्षा के प्रथम स्तर पर प्लेटो विज्ञान और तर्क के अध्ययन पर बल देता है। विज्ञान तथा तर्क के आधार पर सत्यान्वेशण करना ही उच्च स्तरीय शिक्षा का लक्ष्य है। प्लेटो ने अंकगणित तथा रेखागणित एवं विज्ञान के अन्य विषय ज्योतिष तथा संगीत का शास्त्रीय ज्ञान व्यावहारिक तथा दार्शनिक महत्त्व के कारण आवश्यक माना है।

तीस वर्ष की आयु में उच्च शिक्षा पाने वाले संरक्षकों में पुन: एक अन्य चुनाव एवं परीक्षा होती है। इसमें योग्य समझे जाने वाले व्यक्ति को पाँच वर्ष तक अर्थात् 30 वर्ष से 35 वर्ष की आयु तक प्लेटो ने उच्चतर शिक्षा की व्यवस्था की है। यह शिक्षा मुख्यत: द्वन्द्वात्मकता की शिक्षा होगी जिसमें दर्शन शास्त्र के अध्ययन पर विशेष जोर दिया गया है।

प्लेटो की शिक्षा योजना अप्रजातांत्रिक तथा एकांगी है। इसका राज्य के समस्त नागरिकों से कोई संबंध नहीं है।

35 वर्ष की आयु तक शिक्षा देने के बाद भी प्लेटो संरक्षकों के शिक्षण को अपूर्ण मानता है। अत: 35 वर्ष से 50 वर्ष की आयु प्राप्त करने के बाद ही संरक्षक दार्शनिक राजा बनेंगे और राज्य का शासन-भार संभालेंगे।

अब सवाल उठता है कि प्लेटो का शिक्षा सिद्धान्त आज के संदर्भ में कितना उपयोगी, व्यावहारिक और महत्वपूर्ण है? कहा जाता है कि शिक्षा रूपी दीपक को प्रज्वलित कर ही अज्ञान रूपी अंधकार को दूर किया जा सकता है। इसके लिए जन-जन तक शिक्षा का प्रकाश पहुँचाना आवश्यक है; चूँकि सारी बुराई की जड़ अशिक्षा ही होती है। लेकिन हम पाते हैं कि प्लेटो की शिक्षा योजना अप्रजातांत्रिक तथा एकांगी है। इसका राज्य के समस्त नागरिकों से कोई संबंध नहीं है। राज्य के अत्यन्त ही छोटे जन समुदाय को शिक्षा प्राप्त करने का अवसर दिया है; जबकि राज्य के विशाल जन-समुदाय (उत्पादक वर्ग) को शिक्षा के लाभ से पूर्णरूपेण वंचित कर दिया है।

दूसरी बात यह है कि प्लेटो का शिक्षाक्रम इतना लम्बा और खर्चीला होने से आज के संदर्भ में व्यावहारिक भी नहीं है। फिर संविधान के अनुसार प्रत्येक नागरिक को शिक्षा एवं रोजगार पाने का समान अवसर मिला हुआ है ऐसी वर्तमान स्थिति में प्लेटो का शिक्षा सिद्धान्त अव्यावहारिक लगता है।

तीसरे, प्लेटो के शिक्षा सिद्धान्त में हम यह देखते हैं कि वह चाहता है कि शिल्पियों के होनहार बच्चों की भी उचित शिक्षा का प्रबंध हो। लेकिन, यह उस समय तक संभव नहीं है जब तक कि प्रतियोगी शिक्षा प्रणाली के द्वारा चुनाव न हो जाए। इस प्रकार प्लेटो शिल्पियों की शिक्षा के संबंध में कहीं विचार नहीं करता।

प्लेटो के शिक्षा सिद्धान्त का विश्लेषण करने पर हम पाते हैं कि आज के सन्दर्भ में भी उसके शिक्षा-सिद्धान्त को पूर्णत: नहीं नकारा जा सकता है। शिक्षा-सिद्धान्त की कुछ ऐसी बातें हैं जो आज के सन्दर्भ में भी उपयोगी एवं ग्राह्य है। उदाहरण के लिए, प्लेटो की शिक्षा योजना में व्यायाम और संगीत का संतुलन है चूँकि प्लेटों की शिक्षा का उद्देश्य शरीर और मस्तिष्क दोनों का विकास करना है। दूसरे, प्लेटो ने अपनी शिक्षा-योजना में स्त्री एवं पुरुष में किसी प्रकार का भेद नहीं रखा है ऐसी स्थिति में प्लेटो द्वारा स्त्रियों को शिक्षा देने की योजना बनाना और उन्हें पुरुषों के समकक्ष मानना निश्चय ही एक क्रांतिकारी कदम था।

तीसरे, प्लेटो दर्शन शास्त्र तथा विशेष शिक्षा द्वारा आदर्श शासकों का निर्माण करना चाहता है क्योंकि उसकी धारणा है कि 'जब तक दार्शनिक राजा नहीं होंगे और राजा दार्शनिक नहीं होंगे तब तक विश्व की बुराइयाँ समाप्त नहीं होंगी।' वास्तव में प्लेटो की इस बात से कोई असहमति नहीं हो सकती कि शासकों के लिए ऐसी विशेष योग्यता और शिक्षा की आवश्यकता है जिससे वे सद्गुणी एवं योग्य शासक बन सकें।

संपर्क: बलुआ बसंता,
पो० - घटारो, थाना - लालगंज,
जिला - वैशाली (बिहार)।

❑❑❑

संस्कृत साहित्य

गीता एक अनुशीलन

डॉ० ममता पाण्डेय

भीष्मपर्व में कहा गया है "सर्वशास्त्रमयी गीता" यदि गीता का अवलोकन किया जाय तो सारे शास्त्रों का ज्ञान स्वतः प्राप्त हो सकता है। महाभारत में कहा गया है कि सारे शास्त्रों की उत्पत्ति वेदों से हुई, ब्रह्माजी भगवान के नाभि-कमल से उत्पन्न हुए। किन्तु गीता तो स्वयं भगवान के मुखारविन्द से निकली है। अतः उसे सभी शास्त्रों से बढ़कर कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

महर्षि वेदव्यास के अद्भुत आत्मचिन्तन का दर्शन उनके द्वारा विरचित गीता (श्रीमद्भागवतगीता) के रूप में होता है। यह महर्षि के आत्ममंथन से निःसृत वह दुग्धामृत है जिसका आज भी जितना अधिक मंथन किया जाय उससे उतने ही नूतन भाव रत्न प्राप्त होते हैं। वस्तुतः गीता ज्ञान का अथाह समुद्र है। इसका तत्त्व समझने में बड़े-बड़े ज्ञानियों की भी बुद्धि चकरा जाती है। क्योंकि इसका पूर्ण रहस्य गीता के पात्र कृष्ण ही जानते हैं। उसके बाद कहीं इसके संकलनकर्त्ता व्यास जी और तब श्रोता पात्र अर्जुन की बारी आती है। ऐसी अगाध महिमामयी एवं रहस्यमयी गीता का आशय समझना और उसका अर्थ समझना मुझ जैसी अल्पज्ञा के लिए ठीक वैसा ही है जैसे एक सामान्य पक्षी का अनन्त आकाश का पता लगाने का प्रयत्न करना।

किन्तु कोई जिज्ञासु यदि गीता सागर में गहरी डुबकी लगाए तो विलक्षण भाव रत्न राशि यहाँ उपलब्ध हो सकती है। गीता में ज्ञानयोग, ध्यानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग आदि जितने भी साधन बतलाये गए हैं, उनमें से कोई भी साधन अपनी श्रद्धा, रूचि और योग्यतानुसार साधक अपना कर अपना शीघ्र कल्याण कर सकता है।

भीष्मपर्व में कहा गया है "सर्वशास्त्रमयी गीता" यदि गीता का अवलोकन किया जाय तो सारे शास्त्रों का ज्ञान स्वतः प्राप्त हो सकता है। महाभारत (भीष्मपर्व 8319) में कहा गया है कि सारे शास्त्रों की उत्पत्ति वेदों से हुई, ब्रह्माजी भगवान के नाभि-कमल से उत्पन्न हुए। किन्तु गीता तो स्वयं भगवान के मुखारविन्द से निकली है। अतः उसे सभी शास्त्रों से बढ़कर कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। स्वयं महर्षि व्यास ने कहा है-

गीता सुगीता कर्त्तव्याः किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपङ्काद्विनिःसृता॥

इस श्लोक में पद्मनाम शब्द का प्रयोग कर इसी उपर्युक्त महत्त्व को व्यक्त किया गया हैं। शास्त्रों में गंगा स्नान का फल मुक्ति बतलाया गया है। परन्तु गंगा स्नान करने वाला स्वयं मुक्त हो सकता है। वह दूसरों को तारने की सामर्थ्य नहीं रखता। लेकिन गीता रूपी गंगा में गोते लगानेवाला स्वयं तो मुक्त होता ही है। वह अपने ही साथ दूसरों को भी तारने के लिए समर्थ हो जाता हैं गीता को स्वयं भगवान से भी बढ़कर कहा जा सकता है। यहाँ भगवान ने स्वयं कहा है -

"गीताश्रयेऽहं तिष्ठामि गीता मे चोत्तमं गृहम्।
गीताज्ञान्मुपाश्रित्य त्रिल्लोकान् पाल्याभ्यहम्॥"

वस्तुतः गीता-धर्म के रूप में जो द्रष्टव्य होता है वह है भगवान कृष्ण के द्वारा अर्जुन को राजयोग का उपदेश करके भागवतधर्म का पुनरारम्भ। इसका तात्पर्य यह है कि गीता-धर्म सृष्टि के आरम्भ से ही चला आ रहा था। बीच में उसका लोप हो जाने पर श्री कृष्ण द्वारा उसका पुनरारम्भ हुआ। गीता-धर्म अध्यात्म पर आधारित समुच्चयवादी धर्म था। मनुष्य की मुक्ति का मार्ग त्रिविध माना जाता था - ज्ञान, कर्म और भक्ति समन्वित।

एकान्तवादी सम्प्रदायों ने इन तीन विद्याओं को वैकल्पिक मान लिया। इससे जीवन एकांगी हो गया। भगवान कृष्ण ने तीनों के समन्वय मार्ग की पुनः प्रतिष्ठा की।

गीता में भगवान ने मुक्त कण्ठ से यह घोषणा किया कि जो कोई मेरी इस गीता रूप आज्ञा का पालन करेगा वह निःसंदेह मुक्त हो जाएगा।[1] यही

भगवान ने अपने उपदेशों के जो अंश पद्यों में कहा उसे व्यास जी ने ज्यों का त्यों रख दिया। कुछ अंश जो उन्होंने गद्य में कहा उसे व्यासजी ने स्वयं श्लोकबद्ध कर लिया साथ ही अर्जुन संजय एवं धृतराष्ट्र के वचनों को अपनी भाषा में श्लोकबद्ध कर लिया।

नहीं भगवान कहते हैं कि जो इसका अध्ययन करेगा उसके द्वारा मैं ज्ञान–यज्ञ से पूजित होऊँगा।[2] इस गीता के अध्ययन मात्र का इतना महत्त्व है। जो इस गीता ज्ञान को भक्तों को धारण करवाता है उनमें इसका विस्तार एवं प्रचार करता है। उसके लिए भगवान कहते हैं वह उन्हें प्राणों से भी बढ़कर प्यारा होता है।

गीता वस्तुतः भगवान का श्वास है, हृदय है और भगवान की वाड.मयी मूर्ति है। जिसके हृदय में वाणी में शरीर में तथा समस्त इन्द्रियों में एवं उनकी क्रियाओं में गीता बसती है रम जाती है वह पुरुष साक्षात् गीता की मूर्ति है। उसके दर्शन, स्पर्श, भाषण एवं चिन्तन से दूसरे मुनष्य भी परम पवित्र बन जाते हैं। मान्यता है गीता जब कृष्ण के मुख से निःसृत हुई व्यास ने इसका संकलन किया। भगवान ने अपने उपदेशों के जो अंश पद्यों में कहा उसे व्यास जी ने ज्यों का त्यों रख दिया। कुछ अंश जो उन्होंने गद्य में कहा उसे व्यासजी ने स्वयं श्लोकबद्ध कर लिया साथ ही अर्जुन संजय एवं धृतराष्ट्र के वचनों को अपनी भाषा में श्लोकबद्ध कर लिया। कुल सात सौ श्लोक हुए जिन्हे गीता के अठारह अध्यायों में विभक्त कर महाभारत में मिला दिया गया।

महर्षि वेदव्यास द्वारा प्रस्तुत गीता के रूप में यह सामग्री मनुष्य की निष्क्रियता को समाप्त करने का कार्य करती है। जीवन के कुरूक्षेत्र में गीता की ये पंक्ति –

''कर्मण्येवाऽधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन''

लाभ–हानि की चिन्ता को छोड़ निष्काम–भाव से लक्ष्य प्राप्ति के लिए प्रेरणा प्रदान करती है। यहाँ भगवान ने कहा है नश्वर संसार मेरे द्वारा रची गयी माया है। वस्तुतः मेरे अतिरिक्त इस संसार में कुछ भी अमर नहीं है –

''सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतियान्ति मानिकाम्।

कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौविसृज्यांऽहम्॥''

यहाँ निरन्तर आत्मभाव में स्थित सुख दुःख, सभी को समान समझनेवाला, मिट्टी और पत्थर तथा स्वर्ण में समान भाव रखनेवाला ज्ञान, प्रिय तथा अप्रिय को एक सा मानने वाला अपनी निन्दा स्तुति में भी समानभाव वाला गुणातीत कहा गया है –

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्यमका ञ्चनः।

तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्म संस्तुतिः॥

गीता के अवलोकन से कुछ खास बातें सामने आती हैं–

1. गुणों की पहचान

गीता में सात्त्विक–राजस–तामस पदार्थों भावों एवं क्रियाओं की कुछ खास पहचान बतलाई गई है–

(क) जिस भाव या क्रिया का स्वार्थ से सम्बन्ध न हो और जिसमें आसक्ति एवं ममत्व न हो। जिसका फल भगवत्प्राप्ति हो उसे सात्त्विक की संज्ञा दी गई है।

(ख) जिस भाव या क्रिया में लोभ स्वार्थ एवं आसक्ति का संबंध हो तथा जिसका फल क्षणिक सुख की प्राप्ति एवं अन्तिम परिणाम दुःख हो उसे राजस कहा गया है।

(ग) जिस भाव या क्रिया में हिंसा मोह एवं प्रमाद हो तथा जिसका फल दुःख एवं अज्ञान हो उसे तामस की संज्ञा दी गई है।

इस प्रकार तीनों प्रकार के भावों एवं क्रियाओं का भेद दर्शाकर सात्त्विक भावों एवं क्रियाओं को ग्रहण करने का आदेश भगवान द्वारा दिया गया है।

2. गीता में आचरण की अपेक्षा भाव की प्रधानता

यद्यपि उत्तम आचरण एवं अन्तःकरण का उत्तम भाव दोनों को ही गीता में कल्याण का साधन माना गया है। किन्तु प्रधानता भाव को ही दी गई है। यह 2155 से 71;12/13 से 19; 14/22 से 25 दूसरे तथा चौदहवें अध्यायों में द्रष्टव्य है।

गीता के अनुसार सकाम भाव से किया गया दान, तप, सेवा, पूजा आदि, ऊंची से ऊंची क्रिया की अपेक्षा निष्काम भाव से हुआ युद्ध, व्यापार, खेती, शिल्प एवं सेवा आदि छोटी से छोटी क्रिया भी मुक्तिदायक होने से श्रेष्ठ है। गीता के चतुर्थ अध्याय में कई प्रकार के यज्ञ रूप साधन बतलाए गए हैं[1] – यहाँ भी भाव की प्रधानता से ही मुक्ति बताई गई है।

3. गीता और वेद

गीता वेदों का आदर करती है। भगवान ने अपने को समस्त वेदों द्वारा जानने योग्य; वेदान्त को रचनेवाला और वेदों को जाननेवाला कहकर उसका महत्व बहुत बढ़ा दिया है।[2]

संसार रूपी आश्रय वृक्ष का वर्णन करते हुए भगवान कहते हैं कि मूल सहित उस वृक्ष को तत्त्व से जानने वाला ही वास्तव में वेद तत्त्व को जानने वाला है।[3]

भगवान ने बतलाया है कि जगत के कारण रूप परमात्मा के सहित जगत के वास्तविक स्वरूप को तत्त्व से जानना

ही वेदों का तात्पर्य है। भगवान ने कहा है जो बात वेदों द्वारा विभाग पूर्वक कही गई है उसीको मैं कहता हूँ।[4]

इसप्रकार अपनी उक्तियों के समर्थन में वेदों को प्रमाण बतलाकर भगवान ने वेदों की महिमा को बहुत ही महत्त्व प्रदान किया है।

4. गीता और सांख्यदर्शन तथा योग दर्शन

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि जहाँ-जहाँ 'सांख्य' शब्द का प्रयोग हुआ है वहाँ वह महर्षि कपिल के द्वारा प्रवर्तित सांख्यदर्शन का वाचक है; किन्तु यह युक्तिसंगत नहीं मालूम पड़ता है। गीता के तेरहवें अध्याय में (13/19, 20, 21) तथा अन्यत्र भी प्रकृति और 'पुरुष' दोनों शब्दों का साथ-साथ प्रयोग हुआ है और प्रकृति पुरुष सांख्य दर्शन के खास शब्द हैं; इससे लोगों ने अनुमान लगा लिया कि गीता को कपिल सांख्य का सिद्धान्त मान्य है। इसी प्रकार 'योग' शब्द को भी कुछ लोग पातंजलयोग का वाचक मानते हैं। पाँचवें अध्याय के प्रारम्भ में तथा अन्यत्र भी कई जगह सांख्य और योग शब्दों का एक ही जगह प्रयोग हुआ हैं इससे भी लोगों ने यह मान लिया कि सांख्य और योग शब्द क्रमशः कपिल सांख्य तथा पातंजलयोग के वाचक हैं; परन्तु यह बात युक्तिसंगत नहीं मालूम पड़ती। न तो गीता का सांख्य कपिल सांख्य ही है और न गीता का योग पातंजल योग ही है। यह निम्नलिखित बातों से सुस्पष्ट हो जाती है।

1. गीता में ईश्वर को जिस रूप में माना जाता है उस रूप में सांख्य दर्शन नहीं मानता।
2. यद्यपि 'प्रकृति' शब्द का गीता में कई जगह प्रयोग हुआ है किन्तु गीता की प्रकृति और सांख्य की प्रकृति में महान अन्तर है। कपिल सांख्य की प्रकृति तीनों गुणों की साम्यावस्था है। किन्तु गीता की प्रकृति तीनों गुणों का कारण है, गुण उसके कार्य हैं[1] -

''सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृति संभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥

यहाँ गुणों के भेद नाम और संख्या बतलाने के लिए सत्त्वम्, रजः और तमः इन पदों का प्रयोग किया गया है।

अभिप्राय यह है कि गुण तीन हैं - सत्त्व, रज और तम।

इनको प्रकृति सम्भव कहने का अभिप्राय यह है कि ये तीनों गुण प्रकृति के कार्य हैं एवं समस्त जड़ पदार्थ इन्हीं तीनों का विस्तार है। देहिनम् पद का प्रयोग करने का अभिप्राय है जिसका शरीर में अभिमान है, उसी पर इन गुणों का प्रभाव पड़ता है; और उसे अव्यय कहकर यह दिखलाया गया है कि वास्तव में स्वरूप से वह सब प्रकार के विकारों से रहित और अविनाशी है।

3. गीता के 'पुरुष' और सांख्य के पुरुष में भी महान अन्तर है। कपिल सांख्य के मत में पुरुष अनन्त है; किन्तु गीता में सांख्य पुरुष को एक ही माना गया है।[2]
4. गीता की मुक्ति और सांख्य की मुक्ति में भी महान् अन्तर है। सांख्य के मत में दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति ही मुक्ति है। गीता की मुक्ति में दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति तो है ही, किन्तु साथ ही साथ परमानंद रूप परमात्मा की प्राप्ति भी है।[1]
5. पातंजलयोग में योग का अर्थ है- चित्तवृत्ति का निरोध, परन्तु गीता में प्रकरणानुसार 'योग' शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थो में आया है[2] -

''श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदास्थास्यति निंचला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥''

इस प्रकार गीता और सांख्य दर्शन तथा योगदर्शन के सिद्धांत्तों में बड़ा अन्तर है। गीता में 'योग' शब्द प्रसङ्गानुकूल अनेक अर्थो में द्रष्टव्य होते हैं -

कर्मयोग (6/13) ध्यान योग (6/19) समत्वयोग (2/48) भगवत्प्रभावरूपयोग (9-5) भक्तियोग (14/26) अष्टाङ्ग योग (4-28) सांख्य योग (13-24)।

गीता के सम्पूर्ण अनुशीलन के पश्चात् यही लगता है कि गीता समस्त शास्त्रमयी है। श्रीहरि सर्वदेवभय हैं। गंगाजी सर्वतीर्थमयी हैं। मनुसर्ववेदमय हैं। गीता गंगा गायत्री और गोविन्द ये चार प्रकार से युक्त नाम जिसके हृदय में बसते हैं उनका पुनर्जन्म नहीं होता। महाभारत रूपी अमृत के सर्वस्व गीता को मथकर और उसमें से सार निकालकर भगवान कृष्ण ने अर्जुन के मुख में उसका हवन किया है। नीलकण्ठ ने अपनी टीका में इसके विषय में लिखा है -

भारते सर्ववेदार्थो भारतार्थंच कृत्स्नशः
गीतायामस्ति तेनेयं सर्वशास्त्रमयी मताः
इयमष्टादशाध्यायी क्रमात् षट्कत्रयेण हि।
कर्मोपास्तिज्ञानकाण्ड-त्रितयात्मा निगद्यते।

1. गीता - 3131
2. गीता - 14160
1. गीता - 14/24
1. गीता - 4/24 से 32 तक
2. गीता - 15/15
3. गीता - 15/1
4. गीता - 13/4
1. गीता - (14-5)
2. गीता - (13-22, 30) 18/20/
1. गीता - 6/21-22
2. गीता - 6/53

संपर्कः (व्याख्याता) (संस्कृत एम०ए०) म०अ० रमेश्वर लता सं० महाविद्यालय, दरभंगा।

❑❑❑

सर्व धर्म समभाव

डॉ॰ नागेन्द्र कुमार शर्मा

धार्मिक प्रयोजनों के लिए किसी को कर देने के लिए बाध्य नहीं किया जाएगा। तथा राजकीय शिक्षण संस्थानों में धार्मिक शिक्षा भी नहीं दी जाएगी। अनुच्छेद 30 में धार्मिक तथा भाषिक अल्पसंख्यकों को अपनी शिक्षण संस्थाएं स्थापित कर उन्हें चलाने का अधिकार दिया गया। अनुच्छेद 325 द्वारा साम्प्रदायिकता के आधार पर अलग-अलग मतदाता संघ समाप्त कर दिए गए।

भारतीय संविधान के निर्माताओं के समक्ष यह सवाल प्रमुखता से उठा था कि शासन का स्वरूप कैसा हो और संविधान में धर्म का स्थान क्या हो। संविधान निर्माताओं ने इस बात पर बल दिया कि शासन किसी एक धर्म से नियंत्रित नहीं हो। इसलिए धार्मिक सद्भाव और सहिष्णुता की वकालत की गई। एक सोच और चिन्तन विकसित हुआ जिसे सेक्यूलर नाम दिया गया। यह सेक्यूलर या सेक्यूलरिज्म शब्द पश्चिमी समझ से भिन्न संदर्भ में व्याख्यायित हुआ। इसका मतलब सर्व धर्म समभाव माना गया अर्थात् सहिष्णुता तथा सभी धर्मों के प्रति समानता का भाव तथा आदर कहा गया। 1961 में सांसद रघुनाथ सिंह द्वारा लिखित एक पुस्तक की भूमिका में पं॰ नेहरू ने लिखा - ''मुझे लगता है कि सेक्यूलरवाद शब्द का अनुवाद धर्मनिरपेक्ष करने से समस्याएं पैदा हो रही हैं। भ्रम पैदा हो रहा है। यह अनुवाद सही नहीं हैं फिर उन्होंने कहा कि सेक्यूलरवाद का एक ही अर्थ है कि राज्य का कोई धर्म नहीं होगा। और राज्य किसी भी धर्म के प्रति भेदभाव या पक्षपात नहीं करेगा।''

आजादी आने के बाद हमारे संविधान निर्माताओं ने भारत की धार्मिक सद्भावना और सहिष्णुता का परिचय दिया। धार्मिक तटस्थता भारतीय संविधान का अंग बनी। संविधान के अनुच्छेद 25, 26, 27 एवं 28 में धर्म स्वातंत्र्य के अधिकारों का उल्लेख किया गया। अनुच्छेद 25 में प्रत्येक व्यक्ति को अन्त:करण की स्वतंत्रता का अधिकार दिया गया। अनुच्छेद 26 में धार्मिक समुदाय एवं सम्बद्ध शाखाओं को प्रबन्ध की स्वतंत्रता दी गई। अनुच्छेद 27 और 28 के द्वारा यह व्यवस्था की गयी कि राज्य किसी भी धर्म को अपनी ओर से प्रोत्साहित नहीं करेगा। धार्मिक प्रयोजनों के लिए किसी को कर देने के लिए बाध्य नहीं किया जाएगा। तथा राजकीय शिक्षण संस्थानों में धार्मिक शिक्षा भी नहीं दी जाएगी। अनुच्छेद 30 में धार्मिक तथा भाषिक अल्पसंख्यकों को अपनी शिक्षण संस्थाएं स्थापित कर उन्हें चलाने का अधिकार दिया गया। अनुच्छेद 325 द्वारा साम्प्रदायिकता के आधार पर अलग-अलग मतदाता संघ समाप्त कर दिए गए। हमारे संविधान में जिस सेक्यूलरिज्म को अपनाया गया है, उसके तीन प्रमुख पहलू हैं।

(1) देश की शासन व्यवस्था किसी धर्म पर आधारित नहीं होगी।

(2) सभी नागरिकों के साथ समान व्यवहार होगा, चाहे वे किसी भी धर्म को मानते हैं।

(3) किसी भी धर्म या पंथ में आस्था रखना और तदनुसार पूजा-अर्चना करने की पूर्ण आजादी।

धर्मनिरपेक्षता के बारे में स्थिति स्पष्ट करते हुए तथा संविधान में इसे किस रूप में लिया गया है इसे स्पष्ट करते हुए संविधान की प्रारूप समिति के अध्यक्ष डॉ॰ भीमराव अम्बेडकर ने कहा था : ''धर्मनिरपेक्ष राज्य का यह अर्थ नहीं

भारतीय संविधान में 42वाँ संविधान संशोधन अधिनियम 1976 में पारित हुआ जिसमें संविधान की प्रस्तावना में धारा 2 द्वारा सेक्यूलर शब्द जोड़ दिया गया।

है कि हम लोगों की धार्मिक भावना की ओर ध्यान नहीं देंगे। इसका अर्थ केवल इतना है कि संसद देश के लोगों पर कोई विशेष धर्म लादने का अधिकार नहीं रखती। यही एक परिसीमा संविधान स्वीकार करता है।''

भारतीय संविधान में 42वाँ संविधान संशोधन अधिनियम 1976 में पारित हुआ जिसमें संविधान की प्रस्तावना में धारा 2 द्वारा सेक्यूलर शब्द जोड़ दिया गया। सेक्यूलर शब्द का रूपान्तर संविधान की हिन्दी प्रति में 'पंथ निरपेक्षता किया गया। वहाँ धर्मनिरपेक्षता शब्द नहीं लिखा गया है। इस संशोधन के पूर्व यह सोच विकसित की गयी थी, किन्तु लिखा नहीं गया था।

सर्व धर्म समभाव की भावना सभी धर्मों में पाई जाती है। सृष्टि के प्रारंभ से ही हमारे देश में समानता, सौहार्द्रता, सौमनस्यता और सौजन्यता का पाठ पढ़ाया जाता रहा है। हमारे सभी प्राचीन ग्रन्थ न केवल सर्व धर्म समभाव की शिक्षा देते हैं, अपितु वे सम्पूर्ण विश्व को ही एक परिवार मानते हैं। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की यह हमारी अवधारणा प्राचीन काल से ही चली आ रही है। ऋग्वेद में कहा गया है कि 'एकैव मानुषी जातिः'। सभी मानवों की एक ही जाति है, सब एक ही हैं। ऋग्वेद आगे कहता है - अमृतस्य पुत्राः' सभी प्राणी परमपिता परमेश्वर की सन्तान हैं। इसलिए वेद में कहा गया है - 'एकम् सत् विप्राः बहुधा वदन्ति।' सत्य एक ही है पर ज्ञानी लोग भिन्न-भिन्न प्रकार से उसका वर्णन करते हैं। ऋग्वेद में आदेश दिया गया है कि 'हम साथ-साथ चलें, साथ-साथ बोलें तथा हमारे मनोभाव समान हों। यजुर्वेद में कहा गया है कि 'मित्र की दृष्टि से सम्पूर्ण विश्व को देखें। अथर्ववेद में कहा गया है - भिन्न-भिन्न धर्म वाले और भिन्न-भिन्न भाषाएँ बोलने वाले लोगों को धारण करनेवाली यह पृथ्वी सभी का एक शान्तिमय निवास स्थान है। वह सबका कल्याण करे। 'हे पृथ्वी माता, हम तुम्हारे बच्चे हैं। हमें यह क्षमता दो कि हम एक दूसरे के साथ सौहार्द्र से रह सकें एक दूसरे के साथ मधुर वाणी बोलें।'

इस प्रकार परस्पर को जानने की सह-अस्तित्व और सहिष्णुता की दार्शनिक भूमिका, हमारे देश के प्राचीन चिन्तन की आत्मा रही है। यह चिन्तन इस बात को सिद्ध करता है कि पूर्ण सत्य की ओर पहुँचने के तर्क तथा आन्तरिक अनुभूति के अनेकों मार्ग हो सकते हैं, जैसे वर्षा का जल नदियों से होता हुआ अनन्त सागर में ही मिलता है, उसी प्रकार सभी धर्मों का गन्तव्य एक है। इसमें सर्व धर्म समभाव के दर्शन को सैद्धान्तिक आधार देकर उसे मान्यता प्रदान की गई है। इस तरह भिन्न-भिन्न धर्मों के विचारों को उसी एक पूर्ण सत्य की ओर जाने वाले पथों के रूप में देखा गया है। इन पथों के वर्णन में भिन्नता हो सकती है। हमारे देश में धार्मिक असहिष्णुता कभी नहीं रही। अपितु सर्व धर्म समभाव का सिद्धान्त एवं व्यवहार ही सदैव प्रयत्न में रहा है। वेद व्यास कहते हैं : 'धर्म का सर्वस्व सुनो और इसे सुनकर चित्त में बैठा लो कि जो बात-व्यवहार दूसरों से तुम अपने प्रति नहीं चाहते, वह व्यवहार, तुम दूसरों के साथ मत करो।'

मानव जाति एक है। मनुष्यों के विचार और उच्चाभिलाषा समान रूप से एक दूसरे के साथ आबद्ध हैं। ये इतने परस्पर मिले जुले हैं कि इनकी क्रिया, प्रतिक्रिया एक दूसरे पर सदा ही हुआ करती हैं, और हमसे जीवमात्र का जीवमात्र से नाता सिद्ध होता है। यह तथ्य इस कहानी से और स्पष्ट हो जाता है कि चार सह यात्री व्यापार के लिए निकले। उनमें एक था अरब, एक तुर्क, एक पारसी, एक रूसी। चारों थके, भूखे, प्यासे थे। चारों की भेंट एक जगह एक साथ हो गई। सभी एक दूसरे की भाषा से अनभिज्ञ थे। पर क्षुधा निवारण के लिए सभी उत्सुक, सभी आतुर। अरब अपने लिए चाहता था 'ऐनब', तुर्क चाहता था उजम, पारसी चाहता था अंगूर, रूसी चाहता था अस्ताफील। तभी वहाँ एक अंगूर वाला दिखाई दिया। उसे देख सभी प्रसन्न हो गये। सबकी आँखें खिल गईं। यही तो वे चाहते थे। भाषा अलग भले ही रही हो किन्तु निवारण हेतु वे सब अंगूर की ही कामना कर रहे थे। इसी प्रकार उपासना पद्धति चाहे जो हो ईश्वर एक है। इसीलिए उपासना पद्धति को धर्म नहीं कहते। धर्म तो मन की शुद्धि करता है और मन शुद्ध होता है सद्गुणों से, सर्वधर्म समभाव से। धर्म का जो रहस्य है वह सर्वत्र ओत प्रोत है।

इस प्रकार परस्पर को जानने की सह-अस्तित्व और सहिष्णुता की दार्शनिक भूमिका, हमारे देश के प्राचीन चिन्तन की आत्मा रही है। यह चिन्तन इस बात को सिद्ध करता है कि पूर्ण सत्य की ओर पहुँचने के तर्क तथा आन्तरिक अनुभूति के अनेकों मार्ग हो सकते हैं।

ईसाई धर्म में कहा गया है कि 'मानव ईश्वर की प्रतिमूर्ति है' (Man was made in the image of god.)। वहाँ आगे कहाँ गया है। 'तुम ये जान लो कि लोगों की सेवा करते समय तुम मेरी ही सेवा कर रहे हो।' इस्लाम में चेतावनी दी गई है – 'खाली धर्म का प्रचार काफी नहीं है, बल्कि अच्छे कार्य और भ्रातृभाव से लोगों की सेवा ही सच्ची प्रार्थना है।'' यहूदी धर्म के संस्थापक हजरत मूसा ने समाज में भ्रातृ भावना सुदृढ़ करने एवं उनमें समरसता बनाए रखने का उपदेश दिया। उन्होंने सत्य पर दृढ़ रहने, पवित्रता बनाए रखने पर जोर दिया। उनका कथन था कि सबके साथ समानता का व्यवहार करो, रिश्वत मत लो, सम्पूर्ण सृष्टि परमात्मा की है। सत्य मार्ग पर चलो, हिंसा न करो, गरीबों को मत सताओ। उन्होंने आगे कहा कि ईश्वर किसी एक विशेष जाति का नहीं वह सबके लिए बराबर है। कोई जाति उसे मुख्य रूप से दूसरी जातियों से प्यारी नहीं है, वह सबका पिता है। वह प्रत्येक के हृदय में विद्यमान है।

इसी प्रकार का संदेश इस्लाम धर्म के प्रवर्त्तक हजरत मोहम्मद साहब का भी था। वे कहते थे 'धर्मान्धता और कट्टरता से इस्लाम धर्म का संबंध नहीं है। इस्लाम धर्म तो ईश्वर निष्ठा और सामाजिक व्यवस्था से बंधा हुआ है, जो मानवीय विचारों और सरल जीवन पर अधिक जोर देता है। इस्लाम तो धार्मिक सहिष्णुता, सद्भाव, मेल-मिलाप और मानवता की भलाई का संदेश देता है तथा समाज से पाप, अधर्म, अहिंसा, अनाचार, अत्याचार को मिटाकर सुख-शान्ति एवं मानवता का राज्य स्थापित करने पर जोर देता है। पैगम्बर मोहम्मद कहा करते थे : अपना काम नरमी से करना, किसी से बिल्कुल सख्ती न करना, लोगों के दिलों को खुश करना, तुमसे किसी की घृणा न होने पाए, मिलजुल कर काम करना।''

चीन के महान विचारक लाओत्से ने भी अपने उपदेशों में सर्व धर्म समभाव पर जोर दिया। ईसा तो प्रेम, मानवता, दयालुता की प्रतिमूर्त्ति ही थे।

चीन के महान विचारक लाओत्से ने भी अपने उपदेशों में सर्व धर्म समभाव पर जोर दिया। ईसा तो प्रेम, मानवता, दयालुता की प्रतिमूर्त्ति ही थे। पारसी धर्म के संस्थापक महामानव जरथुष्ट कहते हैं – 'मनुष्य को अग्नि के समान पवित्र होना पड़ेगा तथा उसे अपने साथ होनेवाले सारे अमानवीय कृत्यों को दूर करना पड़ेगा। इसलिए सदाचार, समानता, भाईचारा, मैत्रीपूर्ण व्यवहार अपनाओ। गुरू गोविन्द सिंह ने कहा था कि 'प्रत्येक धर्म के सन्तों से प्यार करो, अपने अभिमान को त्याग दो। याद रखो धर्म का सार है नम्रता तथा सहानुभूति, लम्बे कीर्त्तन की आवश्यकता नहीं। तप की आवश्यकता नहीं। सन्यास की आवश्यकता नहीं। संसार के प्रलोभनों के बीच पवित्र जीवन की आवश्यकता है। केवल शब्दों के द्वारा धर्म पर नहीं चला जा सकता। जो सभी मनुष्यों को समान देखता है, वही धार्मिक है।''

यदि दार्शनिक दृष्टिकोण से देखा जाय तो सभी धर्म सत्य, दया, मैत्री, सदाचार, अस्तेय आदि दैवी सम्पत्तियों पर पूरा जोर देते हैं जिससे पता चलता है कि वे किसी एक ही ध्येय की खोज में एक ही मार्ग से जा रहे हैं और सत्य, दया, आदि इनका वह निर्विवाद मार्ग है। फिर धार्मिक झगड़ों के लिए स्थान ही कहाँ? सत्य, दया आदि ऐसी चीज भी नहीं कि आत्मा परमात्मा की तरह अदृश्य होने के कारण विवादास्पद हों। वह तो सर्वजनानुकूल पदार्थ हैं। इसीलिए उनकी प्राप्ति में जो सहायक न हो वह सुगमता

यदि दार्शनिक दृष्टिकोण से देखा जाय तो सभी धर्म सत्य, दया, मैत्री, सदाचार, अस्तेय आदि दैवी सम्पत्तियों पर पूरा जोर देते हैं जिससे पता चलता है कि वे किसी एक ही ध्येय की खोज में एक ही मार्ग से जा रहे हैं और सत्य, दया, आदि इनका वह निर्विवाद मार्ग है।

से हेय हो सकता है। ध्यान से विचार करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्रत्येक धर्म प्रवर्त्तक का उद्देश्य सदा से ही यही रहा है कि समाज में शान्ति की स्थापना हो, क्योंकि शान्ति के बिना सुख नहीं मिल सकता, जिसे प्राप्त करने की आकांक्षा प्राणिमात्र की होती है। अन्तर केवल साधनों का है। समय और परिस्थितियों के अनुसार साधनों का अन्तर स्वभाविक भी है। साधनों का निर्धारण धर्म प्रवर्त्तक विशेष की ज्ञान सीमा तथा संस्कृति पर भी निर्भर करता है। प्रत्येक धर्म अपने अनुयायियों को बारबार याद दिलाता है कि अपनी प्रार्थना 'शान्ति' शब्द पर ही समाप्त करें। मुसलमान 'आमीन', ईसाई 'एमीन' और हिन्दू 'शान्तिः शान्तिः शान्तिः' कहकर प्रार्थना समाप्त करता है। शान्ति की प्राप्ति ध्यानावस्था पर निर्भर है। विकास रहित मनःस्थिति का ही नाम शान्ति है। शान्त शम् धातु से बना है अर्थात् वह स्थिति जहाँ समस्त विकारों का शमन् हो चुका हो।

24 जनवरी 1948 को अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में भाषण करते हुए पं. नेहरू ने कहा था – 'भारत सभी धर्मों का देश रहेगा, जैसा कि वह प्राचीन काल से रहा है।' यहाँ पर सभी

धर्मों के प्रति समान आदर और सम्मान बना रहेगा, साथ-साथ हमारी एक ही राष्ट्रीय भावना रहेगी। हमारा राष्ट्रवाद दूसरों से अलग-थलग संकुचित राष्ट्रवाद नहीं है बल्कि सहिष्णु तथा वर्धिष्णु राष्ट्रवाद है, जिसकी अपने में अपनी जनता की विशिष्टताओं में पूरी श्रद्धा रहेगी, पर साथ-साथ विश्व के स्तर पर विश्व की एकता पर आधारित विश्व रचना के निर्माण में भी हम पूरा योगदान करेंगे।''

डॉ॰ राधाकृष्णन ने लिखा है : 'सर्व धर्म समभाव की भावना भावुकता का नारा नहीं है। यह एक सकारात्मक, रचनात्मक, विशुद्ध भावना युक्त क्रियात्मक कदम है। यदि समाज में इस भावना का विकास सकारात्मक और रचनात्मक रूप से नहीं हुआ तो मानवाधिकारों की सुरक्षा पर प्रश्नचिन्ह लगते चले जाएँगे, और कितना भी उन्हें नियम तथा न्यायिक जामा पहनाया जाये, हनन प्रतिदिन बढ़ते चले जाएँगे। इसलिए आज समाज में मानवाधिकारों के हनन की स्थिति को देखते हुए समाज में सर्व धर्म समभाव की भावना का विकास अति आवश्यक है।''

भारतीय संविधान में व्यक्ति और धर्म के परस्पर संबंधों, एक धर्म का दूसरे धर्म के साथ परस्पर संबंधों तथा धर्म और सरकार के बीच परस्पर संबंधों को स्पष्ट किया गया है तथा सर्व धर्म समभाव की भावना को पुष्ट किया गया है। सन् 1967 में संविधान के चौथे अध्याय (4.1) में 'अ' का समावेश कर मौलिक कर्त्तव्यों की सूची शामिल की गई है। अनुच्छेद 51 'अ' में कहा गया है कि भारत के हर नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह भारत के सभी नागरिकों के बीच परस्पर सौहार्द्र और बन्धुता बढ़ाने का काम करे, धार्मिक, भाषिक, विभागीय तथा जमातों की विभिन्नताओं से ऊपर उठे, महिलाओं के प्रति अनादर प्रकट करनेवाले व्यवहार का त्याग करे, भारत की सम्मिलित तथा समृद्ध संस्कृति की विरासत की रक्षा करे तथा उसकी महिमा को समझे, वैज्ञानिक दृष्टिकोण मानवता की खोज की वृत्ति तथा सुधारवादी वृत्ति को विकसित करे। सर्व धर्म समभाव की हमारी धारणा अत्यन्त प्राचीन है। ऋग्वेद के अनुसार 'हमें सभी सत्य विचारों का आदर करना चाहिए, चाहे वह किसी भी स्रोत से आएँ।'' बाइबिल में कहा गया है कि 'सत्य सहज ही सभी भेदों और द्वन्द्वों से मुक्त कर देता है।'' सम्राट अकबर ने महसूस किया था कि सत्य किसी एक धर्म की सम्पत्ति नहीं। उसने फतेहपुर सिकरी में प्रसिद्ध इबादतखाना बनवाया, जहाँ प्रत्येक धर्माध्यक्ष धार्मिक समस्याओं पर विचार विनिमय करते थे। इसके अतिरिक्त उसने 'दीन-ए-इलाही' मत को जन्म दिया जो विभिन्न धर्मों के सत्य का समिश्रण था। स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दुत्व के सार्वभौम रूप का और भी व्यापक विस्तार किया। संसार में जो अनेक धर्म फैले हुए हैं, उनकी अनिवार्यता बताते हुए उन्होंने कहा -''मनुष्य सर्वत्र अन्न ही खाता है, किन्तु देश-देश में अन्न से भोजन तैयार करने की विधियाँ अनेक हैं। इसी प्रकार धर्म मनुष्य की आत्मा का भोजन है तथा देश-देश में उसके भी अनेक रूप हैं।''

सर्व धर्म समभाव का अर्थ विभिन्न धर्मों के बीच केवल एकता लाना नहीं अपितु उनकी आत्मा तक, सार तक पहुँचना है, जहाँ सभी भेदभाव स्वत: समाप्त हो जाते हैं। वास्तविक धर्म देशकाल की सीमाओं से परे है, उसकी उपलब्धि व्यक्ति को भी सार्वभौम बनाती है। आत्मा की भाषा एक है किन्तु जातियों की भाषाएँ अनेक होती हैं। धर्म आत्मा की वाणी है। वही वाणी अनेक जातियों की विविध भाषाओं तथा रीति-रिवाजों में अभिव्यक्त हो रही है। अतएव सर्व धर्म समभाव सब में विद्यमान है। आवश्यकता है संकुचित मनोवृत्ति के त्याग की। आज के राजनीतिज्ञ इन संकुचित मनोवृत्तियों को त्यागने नहीं दे रहे हैं। अपितु परस्पर घृणा द्वेष को बढ़ावा दे रहे हैं। सर्व धर्म समभाव इसलिए मात्र पुस्तकों की वस्तु बनकर रह गया है।

व्यक्ति और समाज के हर स्तर, प्रकार एवं क्षेत्र के संबंध तथा आचरण की सारी दृष्टि और मर्यादा इसी से प्रेरित निरूपित होती हैं इस स्थिति में हर धर्म तथा सम्प्रदाय के मानने वालों की आचार संहिता मौलिक रूप में दूसरे से भिन्न नहीं होगी।

हम देखते हैं कि अपने मौलिक रूप में हर धर्म मानवीय मूल्यों पर आधारित होता है। व्यक्ति और समाज के हर स्तर, प्रकार एवं क्षेत्र के संबंध तथा आचरण की सारी दृष्टि और मर्यादा इसी से प्रेरित निरूपित होती हैं इस स्थिति में हर धर्म तथा सम्प्रदाय के मानने वालों की आचार संहिता मौलिक रूप में दूसरे से भिन्न नहीं होगी। फिर विभिन्न धर्मों के माननेवालों के बीच सद्भावना न केवल सहज है, वरन् हर धर्म दृष्टि से अपेक्षित भी। सारे मानवीय मूल्य प्रेम, करूणा, बन्धुत्व आदि मनुष्य के बीच सद्भावना के सेतु का काम करनेवाले हैं। नैतिक मूल्य प्राय: सभी धर्मों में समान हैं। सत्य, अहिंसा, उदारता, उत्सर्ग, अस्तेय, अपरिग्रह, प्रेम, दया, क्षमा, सादगी आदि का महत्व सभी धर्मों में एक स्वर से स्वीकार्य है। सभी धर्मों के अन्तर्गत मानवीय गुणों के विकास पर जोर दिया गया है। स्वामी विवेकानन्द ने विश्व धर्म सम्मेलन में सर्व धर्म समभाव के स्वरूप को उद्घाटित करते हुए कहा था - ''जैसे विभिन्न नदियाँ भिन्न-भिन्न स्रोतों से निकलकर समुद्र में मिल जाती है, उसी प्रकार हे प्रभो! भिन्न-भिन्न रूचि के अनुसार विभिन्न टेढ़े-मेढ़े अथवा सीधे रास्ते जाने वाले लोग अन्त में तुझमें ही आकर मिल जाते हैं।''

संपर्क: व्याख्याता, राजनीति विज्ञान विभाग, पूर्वोत्तर रेलवे महाविद्यालय, सोनपुर (सारण)।

❑❑❑

भारत के संदर्भ में मानवाधिकार और मौलिक अधिकार का तुलनात्मक अध्ययन

कल्पना

मानव अधिकारों की जड़े प्राचीन विचार तथा प्राकृतिक विधि और प्राकृतिक अधिकारों की दार्शनिक अवधारणाओं में पायी जाती है। जब मानव इस संसार में, इस धरा पर जन्म लेता है तो जन्म के साथ ही उसका यह हक बनता है कि वह अपना सांसारिक जीवन संतोषपूर्वक ढंग से, सुरक्षा से और शुसमय एवं आनंदपूर्वक बिताए। सरकार और समाज मानव को सभी प्रकार की बुनियादी सुविधायें प्रदान करें और उसके लिए उपयुक्त वातावरण का निर्माण करें जिससे मानव अपना जीवन पूरी आजादी से बिना किसी रोक-टोक के और सुरक्षित ढंग से जी सके। मानव को प्राप्त होने वाले यही अधिकार मानवाधिकार कहलाते हैं। मानवाधिकारों की बदौलत ही व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सकता है। मानवाधिकार सभी व्यक्तियों के लिए होता है चाहे उसका मूल वंश, धर्म, लिंग, राष्ट्रीयता, जाति कुछ भी हो। मानवजाति के लिए मानव अधिकार का अत्यंत महत्व होने के कारण मानव अधिकार को मूल अधिकार (Fundamental Rights), आधारभूत अधिकार (Basic Rights), अन्तर्निहित अधिकार (Inherent Rights), प्राकृतिक अधिकार (Natural Rights) और जन्म अधिकार (Birth Rights) भी कहा जाता है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रभाव में यह अनुभव किया गया कि विश्व शांति की स्थापना के लिए मानव अधिकारों की उपलब्धि परमावश्यक है। इसलिए 10 दिसम्बर 1948 को संयुक्त राष्ट्र संघ (U.N.O) की महासभा ने ''मानव अधिकारों की सार्वलौकिक घोषणा'' (Universal Declaration of Human Rights) को अंगीकृत किया। मानवाधिकार संरक्षण अधिनियम, 1993 (Protection of Human Rights Act 1993) की धारा 2 (घ) के अनुसार, 'मानव अधिकार से अभिप्राय संविधान द्वारा गारण्टीकृत तथा अंतर्राष्ट्रीय प्रसंविदाओं में सम्मिलित एवं भारत में न्यायालयों द्वारा प्रवर्तनीय व्यक्तियों के जीवन, स्वतंत्रता, समानता एवं गरिमा से है।''

मौलिक अधिकार स्वतंत्र भारत के संविधान की एक महत्वपूर्ण उपलिब्ध है। यह स्वतंत्रता संग्राम के संघर्ष का प्रतिफल है।

> **भारतीय संविधान में मौलिक अधिकार अमेरिका के संविधान से प्रेरित है। वे अधिकार जो व्यक्ति के जीवन के लिए मौलिक तथा अनिवार्य होने के कारण संविधान द्वारा नागरिकों को प्रदान किये जाते हैं और जिन अधिकारों में राज्य द्वारा भी हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता, मौलिक अधिकार कहलाते हैं।**

भारतीय संविधान के भाग 111 में अनुच्छेद 12 से 35 तक में मौलिक अधिकार वर्णित है जिसकी कुल संख्या छह है। संविधान के प्रारंभ में कुल सात मौलिक अधिकार थे लेकिन 44वां संविधान संशोधन 1978 मोरारजी देसाई सरकार के कार्यकाल में संपत्ति का अधिकार (Right to property) को हटा दिया गया। अब यह केवल विधिक अधिकार के रूप में मौजूद है। भारतीय संविधान में मौलिक अधिकार अमेरिका के संविधान से प्रेरित है। वे अधिकार जो व्यक्ति के जीवन के लिए मौलिक तथा अनिवार्य होने के कारण संविधान द्वारा नागरिकों को प्रदान किये जाते हैं और जिन अधिकारों में राज्य द्वारा भी हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता, मौलिक अधिकार कहलाते हैं। इस अधिकार को मौलिक इसलिए कहा जाता है क्योंकि व्यक्ति के पूर्ण मानसिक, मौलिक और नैतिक विकास के लिए ये अधिकार बहुत आवश्यक है। इसके अभाव में उसके व्यक्तित्व का विकास रूक जाएगा। इसलिए प्रजातांत्रिक राज्य में प्रत्येक नागरिक को बिना किसी भेदभाव के मूल अधिकार प्रदान किये जाते हैं। एक कारण यह भी है कि इसमें संवैधानिक संशोधन प्रक्रिया के अलावा इनमें किसी और प्रक्रिया से परिवर्तन नहीं किया जा सकता है।

मानव अधिकार और मौलिक अधिकार का तुलनात्मक अध्ययनः-

मानव अधिकारों की सार्वलौलिक घोषणा (Universal Declaration of Human Rights, UDHR) में कुल 1 से 30 अनुच्छेदों में विभिन्न

प्रकार के मानव अधिकारों का वर्णन किया गया है जिसमें अनुच्छेद 1 से 2 में सामान्य प्रावधान (General Provisions); अनुच्छेद 3 से 11 में सिविल तथा राजनीतिक अधिकार (Civil and Political Rights); अनुच्छेद 22 से 27 में आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकार (Economic, Social and Cultural Rights); तथा अनुच्छेद 28 से 30 में अंतिम (Concluding and Miscellaneous Provisions) प्रावधान वर्णित हैं।

भारत के संविधान के अनुच्छेद 12 से 35 में मौलिक अधिकार वर्णित है जिसमें समानता का अधिकार (Right to equality) अनुच्छेद 14 से 18; स्वतंत्रता का अधिकार (Right to liberty) अनुच्छेद 19 से 22; शोषण के विरूद्ध अधिकार (Right against exploitation) अनुच्छेद 23 से 24; धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार (Right to religious freedom) अनुच्छेद 25 से 28; संस्कृति एवं शिक्षा का अधिकार (Right to education and culture) अनुच्छेद 29 से 30; तथा संवैधानिक उपचारों का अधिकार (Right to constitutional remedies) अनुच्छेद 32; शिक्षा का अधिकार (Right to education) अनुच्छेद 21-। जो कि 86वां संविधान संशोधन 2002 द्वारा जोड़ा गया है।

मानव अधिकार और मौलिक अधिकार का तुलनात्मक अध्ययन इस प्रकार कर सकते हैं जो अग्रलिखित है:-

(1) मानव अधिकारों की सार्वलौकिक घोषणा (UDHR) के अनुच्वेद 3 के अनुसार, ''प्रत्येक व्यक्ति को प्राण स्वतंत्रता और दैहिक सुरक्षा का अधिकार है।'' जबकि भारतीय संवधिान के अनुच्छेद 21 में यह है कि, ''किसी व्यक्ति को, उसके प्राण या दैहिक स्वतंत्रता विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार ही वंचित किया जाएगा, अन्यथा नहीं।''

(2) मानव अधिकारों की सार्वलौकिक घोषणा के अनुच्छेद 4 के अनुसार, ''किसी भी व्यक्ति को दास या गुलाम नहीं रखा जाएगा, सभी प्रकार की दासता और दास-व्यापार प्रतिसिद्ध होगा।'' जबकि भारतीय संविधान के अनुच्छेद 23 में यह वर्णित है, ''मानव का दुर्व्यापार और बेगार तथा इसी प्रकार का अन्य बलातश्रम प्रतिसिद्ध किया जाता है।''

(3) मानव अधिकारों की सार्वलौकिक घोषणा के अनुच्छेद 7 के अनुसार, ''सभी व्यक्ति विधि के समक्ष समान है और किसी विभेद के बिना विधि के समान संरक्षण के हकदार है लेकिन भारतीय संविधान के अनुच्छेद 14 के अनुसार, ''राज्य, भारत के राज्यक्षेत्र में किसी व्यक्ति को विधि के समक्ष समता से या विधियों के समान संरक्षण से वंचित नहीं करेगा।

(4) मानव अधिकारों की सार्वलौकिक घोषणा के अनुच्छेद 8 के अनुसार, ''प्रत्येक व्यक्ति को संविधान या विधि द्वारा प्रदत मूल अधिकारों का अतिक्रमण करने वाले कार्यों के विरूद्ध सक्षम राष्ट्रीय अधिकरणों द्वारा प्रभावी उपचार का अधिकार है।'' जबकि भारतीय संविधान के अनुच्छेद 32 में वर्णित है, ''इस भाग द्वारा प्रदत्त अधिकारों को प्रवर्तित कराने के लिए समुचित कार्यवाहियों द्वारा उच्चतम न्यायालय में समावेदन करने का अधिकार प्रत्याभूत किया जाता है।''

(5) मानव अधिकारों के सार्वलौकिक घोषणा के अनुच्छेद 9 के अनुसार, ''किसी भी व्यक्ति को मनमाने ढंग से गिरफ्तार, विरूद्ध या निर्वासित नहीं किया जाएगा। जबकि भारतीय संविधान के अनुच्छेद 22 में यह दिया गया है, ''किसी व्यक्ति को जो गिरफ्तार किया गया है, ऐसी गिरफ्तारी के कारणों से यथाशीघ्र अवगत कराए बिना अभिरक्षा में निरूद्ध नहीं रखा जाएगा या अपनी रूची के विधि व्यवसायी से परामर्श करने और प्रतिरक्षा कराने के अधिकार से वंचित नहीं रखा जाएगा।''

(6) मानव अधिकारों की सार्वलौकिक घोषणा के अनुच्छेद 11(2) के अनुसार, ''किसी भी व्यक्ति को किसी ऐसे कार्य या लोप के कारण, जो किये जाने के समय या राष्ट्रीय विधि के अधीन दांडिक अपराध नहीं था, किसी दांडिक अपराध का दोषी अभिनिर्धारित नहीं किया जाएगा। उस शास्ति से अधिक शास्ति अधिरोपित नहीं की जाएगी जो उस समय लागू है। जब अपराध किया गया था।'' जबकि भारतीय संविधान के अनुच्छेद 20(1) में वर्णित है, ''कोई व्यक्ति किसी अपराध के लिए सिद्धदोष नहीं ठहराया जाएगा, जब तक कि उसने ऐसा कोई कार्य करने के समय, जो अपराध के रूप में आरोपित है किसी प्रवृत विधि का अतिक्रमण नहीं किया है या उससे अधिक शास्ति का भागी नहीं होगा जो उस अपराध के लिए किए जाने के समय प्रवृत विधि के अधीन अधिरोपित की जा सकती थी।''

(7) मानव अधिकारों की सार्वलौकिक घोषणा के अनुच्छेद 13(1) के अनुसार, ''प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्येक राज्य की सीमाओं के भीतर संचरण और निवास की स्वतंत्रता का अधिकार है।'' जबकि भारतीय संविधान के अनुच्छेद 19(1) में दिया गया है, ''सभी नागरिकों को भारत के राज्यक्षेत्र में सर्वत्र निर्बाध संचरण का एवं निवास करने और बस जाने का अधिकार होगा।''

(8) मानव अधिकारों की सार्वलौकिक घोषणा के अनुच्छेद 18 के अनुसार, ''प्रत्येक व्यक्ति को विचार अन्त:करण और धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार है।'' उसी प्रकार भारतीय संविधान के अनुच्छेद 25(1) में वर्णित है, ''सभी व्यक्तियों को अन्त:करण की स्वतंत्रता का और धर्म के अबाद्य रूप से मानने, आचरण करने और प्रचार करने का समान हक होगा।''

भारतीय लोकतंत्र: एक ऐतिहासिक अवलोकन

सुशील कुमार मंडल

लगभग दो सौ वर्षों तक अंग्रेजों ने भारत पर राज किया। प्रारंभ में तो आर्थिक लाभ उठाया, बाद में राजनीतिक लाभ। शनैः शनैः भारतीयों के लिए लोकतांत्रिक प्रक्रिया के अधिकार भी सौंपे। ब्रिटिश शासकों के द्वारा एक मत से यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि भारतीय समाज संसदीय लोकतंत्र को स्वीकार करने में असमर्थ है। ब्रिटिश शासकों के अनुसार भारतीयों से लोकतांत्रिक राजनीतिक वातावरण में समरसतापूर्वक जीवन जीने की अपेक्षा नहीं की जा सकती है।

भारतीय इतिहास के विभिन्न कालों में ऋग्वैदिक समाज प्रथम काल था, जहाँ सही मायने में लोकतंत्र का प्रयोग हुआ। तत्पश्चात् भारत पर स्वेच्छाचारी राजतंत्रों का शासन रहा लेकिन उनमें से कुछ ने जनसामान्य से जुड़कर लोकतांत्रिक प्रक्रिया को कायम रखा। प्रशासनिक व्यवस्था पैतृक नौकरशाही प्रणाली पर आधारित थी। किन्तु प्रशासन में लोगों की भागीदारी आंशिक होती थी। मूल अधिकार सिर्फ शासक वर्ग तक ही सीमित होता था। अधिकांश जनता गरीब, अशिक्षित, परंपराओं से आबद्ध तथा सामंतों, साहुकारों तथा संग्रहकर्त्ताओं के शोषण से पीड़ित थी। यद्यपि समाज जातीय असमानता, भयावह शोषण एवं पदानुक्रम पर आधारित था।

अरस्तू ने लोकतंत्र को 'बहुमत के शासन' के रूप में बताया। इन्होंने शासन प्रणाली को दो रूपों में वर्गीकृत किया– सामान्य एवं दूषित शासन प्रणाली, लोकतंत्र को दूषित शासन प्रणाली की श्रेणी में रखा गया। क्योंकि इस प्रणाली में सामान्य बुद्धि के लोगों की भीड़ लगी रहती है तथा ये लोग शासन का संचालन राज्य के हित में न कर स्वहित में करते हैं। चूँकि लोगों को आसानी से दिगभ्रमित कर दिया जाता है एवं इनका दृष्टिकोण काफी अस्थिर होता है।

लगभग दो सौ वर्षों तक अंग्रेजों ने भारत पर राज किया। प्रारंभ में तो आर्थिक लाभ उठाया, बाद में राजनीतिक लाभ। शनैःशनैः भारतीयों के लिए लोकतांत्रिक प्रक्रिया के अधिकार भी सौंपे। ब्रिटिश शासकों के द्वारा एक मत से यह तर्क प्रस्तुत किया गया कि भारतीय समाज संसदीय लोकतंत्र को स्वीकार करने में असमर्थ है। ब्रिटिश शासकों के अनुसार भारतीयों से लोकतांत्रिक राजनीतिक वातावरण में समरसतापूर्वक जीवन जीने की अपेक्षा नहीं की जा सकती है। क्योंकि ये परंपराओं एवं जातीय विभेद की जड़ता से मुक्त नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विश्लेषण करें तो क्षेत्रवादी प्रवृत्तियों एवं सामाजिक शक्तियों के बीच विरोध प्रवृत्तियाँ तथा संघर्ष अक्सर देखा गया है।

फिरंगी शासकों के विरोध एवं अंतर्निहित कमियों के बावजूद हमने लोकतंत्र का आलिंगन किया। सौभाग्यवश 1947 ई० में भारत को अंग्रेजों से मुक्ति एवं स्वतंत्रता की प्राप्ति हुई। हमलोगों ने संविधान का निर्माण कर इसे लागू किया। भारत में लोकतांत्रिक शासन के नये अध्याय की शुरूआत हुई। लोकतंत्र से तात्पर्य लगाया गया, सत्ता का आम लोगों में निहित होना ताकि जनता की सेवा हेतु एवं जनता की सेवा को ध्यान में रखकर लोकनीतियों का निर्माण किया जा सके। बिना शक्ति के निश्चित अवधि में उच्च स्तर के सत्ता की प्राप्ति के लिए व्यक्तियों एवं संगठित समूहों के बीच अर्थपूर्ण एवं सार्थक प्रतिस्पर्धा, स्वच्छ एवं नियमित चुनाव के माध्यम से नीतियों एवं राजनेताओं के चयन के लिए आम जनता की राजनीतिक भागीदारी, नागरिक एवं राजनीतिक स्वतंत्रताओं की एक श्रृंखला जैसे – अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, प्रेस की स्वतंत्रता, संगठन निर्माण की स्वतंत्रता ताकि राजनीतिक प्रतिस्पर्धा एवं भागीदारी सुनिश्चित किया जा सकें।

ऐसी संभावना व्यक्त की गयी थी कि लोकतंत्र एक न एक दिन बहुमत के वास्तविक शासन में परिवर्तित हो जाएगा। किन्तु आज लोकतंत्र में एक से अधिक राजनीतिक दल सत्ता की प्राप्ति के लिए अपने-अपने स्वार्थों के साथ भिन्न प्रकार के हथकंडों का प्रयोग करते हुए मैराथन में आगे निकलने हेतु प्रयासरत हैं। आश्चर्य नहीं बल्कि यह एक वास्तविकता है कि आज दलों का उद्देश्य जनता की सेवा करना नहीं बल्कि एक व्यापारी यानी व्यवसायिक की तरह अपनी लगायी गयी पूंजी पर अधिक लाभ प्राप्त करने की लिप्सा निहित है। दलों के निहित स्वार्थ, सामंती राजनीतिक संस्कृतिक के विकास को गति देने की प्रक्रिया में लीन है।

आज प्रेस को काफी स्वतंत्रता प्राप्त है लेकिन दुर्भाग्य यह है कि जो लोग सत्ता की कुर्सी पर विराजमान है, उनके द्वारा ही जनता की आवाज यानी प्रेस पर नियंत्रण स्थापित किया जा रहा है। जनमत के सृजन एवं उसके विखंडन पर कुछ स्वार्थी तत्वों का हमेशा से एकाधिपत्य रहा है।

व्यापक स्तर पर व्याप्त अशिक्षा, अज्ञानता, अंधविश्वास, गरीबी एवं जनता की उपेक्षा के कारण अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता अपना दम तोड़ती है। यहाँ तक कि लोगों की तारनहार न्यायपालिका तक कुछ लोग ही अपनी फरियाद लेकर पहुँच पाते हैं, साथ ही न्यायिक प्रक्रिया की जटिलता के कारण न्याय के लए तरस गये लोग शोषण को एक सत्य के रूप में स्वीकार कर पीड़ित होने को विवश हो गए हैं। हाँ जनहित याचिका (PIL) के चलते कुछेक राहत मिली है।

सुविधा वंचित समूहों के लिए आरक्षण की व्यवस्था, महिलाओं का सशक्तीकरण, मानवाधिकारों की सुरक्षा, प्रेस एवं इलेक्ट्रॉनिक मीडिया को प्राप्त स्वतंत्रता, भ्रष्ट राजनेताओं एवं अधिकारियों की गिरफ्तारी, अस्पृश्यता, जमींदारी एवं बाल मजदूरी का अंत, अल्पसंख्यकों को सुरक्षा, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका का पृथक्करण, कानून का शासन एवं प्राकृतिक न्याय की व्यवस्था, शक्ति का विकेन्द्रीकरण, आपातकाल के विरुद्ध राजनैतिक आन्दोलन, प्राथमिक शिक्षा का सार्वभौमीकरण, साक्षरता में सुधार, अनुच्छेद 21 एवं अनुच्छेद 42 की न्यायपालिका के द्वारा उदार व्याख्या, संविधान के मूल अभिलक्षणों का विस्तार, जनहित याचिकी पंचायती राज संस्थानों का उद्‌भव, धर्म-निरपेक्ष मूल्यों का संरक्षण, एकता का प्रोत्साहन आदि सामाजिक गतिशीलता की ओर भारतीय लोकतंत्र तेजी से बढ़ा है।

किन्तु इसके बावजूद भारतीय लोकतंत्र के समक्ष कुछ बुनियादी समस्याएँ आज भी विकराल रूप में मुँह बाये खड़ी है, जो लोकतंत्र की जीवंतता एवं वृद्धि में बाधक है। जो इस प्रकार है -

1. मानव संसाधनों के उचित सर्वेक्षण का अभाव,
2. उत्तदायित्व को निश्चित करने की व्यवस्था का अभाव,
3. भ्रष्टाचार - इसके दो प्रमुख कारण उत्तरदायी है - आवश्यकता एवं लालच। विकासशील देशों में भ्रष्टाचार की शुरूआत आवश्यकता से होती है लेकिन उसका अन्त लालच से होता है। इसके लिए केन्द्रीय सर्तकता आयोग एवं लोकपाल जैसे संस्थानों को और मजबूत बनाया जाना चाहिए।
4. दिशाविहीन शिक्षा व्यवस्था को दिशा दी जानी चाहिए। यह उपाय चरित्र निर्माण एवं मूल्य संवर्द्धन में काफी महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है।
5. महिलाओं की सामाजिक स्थिति भी लोकतांत्रिक प्रक्रिया के मार्ग में बाधा बनी हुई है। इसके लिए महिला सशक्तीकरण काफी महत्वपूर्ण है।
6. निर्वाचन प्रणाली में सुधार के माध्यम से लोकतंत्र के प्राण का संचार किया जाना चाहिए। यह उपाय राजनीति के अपराधीकरण एवं जातीयकरण की प्रक्रिया को कम करेगा।
7. प्रतिस्पर्धा एवं सुरक्षा की भावना के विकास हेतु विनिवेश, कर सुधार जैसे आर्थिक सुधार में गति लायी जानी चाहिए। ताकि लोकतंत्र को आर्थिक मजबूती प्रदान किया जा सके।
8. विदेशी भागीदारों की मदद से अवसंरचनात्मक कमियों को दूर करना चाहिए।
9. सेवा क्षेत्रों को अत्यधिक महत्व देने से बचना चाहिए, यानी प्राथमिक एवं द्वितीयक क्षेत्र के साथ इनका समायोजन किया जाना चाहिए। चूंकि संतुलित कृषि विकास समय की मांग है। कृषि संसाधनों के बेहतर प्रयोग एवं स्थानांतरण के बिना औद्योगिकीकरण एवं विकास संभव नहीं है। इससे आज के भूमण्डलीकरण के युग में अर्थव्यवस्था पर खतरा मँडरा सकता है और भारत जैसे लोकतांत्रिक देश जहाँ लगभग 70% जनता कृषि पर निर्भर है, कमजोर पड़ सकती है।

अतः भारतीय लोकतंत्र को मजबूत एवं सुदृढ़ गति देने के लिए यह आवश्यक है कि इन सब बुनियादी बातों को ध्यान में रखकर हार्दिक रूप से कदम बढ़ाया जाय, तो एक दिन भारतीय लोकतंत्र अवश्य ही विश्व के समक्ष आदर सूचक लोकतांत्रिक देश के रूप में प्रेरक शक्ति बन जाएगा और लोकतंत्र को गरिमा प्रदान करेगा।

संदर्भ ग्रंथ :-

1. रजनी कोठारी-Politics in India
2. सी॰बी॰ मेंकफर्सन- Democratic Theory
3. पी॰डी॰ शर्मा-Western Political Theory
4. जे॰सी॰ जोहरी-आधुनिक राजनीतिक सिद्धान्त
5. सी॰वी॰ गोना - तुलनात्मक शासन एवं राजनीति

❑❑❑

न्यायिक व्यवस्था में सुधार हेतु सकारात्मक प्रयास

डॉ॰ प्रमोद कुमार

जो न्यायिक व्यवस्था ब्रिटिशों द्वारा हमें विरासत में मिली थी, उसमें सुधार के लिए अब तक कोई कठोर कदम नहीं उठाया गया है, न कभी इस बात पर विचार-विमर्श ही किया जाता है। हालांकि इस दिशा में एक सकारात्मक प्रयास न्यायाधीश वी.एस. मालीमथ की अध्यक्षता में आपराधिक न्याय प्रदान करने वाली प्रणाली पर गठित समिति की सिफारिशों में स्पष्ट दिखाई पड़ता है। इस समिति ने न्यायिक व्यवस्था में सुधार के लिए लगभग 158 सिफारिशें की हैं जिसका मुख्य उद्देश्य आपराधिक मामलों के न्यायिक व्यवस्था को संवेदनशील, व्यावहारिक तथा आधुनिक बनाना है।

भारत को स्वतंत्रता मिले हुए 60 वर्ष बीत गए। इन छह दशकों में भी न्यायिक व्यवस्था में कोई नवीन सुधार देखने को नहीं मिला है। उन हजारों लोगों की आशाओं पर पानी फिर गया जो न्यायिक व्यवस्था में सुधार की बात सोच रहे थे, क्योंकि अभियोजन पक्ष (पुलिस/सरकार), बचाव पक्ष (वकील) के बीच न्यायपालिका की निष्पक्षता कम-से-कम इस मामले में तो दबकर ही रह गई कि ''न्याय में देरी का अर्थ है न्याय देने से मना कर देना'' (Justice delayed is justice denied)। भारत में अभी भी उसी न्यायिक प्रणाली को व्यवहार में लाया जाता है जो हमें ब्रिटिशों द्वारा विरासत में प्राप्त हुई थी। जो न्यायिक व्यवस्था ब्रिटिशों द्वारा हमें विरासत में मिली थी, उसमें सुधार के लिए अब तक कोई कठोर कदम नहीं उठाया गया है, न कभी इस बात पर विचार-विमर्श ही किया जाता है।

हालांकि इस दिशा में एक सकारात्मक प्रयास न्यायाधीश वी.एस. मालीमथ की अध्यक्षता में आपराधिक न्याय प्रदान करने वाली प्रणाली पर गठित समिति की सिफारिशों में स्पष्ट दिखाई पड़ता है। इस समिति ने न्यायिक व्यवस्था में सुधार के लिए लगभग 158 सिफारिशें की हैं जिसका मुख्य उद्देश्य आपराधिक मामलों के न्यायिक व्यवस्था को संवेदनशील, व्यावहारिक तथा आधुनिक बनाना है। इस समिति द्वारा निम्न सिफारिशें की गई हैं जो इस प्रकार अग्रलिखित हैं :-

1. न्याय-व्यवस्था का उद्देश्य किसी अभियुक्त पर शासन द्वारा लगाए गए आरोपों की जाँच करना और उसके दोषी या निर्दोष होने पर विचार करना नहीं, बल्कि सत्य का अन्वेषण करना होना चाहिए।
2. सत्य के अन्वेषण के लिए अदालतों, पुलिस और अभियोजन पक्ष को गत्यात्मक एवं स्वयं सक्रिय भूमिका निभानी चाहिए।
3. सजा देने की शर्त स्पष्ट होनी चाहिए।
4. आर्थिक आधारों पर नियंत्रण हेतु आर्थिक अपराधों से संबंधित विधियों में समयानुसार संशोधन किए जाएँ। ग्रेट ब्रिटेन और आयरलैण्ड की तरह कठोर कानून बनाए जाएँ।
5. सम्पदा बरामदगी अभिकरण को संदिग्ध अभियुक्तों के खातों को सील करने, सम्पत्ति को कुर्क करने का भी अधिकार होना चाहिए।
6. महिलाओं पर होने वाले अत्याचारों से जुड़े मामलों को जमानती अपराध की श्रेणी में रखा जाए।
7. गवाहों के ठहरने, बैठने, शौचालय व खान-पान की समुचित व्यवस्था की जाए।
8. संगठित अपराधों एवं आतंकवाद से निपटने हेतु सारे देश के लिए एक जैसा कानून बनाया जाए।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि मालिमथ समिति की ये सिपफारिशें न्यायिक व्यवस्था में क्रांतिकारी परिवर्तन ला सकती है।

9. अंतर्राष्ट्रीय अपराधों से निपटने हेतु वर्तमान कानूनों में संशोधन करके उसे U.N.O. के समझौतों के अनुरूप किया जाए।
10. अपराधों की जाँच पड़ताल पर जाँच अभिकरणों पर पड़ने वाले दबावों को निष्प्रभावी करने के लिए राष्ट्रीय सुरक्षा आयोग तथा राज्यों में राज्य सुरक्षा आयोग का गठन किया जाए।
11. सर्वोच्च आपराधिक खुफिया ब्यूरों का गठन किया जाए जो अपराधों के बारे में जानकारियाँ हासिल करके उसका तुलनात्मक अध्ययन करे।
12. न्यायालयों में लंबित आपराधिक मामलों के निपटारे हेतु विशेषज्ञ जजों से युक्त सर्वोच्च तथा उच्च न्यायालयों में स्थायी आपराधिक पीठें गठित की जाएं।
13. सात वर्ष से कम आयु के बच्चे की माँ या गर्भवती स्त्री को जेल में नहीं भेजना चाहिए। ऐसी दोष सिद्ध स्त्रियों को घर में ही कैद कर दिया जाना चाहिए।
14. बलात्कारी को मृत्युदंड न देकर आजीवन कारावास की सजा दी जानी चाहिए।
15. अंतर्राज्यीय अपराधों तथा अंतर्राष्ट्रीय प्रभाव पैदा करने वाले अपराधों को केंद्रीय सूची में रखा जाना चाहिए तथा एक संघीय पुलिस की व्यवस्था की जाए।
16. कोई अभियुक्त अपराधी है या नहीं यह सिद्ध करने का दायित्व अभियोजन पक्ष पर नहीं होना चाहिए, बल्कि यह दायित्व अभियुक्त पर होना चाहिए, कि वह सिद्ध करे कि उसने अपराध नहीं किया है।
17. न्यायालय को किसी अभियुक्त द्वारा पुलिस अधिकारी या मजिस्ट्रेट के समक्ष दिए गए बयान को ही साक्ष्य के तौर पर स्वीकार कर लिया जाना चाहिए। इसके लिए ''भारतीय साक्ष्य अधिनियम'' में संशोधन किया जाना चाहिए।

बहुत सारे मामलों में न्यायालय में जाकर इसलिए अभियुक्त छूट जाते हैं क्योंकि अभियुक्त जाँच के दौरान पुलिस अधिकारी को दिए गए बयान से मुकर जाते हैं या गवाह प्रतिपक्षी (hostile) हो जाता है। गुजरात के साम्प्रदायिक दंगे का मामला हो या बेस्ट बेकरी काण्ड का मामला हो, इन मामलों में अनेक अभियुक्त न्यायालयों से बरी हो रहे हैं, क्योंकि गवाहों ने अपने-अपने बयान न्यायालय में बदल दिए हैं।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि भारत की न्याय व्यवस्था की न्यायिक प्रक्रिया अत्यधिक लम्बी, उबाऊ, दुरूह और खर्चीली हो गई है। आम व्यक्ति न्याय पाने से वंचित होता जा रहा है। धनबल एवं बाहुबल के सहारे शातिर-से-शातिर अपराधी न्यायालयों से बरी हो जाते हैं।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि मालिमथ समिति की ये सिफारिशें न्यायिक व्यवस्था में क्रांतिकारी परिवर्तन ला सकती है। बशर्ते कि इन्हें सरकार द्वारा स्वीकार कर लिया जाए और उच्चतम न्यायालय इस पर अपने अनुमोदन की मुहर लगा दे।

संदर्भ ग्रंथ सूची :-

1. सईद, एस.एम., भारतीय राजनीतिक व्यवस्था, सुलभ प्रकाशन, पृष्ठ सं॰ 179
2. फाड़िया, डॉ॰ बी.एल., भारतीय राजव्यवस्था एवं भारत का संविधान
3. परीक्षा मंथन - जनवरी 2005
4. प्रतियोगिता दर्पण - अक्टूबर 2003

❑❑❑

प्रबंध, रहन-सहन एवं अभिप्रेरण साहित्य

धन प्राप्ति के अनुपम सूत्र	सी. रंजन	200.00
स्वयं को पहचानें	ओरिसन स्वेट मार्डेन	150.00
भाग्य स्वयं बनाएं	स्वेट मार्डेन	150.00
गृह व्यवस्था	अमर रस्तोगी	200.00
वास्तु एवं सुख संपदा	सी. रंजन	200.00
फेंगशुई से सुख वैभव	सी. रंजन	200.00
क्रय शक्ति प्रबन्ध	सुमन शर्मा	150.00

पुस्तकें मंगाने के लिए लिखें-

पुष्पांजलि प्रकाशन

एल-46, गली नं. 5, शिवाजी मार्ग, करतार नगर, दिल्ली-110053

फोन : 9811710900

भारत में चुनाव सुधार: एक समीक्षात्मक अध्ययन

डॉ॰ विद्यावति सिंह

भारत में चुनाव सुधार एक ऐसा जटिल मुद्दा है जिस पर जनता और न्यायपालिका लगभग एकमत है। अब यह तथ्य किसी से छुपा हुआ नहीं है कि लोकसभा तथा राज्य विधान सभाएँ ही नहीं स्थानीय निकायों के चुनाव जीतने के लिए भी उम्मीदवारों द्वारा अवैध तरीकों को अपनाया जाता है। सामान्यतौर पर उम्मीदवारों की आपराधिक पृष्ठभूमि, अवैध तरीके से जमा की गई अकूत सम्पत्ति तथा आपराधिक व्यक्तियों के साथ उनकी साँठ-गाँठ उन्हें चुनावों को अपने पक्ष में कर लेने के अवसर उपलब्ध कराती है। आपराधिक पृष्ठभूमि के सहारे ही मतदान स्थलों पर जबरन कब्जा कर लेने, फायरिंग करके या डरा धमकाकर वैध मतदाताओं को मतदान करने से रोकने या फर्जी मत डलवाने जैसी घटनाएँ संभव हो पाती हैं।

जब धनबल के सहारे मतदाताओं को उनके भरोसेमन्द जातीय सामुदायिक नेताओं के सहारे लुभाया जाता है। इसके लिए मुफ्त में शराब और अन्य वस्तुएं वितरित की जाती हैं और इस प्रकार से जो लोग चुनाव जीतकर विधानसभा या लोकसभा में पहुँचते हैं वे नए सिरे से संवैधानिक उपचारों के संरक्षण में अवैध तरीकों से सम्पत्ति अर्जित करने लगते हैं। अभी विगत् दिनों उत्तर प्रदेश में एक साधारण परिवार से निकलकर विधायक और बाद में मंत्री बनने वाले एक व्यक्ति द्वारा कुछ ही समय में करोड़ों रुपए की सम्पत्ति अर्जित कर लेने का मामला प्रकाश में आया है। आज ऐसे एक नहीं बल्कि हजारों मामले हैं जिनमें विधान-सभा, लोक-सभा, सदस्य बनने के बाद लोगों ने शुमार सम्पत्ति अर्जित की है।

चुनाव जीतकर विधानसभा या लोकसभा में पहुँचते हैं वे नए सिरे से संवैधानिक उपचारों के संरक्षण में अवैध तरीकों से सम्पत्ति अर्जित करने लगते हैं। अभी विगत् दिनों उत्तर प्रदेश में एक साधारण परिवार से निकलकर विधायक और बाद में मंत्री बनने वाले एक व्यक्ति द्वारा कुछ ही समय में करोड़ों रुपए की सम्पत्ति अर्जित कर लेने का मामला प्रकाश में आया है।

भारत में चुनाव की प्रकृति :-

1. अल्पमत की जीत,
2. प्राप्त मतों और प्राप्त सीटों में अंतर,
3. मतदाताओं की निष्क्रियता,
4. चुनाव में अधिक धन खर्च करने की प्रवृत्ति,
5. शासक दल द्वारा प्रशासन का दुरुपयोग,
6. चुनाव में अपराधियों का प्रवेश,
7. व्यक्ति आधारित राजनीति,
8. जाति, धर्म, भाषा के आधार पर चुनाव,
9. क्षेत्रीय दलों के कारण स्पष्ट बहुमत का अभाव, और
10. निर्दलिय उम्मीदवारों की बहुलता।

चुनाव सुधारों के लिए अब तक तारकुण्डे समिति (1972), दिनेश गोस्वामी समिति (1990), इन्द्रजीत गुप्ता समिति (1998), शेषण समिति (1992) अपने प्रतिवेदन सरकार को सौंप चुकी हैं। इन समितियों के सुझावों से इतर मुख्य चुनाव आयुक्त टी॰एन॰ शेषण, गिल तथा लिंगदोह ने अपने स्तर और विधि संगत अधिकारों का प्रयोग करके चुनाव प्रणाली की खामियों को दूर करने का प्रयास किया है। इसी क्रम में भारत के उच्च न्यायालय तथा सर्वोच्च न्यायालय भी समय-समय पर चुनाव सुधारों की प्रक्रिया को आगे बढ़ते रहे हैं। यह और बात है कि संसद की सर्वोच्चता की दुहाई देकर भारत के राजनीतिज्ञ सर्वोच्च न्यायालय के दिशा-निर्देशों को निष्प्रभावी करते रहने में भी पीछे नहीं रहे हैं।

विगत वर्ष सर्वोच्च न्यायालय ने एक जनहित याचिका पर निर्णय देते हुए यह व्यवस्था दी थी कि लोकसभा, राज्यसभा, विधानसभा, विधान परिषद् का चुनाव लड़ने वाला प्रत्येक उम्मीदवार अपनी आपराधिक पृष्ठभूमि, अपनी तथा अपनी पत्नी के नाम की समस्त सम्पत्ति और आय के स्रोतों और अपनी शैक्षणिक योग्यता का ब्यौरा रिटर्निंग अधिकारी को दे। सर्वोच्च न्यायालय की इस व्यवस्था से राजनीतिज्ञों में खलबली मच गई। इस निर्णय के विरुद्ध सत्तापक्ष तथा विपक्ष में सर्व-सम्मति कायम हो गई और मई 2002 में चुनाव सुधार कानून बनाकर मात्र यह व्यवस्था की गई कि

(1) उम्मीदवार केवल उन्हीं आपराधिक मामलों की जानकारी देंगे, जिन्हें न्यायालय ने संज्ञान में ले लिया है।

(2) केवल विजयी उम्मीदवार को ही अपनी आस्तियों तथा देनदारियों का विवरण देना होगा।

(3) किसी भी उम्मीदवार के लिए अपनी शैक्षणिक योग्यता का विवरण देना जरूरी नहीं होगा।

इन्हीं व्यवस्थाओं के अनुरूप जनप्रतिनिधित्व कानून में संशोधन कर दिया गया।

सरकार के इस निर्णय के विरुद्ध प्यूपिल्स यूनियन फॉर सिविल लिबर्टीज, लोकसत्ता तथा एसोसिएशन फॉर डेमोक्रेटिक रिफार्म्स ने नए सिरे से सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दी। इस जनहित याचिका पर सर्वोच्च न्यायालय की तीन सदस्यीय खण्ड पीठ के न्यायमूर्ति एम. बी. शाह, न्यायमूर्ति पी.वी. रेड्डी तथा न्यायमूर्ति डी.सी. धर्माधिकारी ने जन प्रतिनिधित्व कानून में किए नए संशोधनों को असंवैधानिक करार दे दिया। अलग-अलग, किन्तु लगभग एक जैसे निर्णय में तीनों ही न्यायाधीशों ने कहा कि केन्द्र सरकार द्वारा जारी चुनाव सुधार अध्यादेश (जो बाद में अधिनियम बन गया) विधायिका के लिए उचित उम्मीदवार बनने के लिए मतदाताओं को सूचना पाने के अधिकारों में कटौती करता है, इसलिए यह पूरी तरह से असंवैधानिक है। न्यायधीशों का मानना है कि सूचना पाने का अधिकार संविधान के अनुच्छेद-19 के तहत् एक मौलिक अधिकार है तथा यह प्रत्येक प्रकार से मतदाताओं के सूचना पाने के अधिकार से संबद्ध है।

सर्वोच्च न्यायालय ने जन प्रतिनिधि अधिनियम के संशोधनों को खारिज करते हुए चुनाव आयोग को निर्देश दिया है कि वह न्यायालय के ताजा निर्णय के परिप्रेक्ष्य में नए सिरे से अधिसूचना जारी करे।

गुरुवार 13 मार्च 2003 को दिए गए निर्णय से अब प्रत्येक उम्मीदवार के लिए यह अनिवार्य हो गया है कि वह अपने नामांकन प्रपत्र दाखिल करते समय एक शपथ पत्र के रूप में निम्नलिखित सूचनाएँ भी दाखिल करे -

(1) क्या उम्मीदवार को किसी आपराधिक मामले में दोषी पाया गया/ दोषमुक्त करार दिया गया/ डिस्चार्ज किया गया यदि हाँ, तो क्या उसे सजा सुनाई गई या उस पर दण्ड लगाया गया?

(2) नामांकन प्रपत्र दाखिल करने से 6 माह पूर्व तक क्या उम्मीदवार किसी ऐसे मामले में अभियुक्त था, जिसमें दो वर्ष या इससे अधिक की सजा का प्रावधान है और क्या ऐसे मामले को संज्ञान में लेते हुए न्यायालय द्वारा आरोप पत्र दिया जा चुका है?

(3) उम्मीदवार, उसकी पत्नी तथा उसके आश्रितों के नाम से सभी प्रकार की चल, अचल सम्पत्तियों एवं बैंक में जमा धनराशियों का विवरण।

(4) उम्मीदवार के ऊपर बकाया सभी प्रकार की देनदारियाँ जिनमें सरकार और सार्वजनिक वित्तीय संस्थानों के बकाया ऋण भी शामिल हैं।

(5) उम्मीदवार की शैक्षिक योग्यता।

चुनाव में सुधार या राजनीतिक अपराधीकरण रोकने के उपाय :-

1. शिक्षा को बढ़ावा,
2. जनता में जागरूकता पैदा करना,
3. चुनावी अपराधों के लिए fast track की स्थापना,
4. चुनावी खर्च की सीमा का सख्ती से पालन करना,
5. कानून का सख्ती से पालन करना,
6. दो से अधिक स्थानों से चुनाव पर रोक,
7. न्यूनतम शैक्षणिक अर्हता अपनाई जाए।
8. समय-समय पर निर्वाचन क्षेत्र का परिसीमन किया जाए,
9. क्षेत्रीय दलों पर रोक लगायी जाय।

जन प्रतिनिधि संशोधन अधिनियम 1996 के अनुसार एक व्यक्ति एक से अधिक जगहों से चुनाव नहीं लड़ सकता है, चुनाव प्रसार 48 घंटे पूर्व समाप्त किया जाना चाहिए।

चुनाव सुधारों की दिशा में सर्वोच्च न्यायालय की उपर्युक्त पहल निश्चित तौर पर स्वागत योग्य है। किन्तु इससे यह आशा करना रेत में पानी खोजने जैसे होगा कि अब आपराधिक पृष्ठभूमि या अवैध कारोबार से अर्जित की गई सम्पत्ति का कोई स्वामी चुनाव नहीं जीत सकेगा। भारत की न्यायपालिका और न्यायिक प्रक्रिया में जिस प्रकार की खामियां हैं उसके चलते किसी भी निर्णय को लागू करना आसान नहीं है, किन्तु फिर भी ''अंधेरे को कोसने से अच्छा है कि एक दीप जलाया जाए'' की उक्ति पर चलते हुए चुनाव प्रणाली को उत्तरोत्तर सुधारों की ओर ले जाने का मार्ग तो प्रशस्त होता ही है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची -

(1) डॉ॰ बी॰ एल॰ फाड़िया - भारतीय राजव्यवस्था एवं भारत का संविधान

(2) प्रतियोगिता दर्पण अतिरिक्तांक - भारतीय राजव्यवस्था

(3) क्रॉनिकल - दिसम्बर 2002

(4) परीक्षा मंथन - जनवरी 2004

❑❑❑

फैज अहमद फैज की शायरी का एक रंग यह भी

मो॰ कसीम अख्तर

फनकारी और नुदरत-ए-तख्युल का इतना हसीन इम्तजाज किसी शायर के यहाँ नहीं दिखाई देता है। सीधे सादे अलफाज को बगैर ज्यादा तश्बीह व इशतआरे के शेर की सुरत में पेश करना और ताआसुर और मानवीयत को पैदा करना फैज का खास कारनामा है और यही फैज की शायरी का इम्तियाजी पहलु है।

फैज अहमद फैज मौजूदा दौर के उन चन्द बड़े शायरों में से हैं जिन्होंने उर्दू शायरी में नये तजुर्बे तो किए हैं लेकिन उनकी बुनियाद पुराने तजुर्बो पर रखी है। उन्होंने इस साइंसी हकीकत को फरामोश नहीं किया है कि हर नयी चीज पुरानी कोख से जन्म लेती है। यही वजह है कि हमें उनकी शायरी का मुताला करते हुए किसी तरह की अजनबियत नहीं होती। दूर-अज-क्यास और मुब्हम तशबिहों से वह हमें उलझन में नहीं डालते बल्कि अपने नर्म व नाजुक लहजे के साथ वह हम से सरगोशियाँ करते हैं। और उनकी सरगोशी इस कदर मानी खेज होती है कि चन्द अलफाज कान में पड़ते ही पूरे वारदात से वाकफियत हो जाती है। मसलन ये अश्आर देखिये :-

रात यूँ दिल में तेरी खोयी हुई याद आयी, जैसे विराने में चुपके से बहार आ जाए!

जैसे सहराओं में हौले से चले बाद-ए-नसीम, जैसे बीमार को बेवजह करार आ जाए!

महबूब की याद आना कोई नया सबजेक्ट नहीं है लेकिन फैज ने खूबसूरत तशबिहों और मुनफरिद अन्दाज-ए-बयान के जरिये बिल्कुल नया और अछूता बना दिया है। उनके एक कतआ ही के नहीं उनकी पूरे कलाम की खूबी है कि वह नया भी है और पुराना भी। हाल की पैदावार है मगर माजी का वारिस है। नये सबजेक्ट को पुराने असलुब में और पुराने सबजेक्ट को नये अन्दाज में पैवस्त करने का जो मलका फैज को है वह दौरे जदीद के बहुत कम शोरा के यहाँ पाया जाता है। इस सिलसिले में डॉ॰ एजाज हुसैन फरमाते हैं :-

फनकारी और नुदरत-ए-तख्युल का इतना हसीन इम्तजाज किसी शायर के यहाँ नहीं दिखाई देता है। सीधे सादे अलफाज को बगैर ज्यादा तश्बीह व इशतआरे के शेर की सुरत में पेश करना और ताआसुर और मानवीयत को पैदा करना फैज का खास कारनामा है और यही फैज की शायरी का इम्तियाजी पहलु है।

इस हवाले से चन्द अश्आर पेश है :-

शाम-ए-फिराक अब न पूछ आयी और आके टल गयी, दिल था कि फिर बहल गया जान थी कि फिर संभल गयी।

दोस्तों उस चश्म-वो लब की कुछ कहो जिसके बगैर, गुलिस्ता की बात रंगीन है न मयखाने का नाम।

फैज गजलों में सिर्फ अपने जज्बात की तर्जुमानी करते हैं जो अमूमन तकलीद होती है और नज्मों में गम-ए-जाना के बजाए गम-ए-दौराँ को ज्यादा जगह देते हैं। हमागीर मसायेब व अलाम को उनकी शायरी ने गहराई और तवानायी अता कर

और भी गम हैं जमाने में मुहब्बत के सिवा। राहतें और भी हैं वस्ल की राहत के सिवा।।

लौट जाती है उधर को भी नजर क्या कहिए। अब भी दिलकश है तेरा हुस्न मगर क्या कहिए।।

दी और यह खूबी उस वक्त पैदा हुई जब फैज ने आलमगीर तबाहियों का गहरी नजरों से मुताअला किया और महसूस किया कि :- और भी गम है जमाने में मुहब्बत के सिवा, महसूस करते ही उन्होंने अपने तख्य्युल-ए-ब्यान को पुरी तरह इस शायरी के लिए सर्फ कर दिए। नतीजा यह हुआ कि अहसास में लज्जत पैदा हो गयी। इस मौके की एक नज्म का शेर देखिए:-

और भी गम हैं जमाने में मुहब्बत के सिवा। राहतें और भी हैं वस्ल की राहत के सिवा।।

लौट जाती है उधर को भी नजर क्या कहिए। अब भी दिलकश है तेरा हुस्न मगर क्या कहिए।।

फैज की जिन्दगी नाकामी और नामुरादी के हादसात से दो-चार होती रही है। कभी-कभी गम के बादल इतने गहरे होते हैं कि जहाँ जिन्दगी मौत का सामान पैदा कर देती है। ऐसे हालात में उनका दिल क्यों न टूटे और बेहतरी की कोई सूरत नजर न आता देख ये कहने पर मजबूर हो जाते हैं-

जीने के फसाने रहने दो अब इन में उलझ कर क्या लेगें।

जब इस से भी दिल को तस्कीन नहीं मिलती है तो कह उठते हैं-

एक मौत का धंधा बाकी है जब चाहेंगे निपटा लेगें।

दिल की भड़ास जब यहाँ भी नहीं निकलती है तो कह उठते हैं :-

जब गंज कफस मसकन ठहरा और जेब गरेबाँ तौक-व-रसन,

आये के न आये मौसम-ए-गुल दर्द-ए-जिगर का क्या होगा।

फैज इससे हिम्मत नहीं हारते वह सिसक कर मरना पसन्द नहीं करते बल्कि अपने में जोश और हिम्मत पैदा करते हैं और कहते हैं :-

यह हाथ सलामत है जब तक इस खून में हरारत है जब तक।

इस दिल में सदाकत है जब तक इस नुत्क में ताकत है जब तक।।

फैज के दिल में वतन और अले वतन की मुहब्बत है। इस मुहब्बत के नतीजे में उन्हे जिन्दाँ से भी गुजरना पड़ा है। मगर फैज इसमें साबित कदम रहे। वह तो दार-व-रसन से भी बदतर सजा के लिए तैयार हैं इसलिए कहते हैं :-

मताये लौह क्लम छिन गयी है तो क्या गम है, के खुन-ए-दिल में डुबोली है उगलियाँ मैंने।

जुबाँ पे मोहर लगी है तो क्या के रख दी है, हर एक हलक-ए-जंजीर में जुबाँ मैं ने।।

फैज अहम फैज के अन्दाज -ए-ब्यान में ऐसा तीखापन है जो उस दौर के दूसरे शायरों के यहाँ कम नजर आता है। उनके कलाम में जो चीज सबसे ज्यादा दिल और दिमाग को मुतअसर करती है वह एख्तसार और जामियत है। उर्दू के मशहूर नाकिद अल अहमद सुरूर के ख्याल में :-

''फैज हमारे ऐसे शायरों में से हैं जिन्हें जिन्दगी और इसके हजार से-व-ए हुस्न से मुहब्बत है और मुहब्बत की वजह से उनका और जिन्दगी का झगड़ा भी पला जाता है। फैज को आतिश खानों की मुकद्दस आग मसली हुई है मगर उसने उन्हें झुलसाया नहीं बल्कि उनकी शाख्सियत को तब-व-ताब अता की है.......!''

सोज-व-गुदाज और खुलूस-व-मुहब्बत का जिस कदर दिलफरेब इम्तजाज फैज ने पेश किया और पुरानी रिवायात पर नयी रिवायात का महल तामीर किया बिला शुबाह वह फैज ही का हिस्सा है औ जदीद उर्दू शायरी उनकी देन पर जितना फख्र-व-नाज करे कम है।

❑❑❑

जीवन वृत्त

महान देश रत्न (टैगोर, गांधी, नेहरू व पटेल)
चिरमस्णीय महान लेखक
चिरमस्णीय महान वैज्ञानिक
चिरमस्णीय महान व्यक्तित्व
यशपाल का साहित्य सर्जन के विविध आयाम
निर्मल वर्मा व्यक्तित्व एवं कृतित्व
कथाकार एवं उपन्यासकार यशपाल
सरदार वल्लभ भाई पटेल
मदर टेरेसा

पुस्तकें मंगाने के लिए लिखें-

पुष्पांजलि प्रकाशन

एल-46, गली नं. 5, शिवाजी मार्ग, करतार नगर, दिल्ली-110053
फोन : 9811710900

नक्सलवादी आन्दोलन और हिंसा

रमेश कुमार चौधरी

नक्सलवाद का वास्तविक उद्देश्य सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक समानता स्थापित करना है, किन्तु अकारण हिंसा, अपराध एवं उग्रवाद अपनाने के कारण यह हमारे समाज के लिए एक बड़ी चुनौती एवं सुरक्षा की दृष्टि से एक सामयिक समस्या के रूप में उभरा है। नक्सलवाद को आतंकवाद का पर्याय कहना अनुचित है। वास्तव में, नक्सलवाद एक विचारात्मक, रानजीतिक व आर्थिक संघर्ष है, जो शासकवर्ग की राजसत्ता को उखाड़ फेंकना चाहता हैं ऐसे शासक वर्ग की राजसत्ता को जिसके मालिक देशी-विदेशी पूँजीपति, भू-स्वामी, ठेकेदार, दलाल, नौकरशाह हैं और जो बहुसंख्यक श्रमजीवी वर्ग पर शासन करते हैं।

20 मार्च 2008 को होली की पूर्व संध्या पर 50 नक्सलियों ने मुंगेर जिले के पाटम गाँव में धावा बोल वहाँ एक दवा दुकान से तीन लोगों को खींच लिया और गोली मार कर उनकी हत्या कर दी। इस दौरान बचाने आए दो लोगों को भी नक्सलियों ने घायल कर दिया तथा एक ग्रामीण को अपने साथ लेते गए। नक्सली अपनी उपस्थिति का एहसास कराने के उद्देश्य से घटनास्थल पर पर्चा छोड़ गए। इसी तरह कैमूर पहाड़ियों पर स्थित गुप्ताधाम में शिवरात्रि पर आयोजित होने वाले मेले में सोलह लोगों को बंधक बनाकर नक्सलियों ने बिहार पुलिस को चेतावनी दी थी। जहानाबाद जेल ब्रेक कांड में नक्सलियों ने तो खुलेआम सरकार और प्रशासन से टकराने की हिम्मत की थी। ये सभी घटनाएँ साबित करती हैं कि नक्सलियों के हौसलों में कोई कमी नहीं आयी है। खुद सरकारी आकड़ें भी इस बात की गवाही देते हैं कि इस प्रकार की विध्वंसक गतिविधियाँ लगातार जारी है। यदि कुछ दिन शांति रहती है तो यह नहीं मान लेना चाहिए कि नक्सली तत्वों के इरादे बदल गये है या पुलिस ने कोई बड़ा तीर मार लिया है। वास्तविकता यह है कि नक्सली हिंसा में कोई कमी नहीं आयी है और नक्सली तत्व पहले की अपेक्षा अब ज्यादा ताकतवर हो चुके है, तभी तो वे मेले में घुसकर सरकारी कर्मचारियों सहित सोलह लोगों को बंधक बना लेते हैं और पुलिस का सारा सुरक्षा तंत्र व रणनीतियाँ धरी रह जाती है।

नक्सलवाद मार्क्सवाद के वर्ग-संघर्ष के सिद्धान्त से प्रभावित है। इसके तहत शोषित, उपेक्षित एवं दलित वर्ग अपनी संघर्ष शक्ति से पूँजीपतियों, जमीन्दारों, साहूकारों एवं शासकों को शिकार बनाते हैं और शासकवर्ग की राजसत्ता को लूटना अपना अधिकार मानते हैं। उनकी धारणा है कि अपने अधिकार प्राप्त करने में जो बाधा पहुँचाता है, उसे समाप्त कर देना चाहिए, तभी सर्वहारा शासन-तंत्र की स्थापना हो सकेगी।

यद्यपि, नक्सलवाद का वास्तविक उद्देश्य सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक समानता स्थापित करना है, किन्तु अकारण हिंसा, अपराध एवं उग्रवाद अपनाने के कारण यह हमारे समाज के लिए एक बड़ी चुनौती एवं सुरक्षा की दृष्टि से एक सामयिक समस्या के रूप में उभरा है। नक्सलवाद को आतंकवाद का पर्याय कहना अनुचित है। वास्तव में, नक्सलवाद एक विचारात्मक, रानजीतिक व आर्थिक संघर्ष है, जो शासकवर्ग की राजसत्ता को उखाड़ फेंकना चाहता हैं ऐसे शासक वर्ग की राजसत्ता को जिसके मालिक देशी-विदेशी पूँजीपति, भू-स्वामी, ठेकेदार, दलाल, नौकरशाह हैं और जो बहुसंख्यक श्रमजीवी वर्ग पर शासन करते हैं।

वास्तविकता यह है कि गरीब, दलित, शोषित, आदिवासी, मजदूर और किसान ही नक्सलवाद के प्रमुख रूप से अनुयायी हैं। इनके साथ ही एक बड़ी संख्या में बुद्धिजीवी वर्ग भी इन्हीं के हक की लड़ाई में प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से भाग ले रहा है।

सत्ता एवं व्यवस्था से मतभेद के लिए बर्बरतापूर्ण कृत्य करना नक्सलवाद के मूल उद्देश्य के विरु(है। सशस्त्रा संघर्ष के माध्यम से राज्यसत्ता पर अधिकार करने के उद्देश्य स्वयं समाज, राज्य व राष्ट्र के अस्तित्व के लिए घातक है। हिंसा भले ही एक सीमा तक प्रभावी हो सकती है, लेकिन इस तरह के आतंक से राज्य व्यवस्था नहीं बदली जा सकती।

इनके संघर्ष का प्रमुख उद्देश्य इन लोगों की सत्ता में सहभागिता को सुनिश्चित करना है। इस कारण इनका उद्देश्य अच्छा है, किन्तु कार्यपद्धति गलत है, चूँकि इस आन्दोलन में हिंसा शामिल है। देश का इस समय जो परिदृश्य है, उसमें हिंसा, लूटपात एवं अराजकता के लिए कोई स्थान नहीं है। यह सफलता प्राप्त करने का एक सफल साधन भी नहीं कहा जा सकता है।

सत्ता एवं व्यवस्था से मतभेद के लिए बर्बरतापूर्ण कृत्य करना नक्सलवाद के मूल उद्देश्य के विरुद्ध है। सशस्त्र संघर्ष के माध्यम से राज्यसत्ता पर अधिकार करने के उद्देश्य स्वयं समाज, राज्य व राष्ट्र के अस्तित्व के लिए घातक है। हिंसा भले ही एक सीमा तक प्रभावी हो सकती है, लेकिन इस तरह के आतंक से राज्य व्यवस्था नहीं बदली जा सकती। राज शक्ति के सामने उनकी कोई बिसात भी नहीं हैं वंचितों के हितों की रक्षा के लिए बेहतर यह होगा कि नक्सली लोकतंत्र की सीमाओं में रहकर ही उन्हें संचालित करने का प्रयास करें। यह स्वयं उनके एवम् राष्ट्र के हित में होगा।

वर्त्तमान राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में नक्सलवादी आन्दोलन एक गम्भीर चुनौती के रूप में मौजूद है। इस आन्दोलन का आरम्भ पश्चिम बंगाल के सिलीगुड़ी के एक संभाग से हुआ जिसमें नक्सलबाड़ी, पंसीदेवा व खरीवाड़ी जैसे तीन उपक्षेत्र थे। इसमें संथाल, ओराव तथा राजवंशी जैसी जनजातियों के लोग रहते हैं। इसी नक्सलबाड़ी क्षेत्र के कारण ही इसका नाम नक्सलवाद पड़ा। नक्सबाड़ी गाँव में भू-स्वामियों के विरुद्ध भूमिहीन किसान व बेरोजगार युवकों ने अपना संघर्ष अभियान आरम्भ किया। इस संघर्ष को मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी (1964) सदस्य एवं जिला स्तरीय नेता चारू मजूमदार, कान्यू सान्याल व जंगल संथाल ने नेतृत्व प्रदान किया।

नक्सलवादी विचार को सैद्धान्तिक समर्थन अप्रैल 1969 में मिला, जब चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की नवीं कांग्रेस सम्पन्न हुई, जबकि माओं के विचार को मार्क्सवाद-लेनिनवाद की चरम सीमा कहा जाता था। इन्हीं विचारों का उपयोग करते हुए नक्सलवादी नेता चारू मजूमदार ने घोषणा की थी कि चीन का चेयरमैन हमारा चेयरमैन है। बंगाल से नक्सलवादी आन्दोलन भूमिहीन श्रमिकों की ओर से संघर्ष के रूप में बिहार, मध्य प्रदेश व आन्ध्र प्रदेश में फैला। स्वाधीन भारत के इतिहास में नक्सलवादी आन्दोलन मात्र एक किसान एवं भूमिहीन वर्ग की जागृति का ही एक आन्दोलन नहीं था, बल्कि भारतीय समाज के क्रांतिकारी परिवर्तन हेतु कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों ने चीन में सम्पन्न हुई कम्युनिस्ट क्रांति से सबक सीखते हुए लेनिनवाद, मार्क्सवाद और माओत्से तुंग विचारधारा को अपना प्रस्थान बिन्दु माना। सामन्तवाद को समाप्त करने हेतु साम्यवाद का यह संघर्ष उस समय उग्र हुआ, जब भूमिहीन किसान एवं उपेक्षित सामाजिक वर्ग ने इसका दामन थाम लिया।

राज्य प्रशासन द्वारा अभूतपूर्व दमन, दबाव एवं उत्पीड़न के बावजूद नक्सलवादी गतिविधियों का सिलसिला आज भी जारी है। नक्सलवाद अपने मूल स्थान पश्चिम बंगाल में तो पनप नहीं सका; किन्तु जहाँ नक्सलवादियों के छिपने एवं कूट योजना बनाने हेतु जंगल एवं घाटी क्षेत्र विशेष रूप से उपलब्ध है; वहाँ अधिक पनपा और आज भी इसका आतंक कुछ क्षेत्रों में फैला हुआ है जैसे - आन्ध्र प्रदेश, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, तमिलनाडु, उड़ीसा, बिहार, छत्तीसगढ़ एवं झारखंड आदि।

आज नक्सलवादी संगठनों के पास कुशल सूचना-तंत्र, विशेष प्रशिक्षण एवं अत्याधुनिक शस्त्र प्रणाली भी है। नक्सलवादी नाम से आमतौर पर प्रचलित कम्युनिस्ट क्रान्तिकारियों की यह धारा स्पष्ट तौर पर दो प्रवृत्तियों के बीच वर्तमान में विभाजित है। एक विशेष रूप से आन्ध्र प्रदेश, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, बिहार एवं उड़ीसा के आदिवासी बाहुल्य क्षेत्रों में सक्रिय 'पीपुल्स वार ग्रुप' जो एक नक्सलवाद की अराजकतावादी धारा है। दूसरी प्रवृत्ति जो संसदीय व गैर-संसदीय संघर्ष को अपना प्रस्थान बिन्दु मानती है; उसे भारत की कम्युनिष्ट पार्टी लिबरेशन यानि भाकपा (माले) लिबरेशन कहा जाता है। आन्ध्र प्रदेश के नक्सली नेता कोड़ापल्ली सीतारमैया ने तमिलनाडु के नक्सली नेता कोदंडरामन के साथ मिलकर 'पीपुल्स वार ग्रुप' का गठन किया।

ग्रामीण क्षेत्रों में अपनी विचारधारा से जोड़ने व ग्रुप को सशक्त बनाने के लिए पीपुल्स वार ग्रुप ने 'रैयत कुली

संघम' स्थापित किया, जबकि शहरों में सक्रियता बनाए रखने हेतु उन्होंने 'रेडिकल स्टूडेन्ट यूनियन' तथा 'रेडिकल यूथ लीग संगठन' तैनात किए। इसके साथ ही नागरिक अधिकार संगठन आन्ध्र प्रदेश 'सिविल लिबर्टी कमेटी' में उसने अपना शक्तिशाली आधार स्थापित कर लिया। सांस्कृतिक क्षेत्र में इस संगठन ने विप्लवी रचयिता संघम और जन-नाट्यमंडली का गठन करके लोकप्रियता की एक क्रांति उत्पन्न कर दी। इसके फलस्वरूप मध्यवर्गीय युवक एवं गरीब व उपेक्षित वर्ग विशेष रूप से इससे आकर्षित होने लगा और आन्ध्र प्रदेश के तेलंगाना क्षेत्र से लेकर महाराष्ट्र के गडचिरोली और चन्द्रपुर तक अपना विस्तार कर लिया। मध्य प्रदेश के बस्तर जिले में भी इसका प्रत्यक्ष प्रभाव परिलक्षित होने लगा। बिहार में विशेष रूप से सक्रिय पार्टी 'यूनिटी ग्रुप' का इस संगठन में विलय हो गया। पीपुल्स वार ग्रुप की तरह बिहार का एक नक्सलवादी गुट (माओवादी कम्युनिस्ट सेन्टर) एम.सी.सी. भी इस समय खास तौर से सक्रिय है।

पीपुल्स वार ग्रुप के तहत नक्सलवाद ने उत्पीड़न उन्मूलन के लिए खुले संगठनों की आड़ में अपने छापामार दलों को नियमित सेना की भाँति संरचनाओं में संगठित कर रखा है। श्रीलंका के एल.टी.टी.ई. छापामार दल की तरह भूमिगत बारुदी सुरंगे बिछाने में विशेष रूप से दक्षता प्राप्त कर रखी है। इसी कौशल के तहत ही आन्ध्र प्रदेश के मुख्यमंत्री चन्द्रबाबू नायडू पर हमला करके पीपुल्स वार ग्रुप ने राज्य सरकार और पुलिस प्रशासन को एक सीधी चुनौती दी। एक लम्बी अवधि से हथियार बन्द यह ग्रुप इस घटना के बाद चर्चित अवश्य हो गया है, किन्तु पीपुल्स वार ग्रुप एक कुशल नेतृत्व के अभाव में अपना अभी तक एक ठोस सामरिक आधार स्थापित नहीं कर पाया है और न ही अपने निर्धारित लक्ष्य को पा सका है। वैसे पीपुल्स वार ग्रुप विगत दो दशकों से सबसे बड़ी नक्सली शक्ति के रूप में उभरता हुआ नजर आ रहा है। इस ग्रुप ने अपने साथ झारखंड व बिहार में 'पार्टी यूनिटी' और दूसरों ग्रुपों के साथ विलय के बाद वहाँ भी एक बड़ी ताकत खड़ी कर ली है। बिहार का नक्सलवादी संगठन सीपीआई (एमएल) लिबरेशन भी इस राज्य की एक बड़ी आन्दोलनकारी शक्ति के रूप में स्थापित हो चुका है।

भारत के विभिन्न राज्यों में नक्सलवादी हिंसा की समस्या तीन दशक से भी अधिक समय से चली आ रही है, किन्तु इन समस्याओं को जड़ से उखाड़ फेंकने का सार्थक प्रयास अभी तक नहीं किया गया है जिससे यह चुनौती उत्पन्न हुई है। भूमि सुधार नियमों का बे-मन से अमल, आदिवासी जन कल्याण योजनाओं के लाभ से वंचित जर्जर आम जनता या फिर भोले-भाले आदिवासियों की जमीनों को औने-पौने दामों में खरीदने की गैर आदिवासियों की कोशिश, जबकि संविधान में इस तरह के क्रय-विक्रय पर पूरी तरह रोक का प्रावधान है। व्यवहार में आन्ध्र प्रदेश, मध्य प्रदेश व महाराष्ट्र राज्यों में भूमि हदबन्दी कानून के लागू होने के बावजूद फालतू जमीन भूमिहीनों को नहीं दी गई और कानून के संरक्षकों ने जमीन मालिकों का ही साथ दिया, यही हाल आदिवासी जन कल्याण योजनाओं का भी है, जहाँ बिचौलियों द्वारा तीन-तिकड़म से योजनाओं का नाममात्र लाभ ही जरूरतमंद आदिवासियों के हाथों तक जाने दिया तथा इनकी हकमारी की गई।

वस्तुत: नक्सली माफिया गिरोह की भाँति सिर्फ अपराध के लिए और अपराध के सहारे जीवित रहने वाले अपराधी नहीं है। इनकी एक विचारधारात्मक पृष्ठभूमि होती है और वे प्राय: किसी गैर आपराधिक संयुक्त लक्ष्य प्राप्ति हेतु ऐसे काम को अंजाम देते है। यह दूसरी बात है कि समय के साथ सोच-विचार और संयुक्त लक्ष्य जैसी बातें महत्वहीन हो गई है और इन नक्सलवादी गुटों के लिए हिंसा, आतंक, निजी वर्चस्व एवं प्रतिशोधात्मक कार्रवाइयाँ ही प्रमुख हो गई है।

वास्तव में, नक्सलवाद पनपने का एक प्रमुख कारण समाज में व्याप्त वर्गभेद के साथ गरीबी एवं बेरोजगारी भी है।

कुछ नक्सलवादी संगठन तो पूरी तरह से ही माफिया गिरोहों में तब्दील हो गए है, जिनका काम आतंक फैलाकर रकम वसूल करना रह गया है। इन संगठनों का सहारा लेकर बहुत से अपराधी इसमें घुस गए है। इस बात को भी नकारा नहीं जा सकता, जिनका एकमात्र उद्देश्य अराजकता पैदा करके धन कमाना होता है। इसी के बहाने ये लूट-पाट, अपहरण और अपराध करके पैसे की उगाही करते हैं। वे इस आन्दोलन की आड़ में अपना हित साधते हैं।

यहां इस तथ्य से भी इनकार नहीं किया जा सकता है कि धोखाधड़ी से आदिवासियों की जमीनों पर कब्जा करके उनके सामने रोजी-रोटी का विकराल सवाल खड़ा कर दिया गया है। वास्तव में, नक्सलवाद पनपने का एक प्रमुख कारण समाज में व्याप्त वर्गभेद के साथ गरीबी एवं बेरोजगारी भी है। अत: आवश्यक है कि भूमि सुधार कार्यक्रमों पर ईमानदारी और तेजी के साथ अमल हो, क्योंकि गरीब एवं बेरोजगार नवयुवकों को अतिवादी गुट बड़ी आसानी से गुमराह करते हैं और उन्हें सिखाते हैं कि प्रशासन, पुलिस व समाज के समृद्ध लोगों को अपना शत्रु समझे। इस प्रकार अराजकतावादी तत्व बेरोजगार युवकों को गुमराह कर हिंसा एवं आतंक की ओर प्रेरित करते हैं।

नक्सली अपने आपको क्रांतिकारी मानते हैं लेकिन वे स्वयं इस सवाल का जबाव नहीं दे सकते कि कुछ निर्दोष लोगों की हत्या करके वे लोग कौन सी क्रांति कर लेंगे। उन्हें यह भी नजर नहीं

आता है कि वे जिस पुलिस वालों की हत्या कर रहे हैं; वे भी समाज के गरीब तबकों से ही आते हैं और रोजी-रोटी के लिए नौकरी कर रहे हैं। जिन निर्दोष महिलाओं एवं बच्चों की हत्या हो रही है, उन्होंने किसका क्या बिगाड़ा है? नक्सलवादियों की नजर में वह हर व्यक्ति दुश्मन है जो लोकतांत्रिक व्यवस्था में विश्वास रखता है लेकिन उन्हें यह नहीं भूलना चाहिए कि हिंसा के द्वारा न तो क्रांति उत्पन्न कर सकेंगे और न ही अपने उद्देश्य की पूर्ति ही कर सकेंगे।

भारत में नक्सलियों की रणनीति उत्तर से दक्षिण तक एक मुक्त पट्टी के निर्माण की है जो भारतीय राज्यों के लिए घातक रोगग्रस्त रीढ़ बन सकती है। इनका उद्देश्य उत्तर में नेपाल के माओवादियों एवं दक्षिण में श्रीलंका के जाफना क्षेत्र में सक्रिय खूंखार लिट्टे के चीतों से सम्पर्क साधने का है ताकि इन्हें अस्त्र-शस्त्र एवं धन की आपूर्ति होती रहे। ये नक्सली तत्व एक जगह हिंसक वारदात को अंजाम देने के बाद राज्य की सरहद पार कर दूसरे राज्य में निरापद शरण स्थल पहुँचने की सहूलियत का लाभ उठाते हैं।

आज के सक्रिय नक्सलियों में तरह-तरह के चेहरे-मोहरे के लोग शामिल है। उनमें से कुछ का मकसद अपने जातीय हितों की रक्षा करना है तो कुछ को हथियार बंद दशहतगर्दी से फिरौती उगाही एवं रंगदारी का चस्का लग चुका है। लेवी के रूप में कर वसूली, पुलिस और सरकारी कर्मचारियों से दुश्मनी, खुद अपराध तय करना और खुद दण्ड निर्धारित करके दोषी का फैसला कर देना, इन लोगों की दिनचर्या बन गया है।

केन्द्रीय गृह मंत्रालय के अनुसार नक्सलवादियों एवं अन्य वामपंथी उग्रवाद से संबंधित घटनाओं की संख्या जम्मू-कश्मीर में हो रही आतंकवादी घटनाओं से भी अधिक हो गई है। 1 जनवरी 2006 और 30 अप्रैल 2006 के बीच हुई 466 आतंकवादी घटनाओं के मुकाबले उग्र वामपंथी घटनाओं से संबंधित 550 घटनाएँ सामने आयी थी। इसी समयावधि में 30 अप्रैल 2006 तक नक्सली हमलों में सुरक्षा कर्मचारियों सहित 281 लोग मारे गए थे जबकि इस दौरान आतंकवादी हमलों में 141 लोगों की हत्या हुई थी।

20 दिसम्बर, 2007 को नई दिल्ली में आन्तरिक सुरक्षा पर मुख्यमंत्रियों के सम्मेलन में प्रधानमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह ने नक्सलवादी उग्रवाद को देश की सुरक्षा के लिए सबसे बड़ी चुनौती बताते हुए इसका दृढ़ता से सफाया किए जाने की प्रतिबद्धता व्यक्त की तथा उन्होंने दो टूक शब्दों में कहा कि इसका सफाया होने तक शांति से नहीं बैठेंगे। इसी सम्मेलन में बिहार के मुख्यमंत्री श्री नीतीश कुमार ने कहा कि नक्सलवाद अब आतंकवाद के समान ही राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्या बन गया है। वास्तव में, प्रधानमंत्री और मुख्यमंत्री की बातों में दम है। आज नक्सली समस्या हमारे देश के लिए नासूर बन गयी है। नक्सलवाद ने अपने आन्दोलन के प्रभाव क्षेत्र में एक बड़े पैमाने पर छात्रों एवं नौजवानों को संगठित किया है। सामाजिक व्यवस्था बदलने की भावना से हजारों युवकों ने अपने अमूल्य जीवन की आहुति दे डाली है। जिन मुद्दों पर नक्सल आन्दोलन आरम्भ हुआ था, वे मुद्दे यानि जमीन के अधिकार, भूख का मर्म व दर्द आज भी जिन्दा है। हमारे समाज में असन्तोष व विक्षोभ के कारण बाकायदा बने हुए है। जब तक भूख उत्पीड़न, दबाव, दहशत, पीड़ा एवं रोजगार वंचित आबादी रहेगी तब तक असंतोष और अराजकता ऐसे आन्दोलनों को जन्म देती रहेगी। अतः इस समस्या के समाधान हेतु संतुलित तरीके से समन्वित प्रयास करने की आवश्यकता है। नक्सली तत्व हिंसा का रास्ता छोड़े, सम्बन्धित राज्य प्रशासन भूमि सुधारों को सत्यनिष्ठा से लागू करे, सामाजिक विषमता दूर करे और कल्याणकारी योजनाओं का लाभ उन सभी लोगों को प्राप्त करवाएं जो उसके असली हकदार हैं।

20 मार्च 2008 को केन्द्र सरकार ने निर्णय किया कि आतंकवादी, नक्सलवादी या उग्रवादी हमले में मारे जाने वाले निर्दोष लोगों के परिवार वालों की आर्थिक मदद के लिए 3-3 लाख रुपये मुआवजा राशि का प्रावधान किया जाएगा। आत्मसमर्पण करने वाले नक्सलियों को पुनर्वास योजना का लाभ दिया जाता है। बिहार सरकार के गृह विभाग के सूत्रों के अनुसार नक्सलियों के पुनर्वास और ईनामी अपराधियों की गिरफ्तारी पर राज्य सरकार ने चालू वित्तीय वर्ष (2007-08) में 31 लाख रूपये खर्च किए हैं तथा चालू वित्तीय वर्ष के अन्त तक 47 नक्सलियों ने आत्मसमर्पण किया है।

नक्सलवाद आन्दोलन एक जटिल एवं गम्भीर समस्या के रूप में मौजूद है। वे गरीबी और पिछड़ेपन का दंश आजादी के बाद से ही झेल रहे हैं।

वास्तव में, नक्सलवाद आन्दोलन एक जटिल एवं गम्भीर समस्या के रूप में मौजूद है। वे गरीबी और पिछड़ेपन का दंश आजादी के बाद से ही झेल रहे हैं। ऊपर से बेरोजगारी और उद्योग शून्यता आदि ने युवकों को गुमराह करने में कोई कसर नहीं छोड़ी है जिसका नतीजा यह हुआ कि नक्सली समस्या अब नासूर बन गयी है। लेकिन, इससे घबराने की जरूरत नहीं है। प्रभावित इलाकों की समस्याओं पर निष्पक्षता से विचार किया जाना चाहिए। ऐसा नहीं है कि संभावनाएं खत्म हो चुकी है। बस, सरकार योजनाबद्ध ढ़ंग से काम करे और हिंसा का दमन करने के साथ बुनियादी समस्याओं का भी हल खोजे।

संपर्क: रिसर्च स्कॉलर, राजनीति विज्ञान, बी०आर०ए० बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर।

❑❑❑

भारतीय संविधान में समानता का अधिकार

डा. कुमार बिनोद प्रभात एवं डा. राम संजीवन सिंह

यह स्वाभाविक है कि साम्राज्य का प्रत्येक वर्ग अपनी समस्याओं और आवश्यकताओं की दृष्टि से एक भिन्न इकाई होता है इसलिए प्रत्येक कानून सभी व्यक्तियों पर सामान्य रूप से लागू नहीं किया जा सकता। वास्तव में राज्य द्वारा बनाए जाने वाले कानून दो प्रकार के होते हैं। एक वे जो सभी व्यक्तियों पर सामान्य रूप से लागू किए जाते हैं और दूसरे वे जो समस्त व्यक्यियों पर लागू न होकर किसी वर्ग विशेष, व्यक्ति विशेष, स्थान विशेष आदि पर ही लागू किए जाते हैं।

जनतंत्र की शक्ति स्वतंत्रता और सहभागिता पर निर्भर करती है और समाजवाद की समानता पर। भारतीय संविधान जनतंत्र और समाजवाद दोनों के समन्वय को अपनाता है। संविधान की प्रस्तावना में दोनों का स्पष्ट रूप से यह समन्वय स्वीकार किया गया है। उसमें स्वतंत्रता, समानता, राष्ट्रीय एकता और अखण्डता तथा सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक न्याय के आदर्शों को अपनाया गया है। भारतीय सन्दर्भ में समानता, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तीनों ही क्षेत्रों में महत्वपूर्ण है अन्यथा समाजवाद के आदर्श को अथवा स्वतंत्र जनतंत्र को भी साकार नहीं किया जा सकता। भारतीय संविधान समानता के अधिकार पर सर्वप्रथम प्रस्तावना में बल देता है, तब मौलिक अधिकारों के अध्याय में। मौलिक अधिकारों के अध्याय में स्वतंत्रता पर समानता के पथ में विवेक संगत सीमाएँ लगाई गई हैं।

संविधान में अनुच्छेद 14 से 18 तक समानता के अधिकार का विस्तृत उल्लेख है जिसमें कानून के समक्ष समानता तथा कानून का संरक्षण; धर्म, जाति, लिंग अथवा जन्मस्थान के आधार पर भेदभाव न करना, सार्वजनिक सेवाओं में नागरिकों को समान अवसर देना, अस्पृश्यता का अंत और उपाधियों का अंत शामिल है।

अनुच्छेद 14 में कहा गया है कि 'भारत राज्य, क्षेत्र में किसी व्यक्ति को विधि के समक्ष समता के अथवा विधियों के समान संरक्षण से राज्य द्वारा वंचित नहीं किया जाएगा।' इससे दो परिणाम निकलते हैं। प्रथम यह कि संविधान 'विधि के शासन' को मान्यता देता है अर्थात् संविधान के अनुसार कोई भी व्यक्ति काननू से ऊपर नहीं है, सभी व्यक्ति देश के साधारण कानूनों के अधीन हैं। द्वितीय, राज्य व्यक्ति विशेष को कोई विशेषाधिकार न देगा। समानता के अधिकार का यह अर्थ कदापि नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति को हर मामले में समान बना दिया जाए क्योंकि ऐसा न तो स्वाभाविक है न ही व्यावहारिक। समानता का वास्तविक अर्थ है 'समानों में समानता' अर्थात् एक ही प्रकार की योगयता रखने वाले व्यक्तियों के बीच धर्म, जाति, लिंग जन्मस्थान आदि के आधार पर कोई भेदभाव न किया जाए।

यह स्वाभाविक है कि साम्राज्य का प्रत्येक वर्ग अपनी समस्याओं और आवश्यकताओं की दृष्टि से एक भिन्न इकाई होता है इसलिए प्रत्येक कानून सभी व्यक्तियों पर सामान्य रूप से लागू नहीं किया जा सकता। वास्तव में राज्य द्वारा बनाए जाने वाले कानून दो प्रकार के होते हैं। एक वे जो सभी व्यक्तियों पर सामान्य रूप से लागू किए जाते हैं और दूसरे वे जो समस्त व्यक्यियों पर लागू न होकर किसी वर्ग विशेष, व्यक्ति विशेष, स्थान विशेष आदि पर ही लागू किए जाते हैं। भारत का संविधान वर्ग विधायन की अनुमति नहीं देता लेकिन विधाययी वर्गीकरण को वैध मानता है। समाज के विभिन्न

वर्गों, व्यावसायिक समूहों एवं संस्थाओं, उदाहरणार्थ वकील, डॉक्टर, बीमा कम्पनी आदि श्रेणियों के लिए अलग अलग कानूनों की आवश्यकता होती है और इस प्रकार के वर्ग विधायन से अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण नहीं होता जब तक किसी वर्ग विशेष में आने वाले सभी व्यक्तियों के बीच कोई भेदभाव न किया जए।

अनुच्छेद 14 को लेकर सर्वोच्च न्यायालय के सामने अनेक मामले आते रहे हैं और उन मामलों में दिए गए निर्णयों ने अनेक महत्त्वपूर्ण संवैधानिक सिद्धान्तों को विकसित किया है।

अनुच्छेद 15 सामाजिक समता स्थापित करता है। इस अनुच्छेद में कहा गया है कि 'राज्य किसी नागरिक के विरुद्ध उसके धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान आदि इसमें से किसी आधार पर कोई विभेद नहीं करेगा,' और किसी भी व्यक्ति को सार्वजनकि स्थानों के प्रयोग आदि से इन आधारों पर नहीं रोका जा सकता। लेकिन अनुच्छेद 15(4) में यह कहा गया है कि समाज के पिछड़े हुए वर्गों के उत्थान के लिए उनहें विशेष सुविधाएँ दी जा सकती हैं। इस उपधारा को संविधान के प्रथम संशोधन द्वारा 1951 में जोड़ा गया था। इसकी आवश्यकता इस कारण हुई कि मद्रास सरकार (तमिलनाडु) ने एक सरकारी आदेश द्वारा पिछड़े वर्ग के लोगों को बढ़ावा देने के उद्देश्य से मद्रास के सभी मेडिकल कॉलेजों में प्रवेश के लिए विभिन्न जातियों के विद्यार्थियों का अनुपात निश्चित कर दिया। इस सरकारी आदेश के विरुद्ध चंपाकम में मद्रास उच्च न्यायालय में मुकदमा दायर किया गया। सरकार की ओर से यह तर्क दिया गया कि इस आदेश का उद्देश्य नीति निर्देशक तत्वों द्वारा निर्धारित किए गए आदर्शों को पूरा करना है। उच्च न्यायालय ने यह कहा कि सरकार का उक्त आदेश मूल अधिकारों के विरुद्ध है और नीति निर्देशक तत्व मूल अधिकारों को अभिभूत (ओवरराहड) नहीं कर सकते। सर्वोच्च न्यायालय ने मद्रास सरकार के उक्त सरकारी आदेश को असंवैधानिक घोषित किया। इस निर्णय के पश्चात् संविधान में संशोधन करके अनुछेद 15 में एक उपधारा जोड़ दी गई जिसके अनुसार पिछड़े वर्गों को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से राज्य की ओर से उन्हें विशेष सुविधाएँ दी जा सकती हैं और इसे समानता के अधिकार का अतिक्रमण समझा जाएगा।

समानता के आदर्श को साकार करने के लिए संविधान में न केवल नीति निर्देशक सिद्धान्तों की श्रेष्ठता स्वीकार की गई है बल्कि संविधान की प्रस्तावना में राज्य का लक्ष्य समाजवाद घोषित तक कर दिया गया है।

अनुच्छेद 16 सभी नागरिकों को राज्य के अधीन सेवाओं में नियुक्ति का समान अवसर देने की घोषणा करता है और सरकारी पदों पर नियुक्ति के मामले में राज्य द्वारा नागरिकों के बीच उनके धर्म, जाति, निवासस्थान आदि के आधार पर कोई भेदभाव करना वर्जित ठहराता है लेकिन इस अनुच्छेद में भी यह स्पष्ट कर दिया गया है कि संसद को किसी सेवा के लिए आवास योग्यता अथवा कोई अन्य अहर्ताएं निश्चित करने का अधिकार होगा और विभिन्न सेवाओं में पिछड़े वर्ग के लोगों के लिए स्थान सुरक्षित करने को समानता के सिद्धान्त का अतिक्रमण समझा जाएगा।

अनुच्छेद 17 भारतीय समाज मे पाई जाने वाली एक कुरीति अस्पृश्यता को असंवैधानिक घोषित करता है और छुआछूत करने वालों को दंडित करने की व्यवस्था करता है।

अनुच्छेद 18 सैनिक तथा शैक्षणिक उपाधियों को छोड़कर राज्य द्वारा उपाधियाँ देने पर प्रतिबंध लगाता है और यह भी व्यवस्था करता है कि सरकार की सम्मति के बिना कोई भी नागरिक विदेशों द्वारा दी जाने वाली उपाधि भी नहीं स्वीकार कर सकता। निस्संदेह समानता के अधिकार को सार्थक बनाने हेतु संविधान में अनेक संशोधन किए गए हैं। संविधान संशोधन के द्वारा ही जमींदारी का उन्मूलन किया गया था और 24वें संशोधन के माध्यम से संविधान की धारा 31 संशोधित हुई थी और यह व्यवस्था की गई थी कि सार्वजनकि दृष्टि से अधिग्रहीत सम्पति के अर्जन और उसके मुआवजे की राशि को न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकेगी।

समानता के आदर्श को साकार करने के लिए संविधान में न केवल नीति निर्देशक सिद्धान्तों की श्रेष्ठता स्वीकार की गई है बल्कि संविधान की प्रस्तावना में राज्य का लक्ष्य समाजवाद घोषित तक कर दिया गया है। इतना ही नहीं सरकार ने समाजवाद को सार्थक बनाने हेतु पिछड़े वर्गों एवं महिलाओं के उद्धार हेतु तथा गरीबी निवारण हेतु अनेकानेक कदम उठाए हैं। जैसे बैंकों का राष्ट्रीयकरण, 20 सूत्री कार्यक्रम का संचालन, पिछड़े वर्गों के लिए मंडल आयोग की अनुशंसाओं के अनुरूप आरक्षण का विस्तार आदि।

परन्तु समानता का आदर्श आज तक आदर्श बना हुआ है। कारण यह है कि राजनीतिक एवं प्रशासनिक कदाचार की व्याप्ति के कारण कुछ लोग अर्थात् धनी वर्ग और धनी बनते जा रहे हैं और गरीब और गरीब। देश का विकास जरूर हुआ है और हो भी रहा है लेकिन इस विकास का लाभ मुट्ठी भर लोगों को ही प्राप्त हो रहा है। भूमंडलीकरण, उदारीकरण, निजीकरण, बाजारीकरण और उपभोक्ता संस्कृति के बोलबाले में समानता के आदर्श का ऊँट किस करवट बैठेगा - खुदा जाने। आम आदमी की समझ बनती है कि इन नीतियों से समानता का आदर्श बहुत दूर का सपना बनने वाला है।

संपर्कः • भारतीय स्टेट बैंक
जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली।

• बाघमारा कॉलेज, बाघमारा, झारखण्ड

❑❑❑

Sociology

Self Concept and Educational Aspiration of Scheduled Caste Students

Dr. Paresh Kumar
Dr. Dhananjay Kumar Singh
Dr. Vijay Pratap Kumar

Self concept is the concept or perception of an individual about himself either in his own eyes or in the eyes of others. Self-concept plays very important role in personality pattern.

Abstract

The study was conducted on sample of 100 Intermediate level college students stemming from schedule caste and non-scheduled castes and from rural and urban residential areas with an eye to investigate the effect of socio-cultural deprivation and residential area as self concept and educational aspiration. In the total sample of 100 students there were 50 students from scheduled castes (30 Urban and 20 Rural) and 50 students from non-scheduled castes- higher castes-(25 Urban and 25 Rural). Administration of Rastogi's (1979) 'Self Concept Scale' revealed that non S.C. students have significantly higher self concept and educational aspiration of only S.C. Students. Residential area significantly influences self-concept and educational aspiration of only S.C. Students. There exists significant positive correlation between self concept and educational aspiration of students.

Introduction

The scheduled castes have been the most unprivileged and marginalized group of the Hindu Society. From the Vedic period they have been treated as untouchables and unapproachable. Sociological and anthropological studies (Mandalbaum, 1970, Dubey, 1974) demonstrate that there have been wide gaps and varieties along socio-cultural experience of scheduled castes and non-scheduled castes (upper castes). Inspite of different legislative, political, economic and educational measures taken by the government for the upliftment of scheduled castes, they are still poorly nourished and live along vast disparities of residential conditions and educational experiences. This state of affairs is more apparent in rural areas.

Self concept is the concept or perception of an individual about himself either in his own eyes or in the eyes of others. Self-concept plays very important role in personality pattern. Breekenridge and Vincent (1965) have referred to it as the core or centre of gravity of the personality pattern. Cattell (1957) has called it as the keystone of personality. The concept of self has three components-the perceptual, the conceptual and the attitudinal. It takes many forms-the basic, the transitory, the social and the ideal. Self concept determines an individual's characteristic way thinking, aspiring and behaving.

Aspiration according to English and English (1962), is an ardent desire to accomplish what the sets out to do. According to Eysenck (1972) aspiration is the possible goal an individual sets himself for his performance. Educational aspiration is the academic or educational goal set by an individual or student by himself for himself

to achieve in stipulated period of time. Educational aspiration along with self-concept is influenced by an individual's earlier experiences and socio-cultural surroundings. As such the main objective of the investigation is to trace out the effects of socio-cultural disadvantage and variation of residential area on self-concept and educational aspiration of college level students.

In the light of above objectives the following hypotheses are formulated:

1. There will be significant difference between S.C. and non-S.C. groups on self-concept.
2. There will be significant difference between S.C. and non-S.C. groups on educational aspiration.
3. There will be significant difference between rural and urban groups on self-concept.
4. There will be significant difference between rural and urban groups on educational aspiration.
5. There will be significant positive correlation between self concept and educational aspiration.

Methodology

(a) **Sample :** The sample consisted of 50 SC and 50 Non-SC (higher caste) students studying in Intermediate Classes of constituent colleges in Chapra (Saran) district. In SC group there were 30 students from urban areas and 20 students from rural areas. In non-SC group there were 25 students from urban areas and 25 students from rural areas. All subjects were of male sex and their age ranged from 17 to 19 years.

(b) **Research Tools :** 'Self-concept Scale' constructed and standardized by Rastogi. Dr. Mukta Rani (1979) was used to measure self concept and 'Educational Aspiration Scale' constructed and standardized by Sexena, Dr. S.K. (1984) was used to measure educational aspiration of subjects. Self-concept scale consists of 51 items having total range of scores from 51 to 255. Educational aspiration scale consists of 8 multiple choice items having total range of scores from 0 to 72. Higher score denotes higher self-concept or educational aspiration of subjects. A self-made 'Personal Information Inventory' was used to classify subjects on caste, residence and other variables.

The data obtained has been put to suitable statistical analysis. Means, S. Ds., 't' ratio and product moment correlations have been calculated.

Result and iscussion

The analysis of self-concept scores of scheduled caste (SC) and non-scheduled caste (Non-SC or higher castes) (Table-1) indicates that non-SC students have scored significantly higher than SC students signifying significantly higher self-concept. The obtained 't' ratio is highly significant. It proves that socio-cultural deprivation suffered by SC students have not been counterbalanced by recent endeavours to improve their status. Although higher differences have been obtained between rural SC and rural non-SC and lower differences have been obtained between urban SC and urban.

It proves that socio-cultural deprivation suffered by SC students have not been counterbalanced by recent endeavours to improve their status. Although higher differences have been obtained between rural SC and rural non-SC and lower differences have been obtained between urban SC and urban.

Table-1: Showing means, S. Ds. And 't' ration of self-concept score.

Group	N	Mean	S.D.	df.	t ratio	Level of Significance
SC	50	140.30	33.240938	98	4.9786334	-01
Non SC	50	171.10	28.436596			
SC-Rural	20	116.00	26.167728	48	5.2137989	-01
SC-Urban	30	156.50	27.00			
Non SC-Rural	25	163.90	27.954248	48	1.8132703	NS
Non SC-Urban	25	178.30	27.058455			
SC-Rural	20	116.00	26.167728	43	5.7832921	-01
Non SC-Rural	25	163.90	27.954248			
SC-Urban	30	156.50	27.00	53	2.9446915	-01
Non SC-Urban	25	178.30	27.058455			

Table-2: Showing means, S.Ds. and 't' ratios of Educational Aspiration Scores

Group	N	Mean	S.D.	df.	t ratio	Level of Significance
SC	50	33.20	16.216041	98	3.3200837	-01
Non SC	50	42.60	11.740528			
SC-Rural	20	20.75	11.344051	48	5.8040293	-01
SC-Urban	30	41.50	13.425721			
Non SC-Rural	25	40.00	11.74734	48	1.5733515	NS
Non SC-Urban	25	45.20	11.14271			
SC-Rural	20	20.75	11.344051	43	5.4397145	-01
Non SC-Rural	25	40.00	11.74734			
SC-Urban	30	41.50	13.425721	53	1.1064925	NS
Non SC-Urban	25	45.20	11.14271			

Non-SC students yet differences on both counts are statistically significant. In both cases non-SC students have displayed higher self-concept than SC students. These findings support the findings of Victoria (1983), Rao (1986) and Bharsakle et. al. (1994) and do not support the findings of Agnihotri (1990) and Sen and Saxena (1997).

Analysis of educational aspiration scores (Table-2) of SC and Non-SC students denotes that non-SC students have significantly higher educational aspiration than SC students because the obtained 't' ratio between the two groups is statistically significant and higher.

Table-3: Showing Person 'r' between self-concept and Educational Aspiration Scores

Group	df	r	Direction	Significance level
SC	48	.9777447	Positive	.01
Non SC	48	.9352404	Positive	.01
SC-Rural	18	.9891424	Positive	.01
SC-Urban	28	.9558766	Positive	.01
Non-SC-Rural	23	.9638567	Positive	.01
Non-SC-Urban	23	.9066124	Positive	.01

Mean score has been obtained by non-SC students than SC students not only as a whole but also in rural sample. But in urban group SC and non-SC students do not differ significantly. It appears that man-media exposure accompanied by competitive environment in urban areas has contributed to emergence of higher educational aspirations in both SC and non-SC students. Consequently, they have displayed somewhat equal level of educational aspiration in urban areas. The findings related to educational aspiration of SC and non-SC urban students support the findings of Singh and Prasad (1997).

It has been proved by the comparison of rural and urban students of SC and non-SC groups that urbanization increases not only educational aspiration of scheduled caste students but also improves their self-concept because urban SC students have showed significantly higher educational aspiration and self-concept than rural SC students. But non-SC rural and urban students differ significantly neither on self-concept nor on educational aspiration. It appears that non-SC students whether living in rural areas or in urban areas equally enjoy benefits of mass exposure and modernization.

Correlations analysis of self-concept scores and educational aspiration scores denotes that self-concept scores of all groups and subgroups are significantly positively correlated to educational aspiration scores. It proves that higher educational aspiration and higher self-concept go side by side.

On the basis of above results and discussion the following conclusions can be drawn:

1. Socio-cultural disadvantage costs its effect on self-concept and educational aspiration.
2. Non-SC students have significantly higher self-concept and educational aspiration than SC students.
3. SC urban students have significantly higher self-concept and educational aspiration than their rural counterpart.
4. Non-SC urban students do not differ significantly on self-concept and educational aspiration from their rural counterparts.
5. There exists significant positive correlation between self-concept and educational aspiration.

References

Agnihotri, Dr. A. (1990) : Self-concept, Anxiety, Power Value and Socio-economic status-Relationship: Indian Psychological Review, 35 (11-12), Pp. 19-23.

Bharsakle, Dr. S.; Srivastava, Dr. R.P. and Prakash, Dr. J. (1994) : A comparative study of the self-image of Scheduled caste and non-scheduled caste school students in relation to their Sociometric Status: Indian Psychological Review, 43, 26-35.

Breckenridge, E.M. and Vincent, E.L. (1965): 'Child Development', 5th Edition, Pliladelphia; Saunders.

Cattle, R.B. (1957) : 'Personality and Motivation : Structure and Measurement' Tarrytown-on-Hudson, N.Y.; World.

Dubey, S.C. (1974): 'Contemporary India and its Modernisation', New Delhi, Vikas.

English, H.B. and English, A.C. (1962): 'A comprehensive Dictionary of Psychological and Psycho analytical Terms', David MC kay Company Inc. New York.

Eysenck, H.J. et. al (192): 'Encycloedia of Psychology' Fontana Collins, P.84.

Mandelbaum, D.C. (190): 'Society in India' Bombay Popular.

Rao, V. (1986) : 'A comparative study of Self-acceptance, Anxiety, Intelligence and Achievement of SC and non-SC high school students; Ind. Psy. Rev. 30(3), 18-25.

Rastogi, Dr. Mukta Rani (1989): 'Self-concept scale'. Agra Psychological Research Cell, Agra.

Saxena, Dr. S.K. (1984): 'Educational Aspiration Scale' Agra Psychological Research Cell, Agra.

Sen, A.K. and Saxena, Parul (1997): 'Self-concept among upper and scheduled caste school students'. Praachi Journal of Psycho-cultural Dimensions, 13(2), Pp 69-74.

Singh, R.K. and Prasad, D. (1997): 'Aspiration of Scheduled and Non-Scheduled caste students'. Behaviorometric, 14(1-2), P.33-35.

Victoria, R. et al (1983) : 'Development of Ethnic Self-concept among Pre-adolescents Journal of genetic Psychology, 142(1), 67-3.

States of India Series

India is a federation of states and union territories. As of now, there are 28 states and 7 union territories in the country, all these states have made tremendous progress in almost every sphere since 1947, when the nation had attained freedom. People of one state have little authentic knowledge about other states. This situation, in some cases, creates problems and difficulties with no ready solution at hand. The books cover life and people under various heads—Land and the People, Education, History, Geography, Economy, Polity, Tourism, etc. This is the best example of 'knowledge in a nutshell'.

To Order Please Write to :

Pushpanjali Prakashan

L-46, Gali No. 5, Shivaji Marg, Kartar Nagar, Delhi-110053
Phone : 9811710900

Transition from Socialism to Bhudan

Dr. Vidya Bhushan Srivastawa

The demand of time was 'economic democracy' and 'economic freedom.' There was, for him, no difference between 'economic freedom' and socialism. He refuted the view that socialism, as an ideology could be 'Foreign' to India. If capitalism could be Indian, why not socialism?

When Jayprakash returned to India from America, he came here as a Marxist. In one of his speeches at Madras on 27th July 1934, of which the then government took serious note, J.P. declared: "I want to present to bring about complete independence of India, not merely in name, but complete independence for the majority of the Indian people, that is, for the worker, for the peasant, for the poor of this country, must accept socialism as his basic principle of thought and action. The second thesis that if we want that our great movement for national independence should go on, should advance-then today we must accept the socialist programme"[1]. He further pointed out that political democracy based on adult franchise, representative system, and private ownership of the means of production was failing everywhere. The demand of time was 'economic democracy' and 'economic freedom.' There was, for him, no difference between 'economic freedom' and socialism.[2] He refuted the view that socialism, as an ideology could be 'Foreign' to India. If capitalism could be Indian, why not socialism?

Again, during that phase of Indian struggle for freedom, J.P. was a bitter critic of Gandhian and Congress method of non-violence. He considered it a blunder and urged the people to develop a mass movement comprising the working class and the peasants against the government."[3] The above view of J.P. proves him a pure socialist since 1934.

To him, communism was the best political ideology till 1934 because he possessed a soft corner for it. But soon he was disappointed to see the policy making of the communist party of India that it was simply a tool of Moscow.[4] And so, he shifted his loyalty from Marxism to Gandhism in 1940 at Ramgarh Congress, though his thesis was not accepted by the Congress. Later on he was arrested and put into the Lahore Fort Jail. During that period we find a radical change in J.P's thought. To see the activities of Stalin in USSR he was much disappointed. A small passage from his Diary shows his changing attitude,

> *"Not only economically should the village become a unit (of) a large whole, but also politically. It appears to me that if our political life is to be rehabilitated, the village must become once again a self governing unit in a very real sense of the term."*[5]

The above passage may be taken as the forerunner of his thought currents that provoked J.P. later to come forward, with a strong plea for the reconstruction of the Indian policy and a communitarian way of life. Now here a hereafter J.P. leaned himself towards Gandhiji and his ideals, but still conconciously.

In 1946 he published an article entitled "My Picture of Socialism" wherein he declared that he still believed in Marxism but in a changed way. According to him, "Socialist Movement in India must evolves its own picture of socialism in the light of Marxian thought.[6] It was just a departure from what he mentioned in *Why Socialism*. He further says, "No intelligent person today will doubt that the next stage in the evolution of human society in socialism. But will there be alike agreement on the question, what is socialism? Different theories of socialism and different pictures of a socialist society have been presented from time to time by socialist thinkers and workers.[7]

The evolution of J.P. socialist ideology can be divided into three broad phases: The Marxist phase between 1929 to 1946, the phase of democratic socialism between 1946 to 1954, and the Gandhian phase or Sarvodaya phase since then. In his democratic socialist approach he was of the view that ownership of industry should not be in the hand of the state or owner of the industry. He advocated the ownership of municipality or community. He observed,

The evolution of J.P. socialist ideology can be divided into three broad phases: The Marxist phase between 1929 to 1946, the phase of democratic socialism between 1946 to 1954, and the Gandhian phase or Sarvodaya phase since then. In his democratic socialist approach he was of the view that ownership of industry should not be in the hand of the state or owner of the industry.

> *I do not believe it is possible to find employment for many years to come for our surplus population, which would swell further at least by twenty percent by the revolution in agriculture, in large industry alone; secondly, because I desire to prevent the state from acquiring the role monopoly in industry and employment. The state under socialism threatens as in Russia, far from withering away, to become an all-powerful tyrant maintaining a stranglehold over the entire body of citizens.*[8]

Revising the Marxian concept of socialism he further holds, "There can be no socialism without democracy. It is a common mistake these days to think that there must be the dictatorship of the proletariat in a socialist state. This is against the teachings of Marx. The dicatatorship of the proletariat has a place only in the transitional period from capitalism to socialism. And in this period too it is not inevitable in every case."[9] So, he was the first political thinker of the world who was adopted democratic methodology as the tool to establish socialism. He defined socialism in terms of economic and political democracy. In his other article entitled "The Transition to Socialism", he marked his ideal as 'democratic socialism'.[10]

With this ideal J.P. along with his followers jumped into general election of 1952 and have been defeated badly. *The Indian National Congress* came into power with a major victory. It was a great setback for J.P. and socialist-workers because they diluted Marxism into Gandhism to see the popularity of Gandhi. But even such attempt was unable to make them victorious. In India, mass people knew Gandhi

and Congress one. They were unable to differ between Congress and Gandhi. They were wholly unable to know how socialism and Gandhism were the same. But it was also a wrong finding of socialist leaders. Even J.P. was unable to find out the secret political alliance of the Congress party. It was purely based on religion and caste policy and not on Gandhism. The Indian Muslims were afraid of recent partition of Indian and it was natural for them to take shelter with ruling party i.e. Congress. Harijans were bound to go with Congress, as Gandhiji was Godfather for them. Rest people were a few upper castes who wanted to seek power. All those alliances covered nearly 37% votes. And party tickets were distributed among those candidates who had the majority caste support in the concerning constituency. The socialist workers were working beyond caste, creed and culture. So, they were unable to defeat Congress.

Even after the general election and merger of KMPP with socialist party the leaders of PSP were of the view that Gandhism should be propagated as their basic principle. And J.P. himself was trying to prove a true Gandhian. So, in 1954 he left the PSP and joined Sarvodaya and Bhudan at Gaya, because, at that time this organization was considered to be the true Gandhian in its thought and action. Through this organization J.P. was trying to a direct contact with the masses. In a letter to Nehru J.P. wrote,

> *We have all been deeply influenced by Gandhiji. I do not mind saying that I have been rediscovering him lately and reunderstanding him ... I do not find today Gandhiji's dynamism and incessant quest towards his ultimate values except in Vinoba, who was produced a remarkably Gandhian method for the solution of the country's biggest problem- the land problem."*[11]

In this way J.P. started to work for people's socialism instead of state socialism. He never escaped even for a moment from his national responsibility of social and economic change of the Indian people. Such view was always in his mind as he has mentioned in his book *Meri Vichar Yatra*. "In 1954 I left the power politics, not because I was tired or became pessimist, but it was known to me that only politics was not sufficient to solve the social and economic problems of India. Question, which was originated by politics, was in my mind till date. I was not satisfied. I was always in search of an alternative."[12] And only the social and economic problems of the Indian people were in the centre of J.P's. social and political activities. To solve this problem he shifted from socialism to democratic socialism and lastly Bhudan. So, it was the people of India that compelled J.P. to be Sarvodayee, not J.P. himself.

Reference

1. File No. 36/3/34 Poll., Govt. of India, Home Dept., p.3.
2. Ibid., p.4.
3. Ibid., p.9.
4. J.P. Narayan, *From Socialism to Sarvodaya.*
5. J.P., *Inside Lahore Fort*, p.3.
6. J.P. *Socialism, Sarvodaya and Democracy*, p.41.
7. Ibid., p.40.
8. Ibid., p.46.
9. Ibid., p.48.
10. Ibid., p.9.
11. Ibid., p.80.
12. *Meri Vichar Yatra*, p.11.

The Indian Muslims were afraid of recent partition of Indian and it was natural for them to take shelter with ruling party i.e. Congress. Harijans were bound to go with Congress, as Gandhiji was Godfather for them. Rest people were a few upper castes who wanted to seek power. All those alliances covered nearly 37% votes.

Indian Economy

Industrial Development and Growth of Small Sector in Bihar during the Period 1951 & 1990

Dr. Antara Kumari

Industrial Area Hazipur is the most important unit of North Bihar Industrial Area Development Authority with most potentiality of development in which 56.6% are in running State but working of the Industrial Area Hajipur is far from satisfactory.

ABSTRACT

Bihar has industrially a glorious past, a dark present and bright future. It is pioneer in industrial development programmes during congress govt. in July 1937, when Dr. Syed. Mahmood was industry Minister. For the development of small scale village industry, industrial estate and then Industrial Area Development Authorities were established in different parts of the State. The fifth autonomous North Bihar industrial Area Development Authority was established at Muzaffarpur in Aug. 1975. The Industrial Area Hajipur is governed and regulated by North Bihar Industrial Area Development Authority Muzaffarpur.

Industrial Area Hazipur is the most important unit of North Bihar Industrial Area Development Authority with most potentiality of development in which 56.6% are in running State but working of the Industrial Area Hajipur is far from satisfactory. It is neither serving the interest of the new entrepreneur nor the interest of the consumer. It needs new orientation.

There is a moderate degree of positive correlation between size of project outlay and volume of employment potentiality. So, in the interest of creating more employment opportunities large size of project outlay may be recommended Again, For, The proper balanced and rapid development of the State, regular, adequate and definite power supply is quite essential. Viability of unit is related to power supply. Again it is proved statistically through chi-square test that the anti-entrepreneurial attitude of the bureaucratic personnel is responsible for the growing sickness to Industrial units under the estate.

There is high degree of positive co-efficient of association between the skill entrepreneur and the viability of economic units. Again there is a sufficient degree of negative co-efficient of association between political background of the entrepreneur and economic viability of units established. It means that entrepreneurs with established. It means that entrepreneurs with political background are responsible for increasing number of sick units to a large extent. Again there is negative co-efficient of association between indigenous entrepreneurs and economic viability at the units. It needs to a very unfortunately conclution that for the economic viability of the working of industrial units outside entrepreneurs should be welcomed in large proportion but the conclusion is against the very objective of creation of positive correlation between the maximum employment opportunities to the local people.

Again, we find a very high argue of positive correlation between the time large in financing from loans and working capital to the ent**repreneurs and the percentage o**f sicking unit of

the Industrial Area Hajipur, There high degree of positive correlate between the increasing time lag in release of term loans and the working capital are the one hand and escalation in the cost of production on the other. Again, there is significant level of association between social stratification of the units and the viability of the units, on the age of second generation of economic reforms the industrial estate has to correct itself to face new challenges or it is bound to be closed for ever.

The following suggestions may prove worth while in boosting up industrial activities especially in the small scale sector in Bihar and especially in the district of Vaishali.

Finance being the life blood for any industrial undertaking, should be made available to small scale entire premiers for different purpose and on easy terms. The agencies engaged in providing finance to this sector of industry should formulate and implement policies Conducive to the promotion, Growth and revival of small industrial units so that dream of the policy matters are fulfilled, in this regard.

A

1. State Government which provides long term financial assistance under State and aid to Industries Act should increase its budgets allocation for the Sector.
2. Finance should be made available for working capital also.
3. Subsidy to traditional artisans shared be made available for working capital loan also.
4. Delay in sanction and disbursement of loan be minised so that finance reaches in the entrepreneurs in time.
5. There is need for procedure simplification and this should be done at the earliest.
6. It should inculcate a sense of participation in this administrative machinery so that entrepreneurs are treated and given advice as friends and not as client seeking favour.
7. Since the state governments various schemes have a large element of subsidization from central government which can not become a permanent mechanism for meeting a financial needs of small scale industries sooner and institutional mechanism is brought into service it is better.

B

1. Commercial Banks in Bihar should utilise at least the deposit mobilized in this poor state, if not more in providing finance to and secondary sectors of this state.
2. They should liberalized their policy towards providing term finance to viable scale industrial units.
3. The should scrutinise project reports jointly with other financial institution at the time of considering term loans themselves, So that working can be realised in time.
4. They should make funds available on proper valuation of assets created by the borrowers.
5. They should keep small scale units free from credit squeeze on the general direction of R.B.I.
6. They should the rate of interest charges and commission to reasonable level to enable the small scale entrepreneurs to avail the facilities provided.

C

1. State financial corporation should formulate a simple procedure of sanctioning loans instead to present trick with, cumber some and complex procedure.
2. Procedure delay in project appraisal and sanction should be avoided as for as possible.
3. It should also give the gap between amount applied for and amount sanctioned.
4. It should also give more alternation towards reducing the gap, between amount sanctioned and amount actually disbursed as it infect upon the efficiency and intention of the authorities managing the corporation.
5. It should reduce its exordial rate of interest as it adversely affects the servicing capacity of the borrowers.
6. It should change its rules so as to provide equity loan to small scale industries.
7. It should stop the practice of debating seed money advance from soft loan

facilities given entrepreneurs.

8. It should fix a time limit for report compliance from BITCO and other consultants regarding the feasibility of the project.

D

1. National small industries corporation should grant more power to its Patna office so that small scale entrepreneurs are not forced to run to Calcutta office for getting their financial assistance of large amount sanctioned for purchase of machinery.
2. Performance report of Patna office be available periodically by central office to fix the responsibility of poor performance.
3. It should try to in from and enable the small scale entrepreneurs of Bihar to secure from the Central Government store purchase Agencies either to not availled of.

Goods are manufactured for market. In case small scale industries, the following suggestions of accepted and implemented may assure the entrepreneur that goods produced by then will get ready market.

E

1. There should be a centralized agency to purchase goods produced by small scale sector and the country under its own brand name or trade mark.
2. The work of the above centralised agency for the time being may be entrusted to Bihar State small scale Industries Corporation at least for a few selected items.
3. The price performance rules of the State Government should more rigidly be enforced.
4. Initiative should be taken on Govt. level to ensure timely payment of bills for the purchase made from small scale units.
5. Government should ensure that orders for supplies are placed well before the close of financial year to entrepreneurs and to plug the scope for malpractices.

Initiative should be taken on Govt. level to ensure timely payment of bills for the purchase made from small scale units.

Industrial estate at Hajipur does not present a very satisfactory picture of development. There are a number of defects in their planning lay out allocation, allocation and working. Still it cannot be denied that they have creased on environment favourable for industrial development. We find today even small towns and villages having industries, which could perhaps have never been established but for the industrial estates in all developing countries including India. Industrial estates are powerful instruments of regional industrial development, India, with its social welfare policy and teeming millions wanting employment cannot do without an effective programme of industrial estate. Hence what is required is to remove the defect in the present policies and working of the estates so that they can be developed on a sound economic social and administrative base.

With the partition of Bihar in to two parts – Bihar and Jharkhand all mineral resources have gone into Jharkhand. In the rest of Bihar the viability of Mineral based heavy industries is limited. Only small sector is the hope. This hope may be realized into reality only when industrial estates and areas like Hajipur industrial area should be revived by immediate steps for the Solution of problems facing the industrial estates.

References

1. North Bihar Industrial Area Development Authority, Muzaffarpur.
2. Interview with entrepreneurs of industrial estate, Hajipur.
3. Based upon personal interview from the new entrepreneurs.
4. Based upon the survey reports personal interview with the president of entrepreneur organization of industrial estate Hajipur.
5. Based upon sample survey report.

Add: Assistant Professor, Dept. of Economics, Bokaro Steel City College, Bokaro

Commerce

Concept : "The Management of Manpower Planning"

Dr. Dilip Kumar Sahu

Of all the resources of an organization, the assets are probably the most critical and difficult to manage. These are the most critical because these are the only active resources at its disposal, and the effective use of all other resources directly depends on efficient utilization of these. Rensis Linkert rightly observes: "All the activities of any enterprise are initiated and determined by the persons who make up that institution. Plants, offices, computers, automated equipment, and all else that a modern firm uses are unproductive except for human effort and direction. Human binges designer order the equipment; they decide where and how to use computers; they modernise the technology employed; they secure the capital needed and decide on the accounting and physical procedures to be used. Every aspect of a firm's activities is determined by the competence, motivation and general effectiveness of its human organization."[1]

The human resources, however, are difficult to manage. It is because human behavior is highly unpredictable. It differs not only from individual to individual but often on the part of the same individual different point of time. In spite of biological and cultural similarities, human beings not only differ in their appearance but also in their capabilities based on their respective background, training and experience; in their personality characteristic as reflected in their sensitivities, intelligence, initiative, interest, commitment and motivation: and in their susceptibility to peer and group pressures, which account for difference in their attitude, behavior and or performance. Emotions however, play more important a part in affecting attitude, behavior and/or performance of the same person from on point of time to another. Thus, the success of any venture today depends on due recognition of human potential, capabilities and aspirations, and proper utilisation of human traits and emotions.

In spite of more than hundred years of commercialization and industrialization in India. We continue to muster a negative stereotype of workers. It is usually attributed to traditional background, culture and values of our workers which, it is said, corroborates Mcgregor's Theory 'X' assumptions about the nature of man. However, it is too pessimistic an outlook towards human resources even in a country like ours. The average human being is neither dependent, passive or irresponsible nor he always needs to be coerced, controlled, directed, or threatened with punishment to contribute towards organizational goals.

If we observe the total life of the working people, Theory 'X' assumption may often, seem to be correct on the job. However, an altogether different pattern

The human resources, however, are difficult to manage. It is because human behavior is highly unpredictable. It differs not only from individual to individual but often on the part of the same individual different point of time.

of behaviour is sometimes noticeable outside the job which creates a serious doubt about the above assumption and their applicability to Indian workers. They work hard in acquiring skills or knowledge that at their hobbies. They work hard in the service of the causes to which they are committed – in civic or political or religious or social or humanitarian organization'[2]. Again, the same people who are considered by nature dependent, lacking responsibility and desiring to be led on the job have been found 'not only to accept but seek responsibility in a variety of organized activities away from work'.

Since independence, more-over, there has been a drastic change in workers' profile in India, particularly in the organized sector, specially in their consciousness and commitment. It has been greatly facilitated and expedited by significant structural changes in the employment market, on the one hand, and very rapid technological advances, on the other. Thus, industrial and commercial workers in our country are no longer a mass of illiterate and ignorant people connected with the soil ready to take up any job on any terms and conditions of employment. In many cases we now have third or even fourth generation of workers in modern employment sector who are fully committed to the industrial way of life and conscious of their role and rights. They are in no mood to be exploited by any quarters, be it employers or even trade union leaders. The growing consciousness and aspirations of Indian workers are well reflected in their rising educational and skill levels and increasing social mobility– horizontal and vertical.

With the growing consciousness and aspirations of Indian workers, the very context of work has undergone a significant change. It's no more being regarded as a mere means to an end but also an end in itself. While facilitating satisfaction of lower level needs, viz., physiological / economic, security and social, it provides people status, prestige, self-respect and a sense of accomplishment, satisfaction and personal worth. Thus, work is both a means of livelihood and a way of life, and therefore people cannot be satisfied by economic rewards alone, irrespective of their personality and emotional needs have to be adequately taken care of at or through work. 'They like to feel important and to have their work recognized as important. They like to feel secure and independent in their relations with their superiors. Moreover, they like to express their feelings. They like to be listened to and have their feelings and point of view taken into account. They like to be consulted about and to participate in the making of any changes which will affect them personally'.[3] Thus today people are not interested in just any work, as a means of livelihood, but in work which is recognizable, challenging and meaningful.

Although much water has flown under the bridges during all these years, there seems to be little change in our attitude towards our human assets. Did we ever think of the reasons for discrepancy in workers' requisite and manifest behavior on the job? It has been rightly said that the employers get the type of response from workers which they deserve in terms of their own approach towards them. Prof. McGregor rightly observes that 'when a manager asserts, no the basis of his experience and observation, that most people are by nature either indifferent of antagonistic towards the goals of the industrial enterprises, there is more than a small possibility that he may be confusing cause and effects'[4]. Although often the passive / irresponsible workers' behavior may be a disfunction of obsolete job design, but sometimes it may also be a result of myopic personnel policies and practices. With regard to routine mass production jobs. Herbert Hicks writes: 'Organization, in striving toward their objectives, has been greatly influence by the results of specialization, standardization and mass production techniques. Skilled jobs have been sub-divided into many smaller parts; individual performance on these minute tasks has been programmed; initiative and discretion have been from organization members. Pressures through the use of rewards and the threat of punishment has been used to achieve ends. In the process many individuals have come to feel alienated from their work. Pressure have bred counter pressures and subordinates have reacted in ways detrimental to organizational efficiency. To achieve the desired behavior, management has had to impose still more restrictions. A vicious circle has been set up, and the assumptions of Theory 'X' seem to have been confirmed. Management has regarded employees as indolent, without ambition, and resistant to change and reponsibility'[5].

However, the example of a short- sighted approach by the employees towards workers can be multiplied from the Indian situation. It's an open secret that a

large segment of workers in our enterprise continue to be employed against casual or temporary jobs for years and sometime for life. It may be with a view to save on organization cost of benefits of continuous employment; but sometimes the unscrupulous managers and/or their touts exploit the helpless through corrupt practices. Again, cases are not uncommon in which incentive schemes have been designed and introduced to speed up work without even proportional benefits to workers out of productivity gains. Similarly, unfair labour practices and victimization of workers are resorted to often by-passing the requirements of law. These obsolete/manipulative/ corrupt/unfair techniques in dealing with workers have created a sense of desperation' intentions are misinterpreted, accounting for their negative attitude and behavior. Truly speaking by adopting myopic approach and practices towards the human resources, the employers are unconsciously harming their own interests. They have failed to optimally use people's capabilities and potential. Again, they are likely to lose their public image as their attitude and behavior are incompatible with the changing social perceptions. There has been a drastic change in the concept of industry in recent years. It is no longer regarded as a venture of the owners of capital alone. It is now recognized as a co-operative undertaking between the capital and labour. Commenting on the relative role of capital and labour in modern production activities, Bhagwati, J. Observes "In fact, the owners of capital bear only a only a limited financial risk and otherwise contribute nothing to production while labour

It is now recognized as a co-operative undertaking between the capital and labour. Commenting on the relative role of capital and labour in modern production activities.

contributes a major share of the product. While the former invest only a part of their moneys, the labour invest their sweat and toil, in fact their life itself. The workers, therefore, have a special place in a socialist pattern of society. They are not mere vendors of toil; they are not a marketable commodity to be purchased by owners of capital. They are producers of wealth as much as capital – nay, very much more. They supply labour without which capital would be impotent and they are, at the least, equal partners with capital in the enterprises"[5]

With recognition of significance of human resource in effective performance of any enterprises, and with changing industrial landscape accepting workers as equal partners, what we need are an introspection of our own attitude and behavior, a review of our strategy towards human resources; and adoption of a pragmatic approach towards these. The optimization of human resource calls for a conducive managerial climate based on human relations. Recognizing human dignity, competence and potential on the one hand, and accepting compatibility of individual and group goals to the organizational objectives, on the other, human relations facilitate "integration of people into a work situation that motivates them to work together productively, co-operatively and with economic, psychological and social satisfactions"[8] by taking care of their needs, emotions and aspirations. Emphasing the role of a conducive managerial climate Mc Gregor write: 'Management must seek to create conditions (an organizational environment) such that members of the organization at all levels can best achieve their own goals by directing their efforts towards the goals of the organization"[9]

The necessary constitute of such a strategy, however are sincerity of purpose, Theory 'Y' assumptions about the nature of man and supportive leadership. In order to the prevailing distrust amongst workers due to indiscriminate use of manipulative technique by the employers in the past, the management today has to prove its sincerity through actions and deeds. One of the means successfully used in Japan and by the Japanees enterprise in the West has been dismantling of economic and social barriers between the people by removing status and social distinctions. The compartmentalized work places have yielded place to open-plan arrangements where every one including the M.D. works in the same plan area. Again Sempai-Kohai relationship (Senior-Junior) is replacing the boss-subordinate

relationship, thus simultaneously taking care of both functional and emotional needs of workers. Similarly, multi-level canteens have been converted into single restaurants, every one queuing at a same counter without any distinction and sitting wherever on likes.

This strategy also calls for a change in the basis managerial assumptions about the nature of man. McGregor's Theory 'assumptions are more compatible to this approach. With the expansion of the employment sector and growing commitment of people to the industrial way of life, as already pointed out., work has assumed a new significance it their lives. Although in view of low standard of life, the financial rewards do remain important, but these alone are not enough to bring about their optimum contribution to the productive efforts. Given proper environment taking care of their personality and emotional needs, they not only accept but seek responsibility. The Government's exploration of the possibilities to their capabilities and potential. These assumptions to yield best results, nevertheless, must be accompanied by supportive leadership. According to Likert, 'the leadership and other processes in the organizations must be such as to ensure a maximum probability that all interactions and in all relationship within the organization, each member in the light of his background, values, desires and expectations, will view the experience as supportive, and one which builds and maintains his sense of personal worth.[10]

However, a mere change in organizational climate/philosophy is not enough to yield the desired results. Planned efforts should be made to develop human relations skills in managers at all levels helping them to adopt a more balanced to practice these skills capitalizing on human dignity, capability and potential through healthy inter-personal relations - formal and informal, positive rewards- extrinsic and intrinsic, and greater people's involvement in terms of exercise of discretion, decision-making and use of ingenuity.

Thus, given proper environment, recognition and support, the human assets are sure to yield the best results by taking initiative, assuming responsibility and optimizing resources.

India in particular and South Asia generally has the classic case of infinite natural resources coupled with vast human resources, being led to a sorry mess owing to utter neglect, incompetence and lack of efficient strategies of management of collective enterprises. We as of now, have around half the population under poverty line which means in human terms malnutrition, disease, incapacity to acquire literacy or vocational skills, so much so that we have 'vast army of unemployed labour' multiplying by the hour, and yet we do not have necessary trained workers, technicians and innovators who could attend to urgent jobs and vocations essential to industrialize our primitive economy? Why? We have the population pressure, we have vast illiterate mass of weaker sections (women, tribal population, scheduled castes, landless labourers, urban slum-dwellers and other lumpens) and yet we have chronic school leaves during last forty years who are a Menace to peace, development or orderly conduct of civil society-A permanent arsenal of anti-social saboteurs, smugglers, rampant, violent, chauvinistic, parochial agitators sometimes terrorists – they are not exported to us from abroad by some malefic antagonist but it is our blind policies that have nurtured these. Let this be noted. Our top elite of 7-10 percent both in Urban metropolitan areas and Kulaks (capitalist farmers, feudal lords) in countryside have almost usurped more than 6 percent of total assets, income and wealth. While the bottom 50 percent do not get more than 15 percent of these. Remaining 35 percent to 40 percent also are disadvantaged (it includes the middle class, professions, services, self-employed jobbers, petty traders and other belonging to public employment). The tertiary sector also consumes a great deal and is a collaborator of the elites lest it be itself pushed down to ever increasing segment of the lower half of this despised human spectrum. These as usual, psychologically are the most motivated defenders of this inequitable order. A structure of enormous disparities – this special of disparities only incenses youth by the idea of revolution of idle politically popular media and Rhetoric of rising expectations, consolidation of atomized communities and markets of India, also owing to rapid transport as well as revolution of information or vast consumerism of post-industrial society of Northern Hemisphere. The dreary prospects of being forced to remain under fed, unemployed and rejected in the first generation literates makes for the ideal material for disruption and alienation of the people

against their own destiny. This is the diabolical consequence of our planned development over last 40 years.

Our youth in their present condition with their perceptions of humiliating alienations and frustrations must make every sane Indian lose one heart-beat or two. About this, let there be no doubt or caviling with figures, statistics and learned subterfuges that hired academics indulge in as command performances for their patrons and elite mafias or to maintain their learned egos or some other pettish leash of clannish interests. However, situation is grim and is bound to grow grisly if no attempts are made to set it right.

Surely 'Right to work' has been promised. How it is going to be realized? But before I attend to the theoretical limitations of our planning concepts or their implementations let me for once, clearly assert the distressing fact of eroding corruption, seepage and wasteful abuse of our scarce resource position, owing to our endemic condition of 'soft-state' (see Gunnar Myrdal's, The Asian Drama) which has been endorsed by our last Prime Minister himself publicly gloating that out of every Rupee the state spends eighty five paise go to line the private pockets and only fifteen paise may reach the target works. This is the tragic credibility gap or crisis of confidence that our people in their own power to shape their own life, have experienced. It is well known and all of us should have moments of our own private pricks of conscience at that.

This is also to be noted that our capacities to regulate adhere and steer the planning process have been less than expected even from the low standards of efficiency of any of the other soft states in the developing countries. Pilferage, shortages, seepages, slippages, dislocations, imbalances have endlessly distorted our collective enterprise and despite of our pretensions of having very high competence in scientific skills of statistics, computer sciences and operation researches we have totally failed in applications of even the well rehearsed exercises in these fields (inventories, stocks, losses, etc.) of monitoring surveillance, regulation or feed-backing information to make corrective measures for detected deviations from the growth path adopted and pursued by our planning system. This sordid paradox of our boast to dour importing twenty-first century by installing super-computers on credit when compared with our above failures to cope with seasonal gluts and scarcities of industrial and agricultural demands, activities or yields even show our insincere pomposity and cosmetic approach to this whole task of working for the elimination of poverty, destitution or unemployment. We are false within. Along with this no effective summation of efficiencies of different Macro-sub-systems making the complementarily of Marco-system, or of adhering to the universally felt priorities of the targets and objectives, has been possible. With such result we are left to wonder if we have any capacity to regulate or monitor even the basic frame of our political-economy, despite of endless claims of econometric expertise and social sciences. The seminar could be an occasion to do the necessary scrutiny in this respect. Lastly, it is a fact that a witches Sabbath has been brewing over the last few decades arising out of collusion amongst planners, mystifies, media men, administrators, economic criminals, and politicians –the so-called leaders of public opinion who mask the real issues and throw up false pseudo-issues such as of rural-urban duality, regional autonomy, linguistic or tribal parochialism, modernity and primitivism and other. The poor restitutes and the bulk of the unemployed are remorselessly used as cannon fodder by these mischievous agents for their nefarious purposes to get fight against their own fellow oppressed of the sub-continent, to serve the conditions perpetuating their own continued dehumanized brutalization. No mobilization to date including done by the tribal ethnic and religious groups of ultras, radicals has been successful to recognize the need for this sort of fusion of the oppressed. As far as those working for the establishment have merely perfected alternative lingoes needed to enlist the disastrous fratricidal terrorism all along the sub-continent from South, East,

The Asian Drama) which has been endorsed by our last Prime Minister himself publicly gloating that out of every Rupee the state spends eighty five paise go to line the private pockets and only fifteen paise may reach the target works.

North, West and Centre to keep them in the saddle over the state-power.

We have first of all to take a brief review of the basic model we have adopted after independence under the leadership of Jawaharlal Nehru, Mahalanobis, Pitambar Pant, and a large number of Keynesian economists of the West and Soviet experts from Russia.

Briefly, the Model was based on the general assumption that the only correct planning mechanism is one in which the scarce capital must be put through the latest 'state of art' most capital, intensive efficient technology giving the highest out which would be ploughed back in chain to have quick multiplier outputs, that would also promote collateral, spillover and induced demands with forward and ancillary linkages, and would eventually support the weak and the disadvantaged best with opportunities and openings in the long-run that which would never be realised in case the capital scarce investments were thinly distributed otherwise which would end up in only giving current wages and augmented consumption damaging the over-all chance of massive increase of welfare, employment and standards of living in subsequent stages of economic growth. Once we have created a wide base and the infra-structure for self-sustained growth, it would be relatively easy to wipe out all back-log of unemployment and poverty as planned. Once this happens we shall have turned corner, and made secure the sound foundations of prosperous and progressively socialist India

In this connection how easily these theoretical assumptions could be extremely naive is amply illustrated by a brief Appendix that Amartya Sen has added to his famous work on "choice of technique" on the impossibility of "Amber Charkha" as an economic means to remove destitution even under the chronic conditions of disguised under-employment (see, Se, op. cit., Cambridge, 1961). He argued there, that the value added by a day's labour on such work would yield less than the minimum need of his sustenance; but he seems to have neglected that the households do have to feed these dependents, and latter cannot be allowed and do not in fact starve to death so even if this work does not make for their full livelihood it does to a point reduce their parasitic existence. As a practical relief measure it is better than down right dole or relief works which will need higher supervisory costs in terms of mobilization. This is the appraisal of the various hardship removal programmes undertaken as welfare- measures out of state subsidies. That the cost of running the programme in terms of its own infrastructure is very adverse and wasteful. While the supposed accrual of benefits to the target population is negligible. Most of the resources pledged for welfare do not reach their expected targets. Soon both evaluations such as Teeth ad Trail ratio and cost-benefit evaluation it seems to be counter-productive and reveals substantial diversions of resources for providing buildings, transport and administrative expenses. The hope that the surpluses created by massive investments will be uniformly in time made to percolate to less favoured regions has turned red belied. As a case in point. The green revolution in Punjab has turned red in eighties only because the kulak lobby of capitalist farmers has usurped power and reneged their obligation to support onward agricultural transformation of irrigation starving arid Haryana or Rajsthan by obfuscating this unworthy defence of vested interests and crying for the fundamental freedom of primordial Sikh Kaum, Panth and its folk-lore. A regressive activism deliberately sported to defend and seek favourable distribution of all scarce public investments subsidies credits. Rebates or any other material inputs. This leads naturally to a climate of competitive rancour an parochial primordial tribalism that might obliterate civility for good for all times. We have not been able to bring about progressive secularization of culture as expected by liberal democratic visionaries, after first partition. We see to be on the brink of a total Balkanisation of this sub-continent. I do not think except for the Maliks. Choudhries, Kulaks, Patels, Jotedars, Rajas and Jagirdars most of the poor rank and file of the marginal peasantry and the rest of the working classes would gain anything rather may be crushed into medieval conditions of total uncivility leading finally by their mindless medieval knights to be manipulated by the multinational monopolies. As such a Nation-State in the South Asia is the imperative Human cry of the poor and I think the shall be crushed by the very elite manipulations of the Neo-Imperialists and the so-called modernisers of 21st century Adventists, on one side and the rising power of middle prosperous kulaks who seek autarchy and nurse medieval delusions a la Khomeni and Saudis on the other. The fate of India's[6] vast reserve of course

in between there are some lotus-eating, romantic, Gandhians Ecologists, anti-science, anthropologists innocent of the vast power of the Global system with its mind boggling manipulators who indulge in tactical economic exploitation of the World Market loading it against the weaker economies and simpler societies like ours. They wish to let Indian society to continue to be plural, autarchic as an anthropological residue or to last as a museum piece, even if it means, exposure and vulnerability to European capitalism or medieval tyranny such as Christian church or Islamic fundamentalism or Hindu chanvinism may entail. Gandhi, in some sense appears more relevant to many after the Perestroika.

In my very limited understanding of these problems, I still think that given the amorphous disorganization as noted earlier and crystallized unassimilated pluralities emerging now, a master central planning is beyond limits of my feasible collective enterprise by super-computers high technology and privatization or by means of a worker's Socialist Party by administrative allocations of collective productive capabilities submerging our very diverse groups, races, tribes, cultures and communities. Yet, they have to realize either they hand together or they shall be hanged separately. Pity is that, while the sub-continental physical proximity has almost collapsed now, into a neighbourhood, but owing to our insularities and walls of mutual distrust rendered by the climate of scarcity and higher rising unemployment even among the educated people, so much so that recognition of the essential complementarily of the sub-continental economy, polity culture and civilizational effort has not stayed even at the level it stood under foreign masters despite their best efforts to divide us. It is certainly much lower, now. Some hope that this is perhaps a victory of Democratic grass-roots against the tyranny of the blind fiats of the inhuman state. (see Lokayatan-Plank-Rajani Kothari). Without holding any brief for any absolutist polity, I emphatically repudiate any birth of Justice by giving powers to our Panchayati Raj, with all their encapsuled caste, clan kin and ethnic relics of all the different stages of man's through history simultaneously juxtaposed to today's disparities with cash-nexus, pseudo-modernity and urban consumerism on the top. As such exogenous information and technology should be transferred, too.

I do not subscribe to the accepted game-plan of our rulers to speak two lingos at the same time the basic duality one for XXIst century and its enthusiasts and the other for the glories of India Tribalism. This has gone on already long enough it has created a very dangerous divide and duality in India society- I think we have to created hundreds of nodal points in the countryside with power, roads, polytechniques, schools, organization of cottage industries with electronic simulations dovetailing of labour credits and freely available information and market co-operation and distribution or standard exchange mechanisms. This is to enable many people who can contribute to real resources who are not allowed opportunities at present because of lack or co-ordination of these elements that all can produce these commodities that people very much need, but do not get because of and unless the umpteen constraints of production and lack of marketing initiative, are removed.

We must try to minimise the superfluous and redundant cost accretions as the conventional factory mode needs lots of stocks, idle materials and credits which can be got over if only production and consumers could create direct rapport.

We must try to minimise the superfluous and redundant cost accretions as the conventional factory mode needs lots of stocks, idle materials and credits which can be got over if only production and consumers could create direct rapport. This is partly Gandhian idea of Bread labour and making sense of creating mutual reciprocity in the hinterland, with the appropriate technology.

The disguised unemployment has to be removed by diversifying avenues in the agrarian sector. The polytechiques and vocational extensional centres of the Agriculture Universities must utilize their communicational networks to prompt, monitor and disseminate the technology kit for rural industries and fan out to initiate workers' education in labour-based diversified jobs such as dairying, cattle breeding, wood crafts, designing, repair manufacture and improvement of agricultural implements, that could

absorb rural youth, in augmenting workshop giving rural incomes and save costs to the farmers.

I am not convinced that the bureaucratization can be the right answer to such a vast job, that requires the right motivation that can be sustained only if the agency has genuine stakes and the requisite informational and capital inputs to make its programme win acceptance. It has to be based on the local needs and realistic estimates of their feasibility. A lot of analysis of risk involved must be done in advance to let the target audience be convinced of its worth whileness. It is of course called for the training at the grass-roots in modern electronic media, capsules and analysis of possible new materials could be initiated as rural research, at extension training centres, and at polytechniques and the progressive banking of the rising rural savings can be the source of organizing such quick new high yielding diversifications of products. Of course, the pilot projects in co-operative sector to date have not particularly succeeded but with the inelastic scope of investment in many regions in conventional agricultural having been reached Rural rich themselves could be convinced to initiate, and prompt to make collateral cottage enterprises that could eliminate stagnation in their rural incomes, (in food-processing) and transform the restrictive composition of rural settlements. It may initiate better urbanization, than large scale migration of unemployed people to existing town and cities that are already choked and face breakdown. The new microbial technology and the non-traditional sources of energy could be utilized to open new areas of co-operation in far-flung tribal and inaccessible regions.

It has to be based on the local needs and realistic estimates of their feasibility. A lot of analysis of risk involved must be done in advance to let the target audience be convinced of its worth whileness.

The basic point that must be underlined here is that we should not look upon human resource as sheer supply of labour as a commodity as has been the sheet-anchor of orthodox economic planning. This creates the duality of the planners and oppressed. The only approach that is both scientific and likely to succeed is the one that would take suffering and the dehumanization of the unemployed worker as the first and primary object of elimination, as it is felt by him in the first person singular. I am convinced if this approach is adopted no technical and resource crunch can make us fail. This is according to me what forms the core approach to the humane solution of the 'right to work', we must completely abandon the approach that works on optimizing return on the lead investment of capital as the sole index and strategy of planned interventions. On the contrary, it would do our kind of society a lot of good if the ideal of total employment in the shortest time is adopted as the sole brief single objective and thereafter alternative investment cohorts and technologies are chosen after appraisal in terms of other existing indices. There is mystification of Gross National Product, the sole macro-economic indicator of a society's growth. Our skills in designing more resilient and perceptive mathematical instruments if attended to by imaginative econometricians could easily demonstrate that this aggregate scalar magnitude (G.N.P) without a principal of ensuring equitable distribution is only a statistical fiction such a should not and cannot be witch any serious socialist, or the revolutionary who stakes his time, life and all his energies to eliminate inequalities and sufferings of his peers- the wretched of the earth for some the sole purpose of their existence.

To end this non-academic note, I can do no better than emphasis Tagore's faith in man that we should remember 'that every little baby who is born has only one mouth but two tiny hands, too, that can enrich our lives provided we give them a chance…….'

India is a vast country with equally vast population, second only to China. According to official admission about 300 million people in India are below what is called, the poverty line which is equivalent to, according to the Planning Commission, an annual income of Rs. 7,980 for rural and Rs. 9,120 for urban areas. Although the life of expectancy has increased during the years after independence, infant mortality is still very high-95 per 1000 births. Out of very 10 illiterates in the world, three are in India. Further, every 7 out of 10 illiterate are women. About 25 percent of girls are illiterate.

Despite constitutional directive in respect of compulsory primary education, the drop-out rate in schools ranged between 47 and 77 percent during 1985-86, according to latest information available. During the twenty years after the adoption of Constitution, the number of illiterate persons in the country had risen from 300 million in 1951 to 387 million in 1971. According to 1981 census, the literacy rate continues to be only 36 percent. School dropouts in the case of Scheduled Tribes are as much as 87.2 percent and for Scheduled Castes 79 percent. According are to reply given in Rajya Sabhan on August 9, 1989, studies of various bodies to reply ascertain the cause for this cited poor socio- economic conditions, demands of work on the child to supplement family income, lake of paternal support, particularly in the case of first generation learners, and curriculum not being related to local needs being the principal reasons for this high dropout rate. India has also got one of the largest child labour population in the world, some 40 million mostly engaged in hazardous jobs.

The Rajya Sabha was told on July 26, 1989, that there were nearly one a half lakh one-teacher primary schools in the country as on September 30,1986. According to NCERT survey, nearly 38 per cent of the sections of primary schools did not have black boards. As may as 111 primary health centres are functioning without doctors. On the other hand, of the Rajya Sabha was told in reply to a question that owing to financial constraints the programme of opening of more Navodaya Vidyalayas has been slowed down.

This is just only a brief overview of the preface to human resource development. Available work force in India exceeds 250 million, both urban and rural with increasing accretion every year. The organized sector employs only about 26 million, in public, private and governmental sector. About 115 million workers male and female, in rural as well as Urban areas are engaged in what is called informal sector or the unorganized sector, of whom 70 million are agriculture workers. The rest are in small industries, in construction, Bidi-making, handloom and other household industries. The so-called sunrise industries are a recent phenomenon set up particularly in export processing zones. The vast millions engaged in the unorganized sector lack collective strength and consequently suffer from low wages, lack of rights and benefits. Even legislations are hardly enforced due to lack of will and inadequate enforcement machinery. A large section of these workers, particularly women are either illiterate or lack training facilities to upgrade their skill. Even in the organized sector, of the 34.4 lakhs women employees, more than half were employed as in 1987-88 in community, social and personal services.

Despite growth of the economy and industrial production, in the recent period the employment growth rate has steadily declined. The growth rate had fallen from 3.5 per cent annum to only 1.3 percent. The private sector recorded a negative growth rate. Chronic industrial sickness effecting both traditional and other industries, in varying degrees, belonging both to small and large and medium sectors, their number having already exceeded 2 lakh, is also instrumental in shrinking existing job opportunities.

On the one hand, employment growth rate is declining in both public and private sectors, those who were on jobs are being through out of job due to industrial sickness and closures. Introduction of modern technology in various industries by means of collaboration agreements has boosted industrial production but has failed to expand commensurate job potential.

While the number of job-seekers in the live register of employment exchanges doubled in the 80's to about 32 million in July 1989, only one percent of the total job-seekers found employment in 1987 and 1988.

Every five year plan has left increasing backlog of job-seekers. Number of job-seekers which was 1.56 million at the end of second plan increased to 2.27 million at the end of third plan 8.15 million at the end of fourth plan, 23.91 million at he end of seventh plan also will certainly leave behind a larger backlog of job-seekers. At the end of 1987, the total number of graduates, post-graduates, Engineering graduates on the live register of employment exchanges leapt to 16.7 million compared to 1.5 million in 1980. At the same time, India has the third largest pool of scientific man powers in the world.

The report of the Government of India's Economic Advisory Council released in December 1989 has indicated that the pattern of development pursued hitherto has catered to a minuscule section of the population and has failed to generate adequate employment so as to absorb the growing labour force both in Urban and Rural areas. "World labour report 1989" of the ILO has pointed out the

increase in the casualisation of labour in Asia and India. The report further stated that in many medium and large-scale enterprises, a growing share of the workload is being entrusted to workers who are either engaged on short-term contracts or who are not employed directly the enterprise even though their place of work might be on its premises.

Human resource development is not an academic pursuit, nor isolated from the strategy and pattern of economic development. The two are interrelated-one subserves other. It cannot be gainsaid that despite diversified industrial development during the planning period, the spectacular growth of public sector in building up infrastructure, growth in agricultural sector, the vast human resources, urban and rural go largely wasted and are hardly utilized. Unemployment goes hand in hand with underemployment which in turn act as a brake to further development of the economy due to lack of purchasing power of lager section of the population and shrinking domestic market.

Unlike the developed countries of Europe whose nagging problem is of ageing population, due to long span of life and abnormally low birth rate, India is a country of able bodied young persons, men and women, Urban and rural. It is indeed a challenging task for any planning commission or planners as a matter of that, to set the pattern of development in a manner as to generate gainful employment for utilization for common good of this vast manpower.

In this age of rapid technological development, training is of vital requirement not only for the individual but also for dynamic needs of society.

> ***Human resource development is not an academic pursuit, nor isolated from the strategy and pattern of economic development. The two are interrelated-one subserves other.***

According to a Soviet study (India-spotlight on population by prof. Victor petrov), one-third of India's labour potential is not being used at all. The study further points out that most of the working people in India are employed at enterprises where the machines and equipment are out-of- date by today's standards and labour productivity remains low. The professor observes that the proportion of specialists in India is close to 1.5 percent of the total employed against five to eight percent in developed countries.

In the Indian context of vast unutilized and underutilized manpower introduction of new modern technology should not be aimed at reduction or replacement of manpower, but for more rapid expansion and diversification of productive forces in order to accelerate economic development. It is admitted on all hands that our education system has largely been churning out generalists and failed to fulfill the needs of the economy and that of the student community to play their intellectual role in the development of the economy. Undoubtedly, education system not excluding adult literacy is required to be overhauled in terms of the strategy and pattern of development. Human resource development is a total concept, not confined only to education or vocational training, but development of individual and collective in matters of health, shelter, all round well-being.

In the sphere of industry, industrial democracy, employer-employee relationship and involvement and participation of workers in the decision-making process of industry or enterprise are vital factors of human resource development. Human Resource Development should not be confined to short-run narrow sectional interests, but should have wider perspective of social development towards a progressive direction for the benefit of our people at large.

1. Rensis Likert, Human Organisation, McGraw-Hill, 1967.pI
2. Douglas McGregor, The Professional Manager, McGraw-Hill, 1967.p-12.
3. F.J. Rothlisberger, A "New Look" for Management, in Human Elements in Administration, Ed.Harry R.Knudson, 1963, p.33.
4. Douglas McGregor, op cit., p.15
5. Herbt G.Hicks, The Management of Organisation, McGraw-Hill, 1967.p.249.
6. National Textile Workers' Union v. P.R. Ramakrishnan (1983-ILLJ45).
7. Yet to be enforced.
8. Keith Davis, The Dynamics of Organisational Behaviour, McGraw-Hill, 1967.p.5.
9. Douglas McGregor, Ibid.
10. Rensis Likert, New Patterns in Management, McGraw-Hill, 1961.p.103.

Add : Assistant Professor, Dept. of Commerce, S.B. College, Chandil

"THE CONFLUENCE OF INDIAN CULTURE AND ISLAM"

Dr. Moon Arif Rahman

The Bhakti Movement and Sufism provide the best example of the interaction between them. The currents of Islamic Sufism and Hindu Bhakti combined into a mighty stream, which fertilized old desolate tracts and changed the face of the country.

In this vast land of ours have dwelt, since the time immemorial peoples of different races and cultures and into this land entered races form beyond the mountains and seas. But the old inhabitants and the new comers, after they had struggled and fought, eventually forgot their enemities, made peace and joined in their common endeavour. Each epoch of such a fusion was marked by an efflorescence of culture in which the different elements were so cunningly mixed as to make one whole. The Socio-economic continuity is the distinguishing is the feature of Indian history. The unity of her history, her ideals and of her humanity is the living spirit of India.

India had commercial as well as socio-cultural relationship with the west Asian countries and Europe long before the rise of Islam, the Arabs served as the connecting link between India and the outside world in this regard. After their conversion to Islam the Arabs cast their covetous eyes on India. The Muslim conquest of India was very slow. It took them six centuries to reach the southern confines of India. The invaders came to India in three stages. The first invasion look place in A.D. 712, led by Muhammad bin Qasim. The Arabs were not destined to raise Islam to be a political force in India1. The second set of invasion occured at the end of the tenth and the beginning of the eleventh century, led by Subuktigin and Mahmud of Ghazni who belonged to a Turkish family. The final stage, which led to the establishment of the Muslim rule in India, consisted of the invasion of Muhammad Gori two hundred years later. Islam and Hinduism, which appeared at the start, so antithetical, at last intermingled, each one stirred the profoundest depth of the other and, form their synthesis, grew the religion of Bhakti and Taswwuf the religion of love and devotion, which swept the hearts of millions following different religions and sects of India. The establishment of Delhi Sultanate led to a prolonged and deeper contact between Hinduism and Islam. Both religions were influenced by each other and mutual exchange of ideas and thoughts took place. The Bhakti Movement and Sufism provide the best example of the interaction between them. The currents of Islamic Sufism and Hindu Bhakti combined into a mighty stream, which fertilized old desolate tracts and changed the face of the country. It was in this spirit of India which achieved apparently an impossible task of reconciling the puritanical severity and awe-inspiring transcendence of Islam into the luxuriant fullness and abundance of forms and the intuitive perception of their immanent unity with Hinduism, and created those monuments of architecture and painting, music and poetry and love-inspired religion which are the heritage of Indian history during the middle ages.

It was through the teaching of Sufis that Islam found entrance into Hindu hearts. They fraternized with Hindu ascetics and gurus; and each learnt to respect the other's religion faith and life. It was realized by the Muslim rulers on the whole, that in the condition existing in India, the Islamic laws promulgated for the Arab society of Madina were not strictly applicable. The form of society, which the prophet of Islam envisaged and in which the state was the Church and the Church the state, did not last more than thirty years. The Abbasids who came after Umaiyads shed the simple Arab manners, surrounded themselves with pomp and pelf, and introduced in their counts the etiquette, ceremony and splendor of ancient Iran2. Prof. M. Habib says: "It is true that Muslim kings, mostly of foreign extraction, sat on Indian thrones for some six or seven centuries. But they could only do so because their enthronement was not the enthronement of Music rule"; had it been otherwise they could not have lasted for a single generation[3].

Thus medieval Indian society as it stood in the beginning of the eighteenth century on the eve of the establishment of the British rule had come into existence as a result of five hundred years of continuous interaction and synthesis between Hinduism and Islam, or the two socio-cultural streams. What precise role was played by Islam in moulding the composition and character of the Indian society is a matter of conjecture; one thing is however certain that the sum-total of Islamic contribution to the medieval Indian society was but a fraction of the whole. India, the land of teeming millions, with one of the richest and the most conservative cultural treasure troves of the world, was like mighty ocean into which the Islamic stream of refreshing and invigorating waters mingled up and became a part and parcel of the whole. The descendants of the once foreign Muslim conquerors were thoroughly Indianised by the end of the seventeenth century; India became their homeland of watan as much as that of the Hindus, and from the socio-cultural points of view they became indistinguishable from the rest of the Indian masses but for their 'sentimental leanings' towards Mecca and Medina which were the places of pilgrimage for them as Kapilvastu, Bodhgaya and Nalanda had once been for the Buddhists of south Asia and China. Otherwise the Muslim countries of Arabia, Iran and Turkistan were as much foreign to them as they were to the Hindus of India. The thesis of Mohammad Yasin is correct that 'the Muslims of Hindustan were different from their co-religionists in the other parts of the word. In spite of the existence of two religions; there were not any deep cultural differences between them. They took pleasure in the study of each other's religion, philosophy and science. Their arts were common. They had no prejudices in regard to participation in the fairs and festivals of each other. They spoke the same language, wore similar clothes, furnished their houses in the same style, had similar outlook upon the life of this world, if not also the next.

According to Havell, the great admirer of Hinduism, Islam influenced the Hindu social life in two ways. There was a rise of rigidities in the Hindu society. Islam also gave the depressed and downtrodden masses the prospect of improving their social status and economic lot. Havell has emphatically observed that it was not the philosophy of Islam but the democratic nature of the Islamic society that attracted the attention of the Indian people [5].

The Muslim adopted many Hindu marriage customs, and followed a number of practices which were repugnant to Islamic law; for example in the matter of fixing the degree of kingship for eligibility in marriage, in prescribing limits of endogamy and exogamy based upon tribal and class divisions, in the observance of ceremonial accompanying the marriage contract. Law of inheritance were supplanted by custom (urf) in many parts of India. Window marriage and divorce were frowned upon as among the Hindus [6.] The Muslims adopted many Hindu funeral ceremonies, for example, the Tija, the Daswan etc. The ceremonies concerning pregnancy and childbirth like the seventh month, sixth day to child birth, the shaving of the child's head (Mundan = Aqiq), licking of Khir, boring of ears, birthday anniversary etc. were common to both. Every such purely Hindu practices as the immolation of the widow on the death of her husband and Jauhar were occasionally restored to by the Muslim. Ibn Batuta relates the story of the defeat of Ainul Mulk by Muhammad Bin Tughlaq and tells how his wife plunged into

death after her husband. Again the Zafar Namah describes the Jauhar committed by wife of Kamaluddin, governor of Bhatnair, when he proceeded to fight against Timur.

It is true the religious fasts and festivals of the two communities were different but the manner of observing them was more or less similar. Muharram celebrations were assimilated to Dasehra. Shab-e-Barat to Shivaratri, Ramzan and Id to Navartara etc. Besides there were many fairs and festive occasions which were common; and even so far as the peculiar communal festival were concerned the Hindus and the Muslims participated in Both, e,g, Holi and Muharram. Muhammad Bin Tughlaq was the first Delhi Sultanate king who participated in Holi. The various Hindu and Muslim festivals were celebrated with impartial splendour On the Dasehra, the anniversary of Rama's victory over demons, the imperial horses and elephants were arrayed in decorated canopy and paraded for inspection. On the Raksha-Bandhan, the Hindu nobles and Brahmins fastened strings on the Emperor's arm. Divali saw gambling in the palace, and Shivaratri was duly observed. Nor were the Muslim Id and Shab-e-bar At neglected[7].

Marriage between Muslims and Hindus were rare, but those among the ruling families were well recognized. The Mughal emperors were not the pioneers of this policy. In Kashmir Hindu-Muslim marriages were of a long-standing. Zain-ul-Abedin (1420-70) married the two daughter of Raja Manakdeo of Jammu [8]. Another daughter was married to Raja Jasrath, the Muslim Gakkhar Chief[9].

The various Hindu and Muslim festivals were celebrated with impartial splendour On the Dasehra, the anniversary of Rama's victory over demons, the imperial horses and elephants were arrayed in decorated canopy and paraded for inspection.

Akbar, Jahangir, Farrukh Siyar, Sulaiman Shukoh and Sipihr Shukoh took Hindu princesses for their wives. The Hindu royal family of Kachh formed matrimonial alliances with the Muslims [10]. On the other side, the Hindu was far too ridden with caste inhibitions to receive a Muslim lady in the innermost sanctum of his palace. Yet such instances were not unknown. In Rajauri, Laddakh and Baltistan, Jahangir noticed inter-marriages between the two communities [11]. The love affair of Peshawa Baji Rao-I with Mastani is well known. She was a dancing girl who became Peshwa's constant companion and accompanied Baji Rao in his campaigns and rode stirrup to stirrup with him [12]. In 1734 she bore the Peshwa a son, Shamsher Bahadur, who was brought up as a Muslim.

Socially the Musalmans of India developed an organization Similar to that of the Hindus. Muslim societies in India, unlike Muslim societies in other countries, became divided into castes comparable with the Hindu caste system. Sayyids correspond with Brahmins, Mughal and Pathans with Kshatriyas, Shaikhs with Vaisyas, and the group of artisans araftsmen and labourers with Shudras.

In every social system women holds a characteristic position, Arab and Turkish societies differ considerably from Hindu society in this Turkistan but those of India. In toilet, dress, ornaments, ways of social intercourse, daily routine of life, they adopted from Hinduism. Nisbat, Haldi, Mehndi, Tel, Mandwa, Barat, Jalwa, Kangan etc. were Muslim adaptations of Hindu ceremonies. Early marriage of girls, prohibition of widow marriage, dependence and subordination of woman and the use of the veil were common to Hindus and Muslims[13].

The presence of Islam made the Hindus more orthodox and conservative in their religious outlook and social customs. Caste system became still more rigid and the evils of child marriage and infanticide found their way into the Hindu society as a negative impact of aggressiveness of the Muslim conquerors. Purdah system of the Muslims was adopted by the ladies of upper strata of the Hindus.

Muslims in India largely discarded the garments worn in Arabia, Iran and Central Asia and mainly adopted India costumes and clothes. The use of Arab amAma, Jubba, Ridah, Tahmad and Tasma disappeared, giving place to Hindu pagri and Chira, Kurta and angarkha, Patka and dopatta Pajama and Juta[14].

The entire range of Muslim dress, social customs and food habits, indoor and out-door games, manners and social behaviour, superstitions and taboos were absorbed by the multitude of the Hindus without demur except that they would not touch beef nor eat in the common utensils or kitchens with the Muslims.

In the cultural aspects of life, we find the same kind of fusion there. Arabic is the sacred language of Islam. It is not now the language of any group of musalmans in India, although it is studied by the learned for obvious reasons. Turkish was the spoken language of the court from the beginning of Muslim rule till its final overthrow. Neither of these languages is today spoken by the India Muslims, nor has the conqueror imposed them on the conquered.

It was during this period that modern regional languages developed. Love and devotion expressed themselves in poetry and music. They were instruments in bringing about union with God. Urdu; a common literary heritage of Hindus and Muslims, and a symbolic representation of cultural synthesis between Hinduism and Islam, Persian the state language, was in the long run, accepted by the Hindus as the language of opportunity and synthetic culture of the age. Modern Hindus language of took birth during Muslim period. From the thirteenth century onward, not only Khushru but a large number of Sufi Saints contributed to the development of Hindu language. The close interaction of Sufism and Chaitanyaism gave rise to Baul songs[15]. This was a movement against all externalism whether of Hindus or of Muslims. They were a creation of Hindu-Muslim unity.

Ancient Hindu architecture was changed beyond all recognition by the impact of Islam; so much so that even the Hindu temples 'could not remain immune from the influence of the Mughal architectural forms; the Rajput chieftains freely patronised Mughal art and architecture and transmitted the cultural trends of the imperial court, in the cultivation of which they themselves had played a significant role, to their states and its aristocracy. Hindus were not unfamiliar with gardens in the past albeit the mughal gardens as referred to above, constituted a rich cultural heritage to the whole of India.

Thus, during the medieval period Hindusim existed certainly not in a bad position as it is propagated by the traditional elements. The neglected class of Hindu society loved Islam. The medieval social and religions reformers were welcome by Islam. The teachings of the Sufism attracted many Hindu. It was Islam by dint of which the concept of one God was found in Sikhism and other religious sects.

Thus a powerful religious impulse which drew its inspiration from Hindu as well as Muslim sources, spread all over India and sought to bring together the masses into a faith which transcended social, intellectual and communal barriers.

Religion is a part of culture but not the whole of it. It is our contention that the two religions - Hindusim and Islam, imparted religiosity as a common cultural trait in its manifold forms to their protagonists which nourished the medieval Indian culture as a whole. Religion by itself could not be a dividing factor in the Indian society unless it was exploited by a foolhardy ruler[16], devoid of national consciousness and obsessed with religious fanaticism or sectarian outlook.

References

1. A.B.M. Habibullah, Foundation of Muslim rule in India; Allahabad, 2nd Ed; 1961, P. 2
2. Dr. Tarachand, Society and State in the Mughal Period, p. 58.
3. Fatawa-e-Jahandari, translated by Prof. M. Habib and Dr. Afzal Begum, Medieval India Quarterly, Vol. III, Nos. 1 & 2, July-Oct.; 1975, p. 5.
4. Mohammad Yasin, A Social History of Islamic India (1605-1748); Munshiram (1958), Sec. Rev. ed; 1974, pp. 77-78.
5. Havell : Aryan Rule in India
6. Vide Tuper, C.L., Punjab Customary Laws; also R., Burn, Census of India, 1901, Vol. XVI, Part-I, pp. 92 et. sq.
7. Dr. Beni Prasad, History of Jahangir, pp. 99-100
8. See Jonaraja, Rajatarangini (translated by J.C. Dutt), p. 86; Srivara, Zain Rajatarangini (translated by J.C. Dutt), p. 194
9. The Indian Antiquary, Vol. XXXVI, 1907, p.8
10. Jadunath Sarkar, History of Aurangzeb, Vol. II, p. 163 footnote.
11. Tuzuk-i-Jahangiri (Rogger's Translation), Vol. II, p. 181
12. Tarikh-i-Muhammad Shahi, quoted by G.S. Sardesai, New History of Marathas, Vol. II, p. 118
13. Dr. Tarachand : Hindus and Muslim Problems, p. 36.
14. Havell : Aryan rule in India
15. Muslim Bangla Literature by Inamul Haq.
16. A medieval counterpart of the modern-self-seeking politicians.

Amarnath Land Allotment Controversy

Dr. Raghwendra Kishore

The Amarnath cave temple is not separate from the history of Kashmir or Kashmiriyat that the separatists claim to uphold. Amarnath Yatra used to be a part of Kashmiri tradition and Muslims too joined it with devotion. A Muslim family still earns a part of the offering in the shrine, as a reward for their devotion to Amarnath.

The allotment of 100 acres forest land in Kashmir to the Amarnath Shrine Board for construction of temporary structures for the nearly half million yatris has kicked up an uproar in the Valley. The controversy was started by the PDP deputy chief minister Muzaffar Hussain Baig who said that the land was sanctioned because some Congress ministers threatened otherwise to block the Jammu-Srinagar highway project. Now it has become an issue for the terrorists to take to streets. Not that the terrorists need an issue. They are out to destroy the social fabric and create mayhem.

That the allotment of land to one of the holiest Hindu shrines in India should become a controversy at all speaks volumes for the political milieu in the country. The pilgrims who go to Amarnath brave not only the harsh weather conditions and hazardous roads, but they risk their lives. Several attacks on the yatris have been launched in the past by terrorists and hundreds have been killed. And yet, the number of devotees aspiring to go there has only swelled. If at all, it seems to have strengthened the resolve of the Hindus to keep the centuries-old tradition alive.

The Amarnath cave temple is not separate from the history of Kashmir or Kashmiriyat that the separatists claim to uphold. Amarnath Yatra used to be a part of Kashmiri tradition and Muslims too joined it with devotion. A Muslim family still earns a part of the offering in the shrine, as a reward for their devotion to Amarnath.

Every city in India boasts of a Haj house where facilities are extended to the yatris of the Haj pilgrimage. The land for each of these has been provided by the state and grants have been given for their construction. During every Haj season, the airports make special arrangements. Thousands of crores of taxpayers' money is spent on it. Nobody objects to it.

Only a year ago, the BJP government in Rajasthan allotted prime land in Jaipur, near the airport for the Haj house and funds for its construction. No one heard a murmur of protest from the Hindus on the government largesse. Every pilgrim, whatever his faith, is respected in this country.

This is not the place for counting the good deeds and the bad reciprocations. This occasion calls for the condemnation of an attitude, not only of the separatists but also of the so-called political parties committed to the values of democracy and secularism enshrined in our Constitution. To say that the PDP is raking up this issue with an eye on the forthcoming assembly elections is viewing the matter in too simplistic terms. The design is more sinister. They want to erase the Hindu heritage of Kashmir. PDP leader Mufti Mohammad Sayeed and his daughter have earlier also demanded that the Amarnath Yatra

should be held at abeyance for "sometime". They play crass communal politics. Few months ago they demanded Pak currency in Kashmir. They often work hand in glove with the separatists. And they happen to be the bosom friends of Sonia Gandhi. The CPM and the NC are not far behind in stoking communal divide in the Valley.

The terrorists who have taken to the streets and fasts unto death for "saving" the forests should actually take up the cause of vanishing forests of Kashmir at the hands of the vandals in the state. Acres of forest lands are being cleared to reap timber which is being smuggled outside the state, according to reports. These protesters were not seen in action when recently a bear and then a leopard which had strayed out of their habitats were roasted alive and stoned to death by a mob in Kashmir. Nor are they protesting the stink that the Dal Lake, the pride of Kashmir, has become. So much for environmental activism. They are the real enemies of development and Kashmiriyat.

These terrorists had no qualms when they occupied the homes of Kashmiri Hindus who had been driven away. In fact it is the fear of having to part with these properties that is goading them into opposing the return of the Hindus to the valley.

The shouting brigade of the secularists, the Azmis, the Akhtars and the various shades of communists are conspicuously silent. The CPM in its new image as the Communist Party of India (Muslims) and the Congress Party whose leader claims a special bonhomie with the Muftis have not reacted yet. The yatris, camping in Jammu, have taken the initiative in demonstrating against terrorists. The PDP is threatening to pull out of the government over the issue, hoping that its communal credentials would be strengthened. The National Conference is playing the proverbial cat on the wall.

Now, it is imperative to send out a message that Hindu shrines are beyond politics. If the coalition government led by the Congress in the state yields, it would send a wrong signal to the nation. Coming in the series of minority appeasement policies of the UPA, it would only be showing it as yielding to the pressure of the separatists. It would augur ill for the secular fabric of the nation.

Controversy behind Amaranth Yatra

Amarnath yatra is considered to be one of the holiest places for Hindus. It is here where a natural and magnificent ice shiv linga is formed. Traditionally the yatra used to last for one month as the basic infrastructure and amenities were lacking. However Mr. S.K. Sinha the ex-governor of J&K improved the quality of the yatra by providing various facilities and thereby, It was possible to extend this yatra for two months. SASB (Shri Amarnathji Shrine Board) was formed and, the purpose of this board is to provide quality facilities to pilgrims coming from different parts of India.

It was the ruling coalition of congress and PDP, first proposing cabinet decision (No. 94/7 of 2007 for diversion of 39.88 ha land to Shri Amarnath Shrine Board. But

These terrorists had no qualms when they occupied the homes of Kashmiri Hindus who had been driven away. In fact it is the fear of having to part with these properties that is goading them into opposing the return of the Hindus to the valley.

elections round the corner in next 3-4 months in J&k, Mufti and his party have politicized the issue of allotting 800 canals (100 acres) of land to SASB.

Senior leader of PDP Muzaffar Beig, alleged that it was their helplessness, that they passed this resolution as congress threatened that they will stop the construction of mougal road, which will join Kashmir with their "Muslim brethren" in Poonch. The separatist faction of Hurriyat, headed by Moulvi Umar Farooq and Syed Geelani, who are swore enemies of each other forgot their differences and joined hands together to protest this land deal. The reasons PDP cited were, that

hundred of tress will be cut for constructions at baltal. Hurriyat factions alleged that SASB members are non State-subjects and hence aggressors and attackers. National conference was also not far behind with Omar Abdullah saying that this protest is a proof of Kashmir nationalism or patriotism. This mass uprising of Muslims in valley is not a sudden love for environment, but by protesting this land deal they are indirectly protesting Hindus and India. This mass uprising has been termed as an equivalent of 1990 when thousands of kashmiri Hindus were massacred on the name of religion and jihad.

The fact is that in 1998 Dr. Faroq Abdullah acquired 623 canals of forest land at sidra for construction of Muslim migrant colony. Another issue being exploited by the NC-PDP and others is the land in question was forest land (SASB Land) and that could not be transferred….. But what about the Mughal Road? 10,000 trees were cut, 30,000 wild lives were destroyed to construct Mughal Road. Who cleared the cabinet order in this regard? It was Mufti Mohammad Sayeed who as a chief Minister with the support of his Deputy Chief Minister, Mr. Mangat Ram Sharma issued the cabinet order and destroyed forest land and wild life.

So called Indian secularist need to re-think as to what "secular" really means in India?

They also need to think who really are seculars…."Muslims" or "Hindus". How is allotment of forest land to SASB different from allotment of forest land at sidra and mougal road? who is politicizing religion in J&K? Hindus or Muslims! The double standards of Muslim politicians of J&K have once again been clearly exposed by this incident. Valley politicians of all hues are attacking holy Yatra of Amarnath wilfully, ignoring the immediate and long-term implications of such a move. Decades of death and destruction that are still unstoppable in the trouble-torn state means nothing to them. They refuse to see beyond a little electoral benefit in the forthcoming elections.

Add: Lecturer, Political Science
Deptt. Jagdam College,
Chapra (Bihar)

Some Outstanding Books on Health Care :

Healthy Baby	Dr. P.K. Singh	200.00
Pregnancy Planning, Care & Delivery	Dr. P.K. Singh	300.00
Children's Health	Dr. P.K. Singh	250.00
Working Life	Dr. Devendra Sengar	300.00
Women's Health	Dr. Devendra Sengar	300.00
Men's Health	Dr. Devendra Sengar	250.00
Senior Health	Dr. Devendra Sengar	250.00
Allergy	Dr. P.K. Singh	150.00
Common Diseases	Dr. P.K. Singh	300.00
Alternative Medicine	Dr. P.K. Singh	250.00
First AID : The First Medical Requirement	Dr. Devendra Sengar	200.00
Weight Loss	Dr. P.K. Singh	200.00
Stress	Dr. Devendra Sengar	300.00
Food and Nutrition	Dr. Devendra Sengar	200.00
Fitness : How to be Fit	Dr. Devendra Sengar	300.00
Teen's Health	Dr. P.K. Singh	250.00

To Order Please Write to :

Pushpanjali Prakashan

L-46, Gali No. 5, Shivaji Marg, Kartar Nagar, Delhi-110053
Phone : 9811710900

Corporate Social Responsibility in Modern India

Dr. Pushpa Raj Gautam

Corporate social responsibility (CSR, also called corporate responsibility, corporate citizenship, responsible business and corporate social opportunity[1]) is a concept whereby organizations consider the interests of society by taking responsibility for the impact of their activities on customers, suppliers, employees, shareholders, communities and other stakeholders, as well as the environment. This obligation is seen to extend beyond the statutory obligation to comply with legislation and sees organizations voluntarily taking further steps to improve the quality of life for employees and their families as well as for the local community and society at large.

The practice of CSR is subject to much debate and criticism. Proponents argue that there is a strong business case for CSR, in that corporations benefit in multiple ways by operating with a perspective broader and longer than their own immediate, short-term profits. Critics argue that CSR distracts from the fundamental economic role of businesses; others argue that it is nothing more than superficial window-dressing; still others argue that it is an attempt to pre-empt the role of governments as a watchdog over powerful multinational corporations.

Business ethics is a form of the art of applied ethics that examines ethical principles and moral or ethical problems that can arise in a business environment.

Development

Business ethics is a form of the art of applied ethics that examines ethical principles and moral or ethical problems that can arise in a business environment.

In the increasingly conscience-focused marketplaces of the 21st century, the demand for more ethical business processes and actions (known as ethicism) is increasing. Simultaneously, pressure is applied on industry to improve business ethics through new public initiatives and laws (e.g. higher UK road tax for higher-emission vehicles).

Business ethics can be both a normative and a descriptive discipline. As a corporate practice and a career specialization, the field is primarily normative. In academia, descriptive approaches are also taken. The range and quantity of business ethical issues reflects the degree to which business is perceived to be at odds with non-economic social values. Historically, interest in business ethics accelerated dramatically during the 1980s and 1990s, both within major corporations and within academia. For example, today most major corporate websites lay emphasis on commitment to promoting non-economic social values under a variety of headings (e.g. ethics codes, social responsibility

charters). In some cases, corporations have re-branded their core values in the light of business ethical considerations (e.g. BP's "beyond petroleum" environmental tilt).

The term CSR itself came in to common use in the early 1970s although it was seldom abbreviated. The term stakeholder, meaning those impacted by an organization's activities, was used to describe corporate owners beyond shareholders from around 1989.

Approaches

Some commentators have identified a difference between the Continental European and the Anglo-Saxon approaches to CSR.[2] And even within Europe the discussion about CSR is very heterogenous.[3]

An approach for CSR that is becoming more widely accepted is community-based development projects, such as the Shell Foundation's involvement in the Flower Valley, South Africa. Here they have set up an Early Learning Centre to help educate the community's children, as well as develop new skills for the adults. Marks and Spencer is also active in this community through the building of a trade network with the community-guaranteeing regular fair trade purchases. Often alternative approaches to this is the establishment of education facilities for adults, as well as HIV/AIDS education programmes. The majority of these CSR projects are established in Africa. A more common approach of CSR is through the giving of aid to local organizations and impoverished communities in developing countries. Some organizations do not like this approach as it does not help build on the skills of the local people, whereas community-based development generally leads to more sustainable development.

Social Accounting, Auditing and Reporting

Taking responsibility for its impact on society means in the first instance that a company accounts for its actions. Social accounting, a concept describing the communication of social and environmental effects of a company's economic actions to particular interest groups within society and to society at large, is thus an important element of CSR.[4]

A number of reporting guidelines or standards have been developed to serve as frameworks for social accounting, auditing and reporting:

- Accountability's AA1000 standard, based on John Elkington's triple bottom line (3BL) reporting
- Global Reporting Initiative's Sustainability Reporting Guidelines
- Verite's Monitoring Guidelines
- Social Accountability International's SA8000 standard
- Green Globe Certification / Standard
- The ISO 14000 environmental management standard
- The United Nations Global Compact promotes companies reporting in the format of a Communication on Progress (COP). A COP report describes the company's implementation of the Compact's ten universal principles.
- The United Nations Intergovernmental Working Group of Experts on International Standards of Accounting and Reporting (ISAR) provides voluntary technical guidance on eco-efficiency indicators, corporate responsibility reporting and corporate governance disclosure.

The FTSE Group publishes the FTSE4Good Index, an evaluation of CSR performance of companies.

In some nations legal requirements for social accounting, auditing and reporting exist (e.g. in the French bilan social), though agreement on meaningful measurements of social and environmental performance is difficult. Many companies now produce externally audited annual reports that cover Sustainable Development and CSR issues ("Triple Bottom Line Reports"), but the reports vary widely in format, style, and evaluation methodology (even within the same industry). Critics dismiss these reports as lip service, citing examples such as Enron's yearly "Corporate Responsibility Annual Report" and tobacco corporations' social reports.

Potential Business Benefits

The scale and nature of the benefits of CSR for an

organization can vary depending on the nature of the enterprise, and are difficult to quantify, though there is a large body of literature exhorting business to adopt measures beyond financial ones (e.g., Deming's Fourteen Points, balanced scorecards). Orlizty, Schmidt, and Rynes[5] found a correlation between social/ environmental performance and financial performance. However, businesses may not be looking at short-run financial returns when developing their CSR strategy.

The definition of CSR used within an organization can vary from the strict "stakeholder impacts" definition used by many CSR advocates and will often include charitable efforts and volunteering. CSR may be based within the human resources, business development or public relations departments of an organisation,[6] or may be given a separate unit reporting to the CEO or in some cases directly to the board. Some companies may implement CSR-type values without a clearly defined team or programme.

The business case for CSR within a company will likely rest on one or more of these arguments:

Human Resources

A CSR programme can be seen as an aid to recruitment and retention,[7] particularly within the competitive graduate student market. Potential recruits often ask about a firm's CSR policy during an interview, and having a comprehensive policy can give an advantage. CSR can also help to improve the perception of a company among its staff, particularly when staff can become involved through payroll giving, fundraising activities or community volunteering.

Risk Management

Managing risk is a central part of many corporate strategies. Reputations that take decades to build up can be ruined in hours through incidents such as corruption scandals or environmental accidents. These events can also draw unwanted attention from regulators, courts, governments and media. Building a genuine culture of 'doing the right thing' within a corporation can offset these risks.[8]

Brand Differentiation

In crowded marketplaces, companies strive for a unique selling proposition which can separate them from the competition in the minds of consumers. CSR can play a role in building customer loyalty based on distinctive ethical values.[9] Several major brands, such as The Cooperative Group and The Body Shop are built on ethical values. Business service organisations can benefit too from building a reputation for integrity and best practice.

License to Operate

Corporations are keen to avoid interference in their business through taxation or regulations. By taking substantive voluntary steps, they can persuade governments and the wider public that they are taking issues such as health and safety, diversity or the environment seriously, and so avoid intervention. This also applies to firms seeking to justify eye-catching profits and high levels of boardroom pay. Those operating away from their home country can make sure they stay welcome by being good corporate citizens with respect to labour standards and impacts on the environment.

Criticisms and Concerns

Critics of CSR as well as proponents debate a number of concerns related to it. These include CSR's relationship to the fundamental purpose and nature of business and questionable motives for engaging in CSR, including concerns about insincerity and hypocrisy.

CSR and the Nature of Business

Corporations exist to provide products and/or services that produce profits for their shareholders. [10] Milton Friedman and others take this a step further, arguing that a corporation's purpose is to maximize returns to its shareholders, and that since (in their view), only people can have social responsibilities, corporations are only responsible to their shareholders and not to society as a whole. Although they accept that corporations should obey the laws of the countries within which they work, they assert that corporations have no other obligation to society. Some people perceive CSR as incongruent with the very nature and purpose of business, and indeed a hindrance to free trade. Those who assert that CSR is incongruent with capitalism and are in favour of neoliberalism argue that improvements in health, longevity and/or infant mortality have been created by economic

growth attributed to free enterprise.[11]

Critics of this argument perceive neoliberalism as opposed to the well-being of society and a hindrance to human freedom. They claim that the type of capitalism practiced in many developing countries is a form of economic and cultural imperialism, noting that these countries usually have fewer labour protections, and thus their citizens are at a higher risk of exploitation by multinational corporations.[12]

A wide variety of individuals and organizations operate in between these poles. For example, the REA Leadership Alliance asserts that the business of leadership (be it corporate or otherwise) is to change the world for the better.[13] Many religious and cultural traditions hold that the economy exists to serve human beings, so all economic entities have an obligation to society (e.g., cf. Economic Justice for All). Moreover, as discussed above, many CSR proponents point out that CSR can significantly improve long-term corporate profitability because it reduces risks and inefficiencies while offering a host of potential benefits such as enhanced brand reputation and employee engagement.

> ***Another concern is when companies claim to promote CSR and be committed to Sustainable Development whilst simultaneously engaging in harmful business practices.***

CSR and Questionable Motives

Some critics believe that CSR programs are undertaken by companies such as British American Tobacco (BAT),[14] the petroleum giant BP (well-known for its high-profile advertising campaigns on environmental aspects of its operations), and McDonald's (see below) to distract the public from ethical questions posed by their core operations. They argue that some corporations start CSR programs for the commercial benefit they enjoy through raising their reputation with the public or with government. They suggest that corporations which exist solely to maximize profits are unable to advance the interests of society as a whole.[15]

Another concern is when companies claim to promote CSR and be committed to Sustainable Development whilst simultaneously engaging in harmful business practices. For example, since the 1970s, the McDonald's Corporation's association with Ronald McDonald House has been viewed as CSR and relationship marketing. More recently, as CSR has become mainstream, the company has beefed up its CSR programs related to its labour, environmental and other practices[16] All the same, in McDonald's Restaurants v Morris & Steel, Lord Justices Pill, May and Keane ruled that it was fair comment to say that McDonald's employees worldwide 'do badly in terms of pay and conditions'[17] and true that 'if one eats enough McDonald's food, one's diet may well become high in fat etc., with the very real risk of heart disease.'[18]

Similarly Shell has a much-publicised CSR policy and was a pioneer in triple bottom line reporting, however, this did not prevent the 2004 scandal concerning its misreporting of oil reserves—an act which seriously damaged its reputation and led to charges of hypocrisy. Since then, the Shell Foundation has become involved in many projects across the world, including a partnership with Marks and Spencer (UK) in three flower and fruit growing communities across Africa.

Critics concerned with corporate hypocrisy and insincerity generally suggest that better governmental and international regulation and enforcement, rather than voluntary measures, are necessary to ensure that companies behave in a socially responsible manner.

Drivers

Corporations may be influenced to adopt CSR practices by several drivers[19].

Ethical Consumerism

The rise in popularity of ethical consumerism over the last two decades can be linked to the

rise of CSR. As global population increases, so does the pressure on limited natural resources required to meet rising consumer demand (Grace and Cohen 2005, 147). Industrialization in many developing countries is booming as a result of technology and globalization. Consumers are becoming more aware of the environmental and social implications of their day-to-day consumer decisions and are beginning to make purchasing decisions related to their environmental and ethical concerns. However, this practice is far from consistent or universal.

Globalization and Market Forces

As corporations pursue growth through globalization, they have encountered new challenges that impose limits to their growth and potential profits. Government regulations, tariffs, environmental restrictions and varying standards of what constitutes labour exploitation are problems that can cost organizations millions of dollars. Some view ethical issues as simply a costly hindrance. Some companies use CSR methodologies as a strategic tactic to gain public support for their presence in global markets, helping them sustain a competitive advantage by using their social contributions to provide a subconscious level of advertising. (Fry, Keim, Mieners 1986, 105) Global competition places particular pressure on multinational corporations to examine not only their own labour practices, but those of their entire supply chain, from a CSR perspective.

Social Awareness and Education

The role among corporate stakeholders to work collectively to pressure corporations is changing. Shareholders and investors themselves, through socially responsible investing are exerting pressure on corporations to behave responsibly. Non-governmental organizations are also taking an increasing role, leveraging the power of the media and the Internet to increase their scrutiny and collective activism around corporate behaviour. Through education and dialogue, the development of community in holding businesses responsible for their actions is growing (Roux 2007).

When we talk of development, the instant image that comes to mind is of certain activities or processes taking place for the betterment of our present and future generations, by uplifting their standard of living. As the title suggests, the author tracks the changing roles of the three major stakeholders in the society, viz. the government, Non-government Organisations (NGOs) and the corporate sector, in influencing the process of development. Beginning from the British Raj and tracing its way up to the present development scenario in the country, the article shows us how the above players have metamorphosed into efficacious entities in bringing about the process of development.

Working separately, the impact of the above three entities is limited to a certain extent. Keeping this in mind, the author opines that if all three work hand in hand with each other and realize that they are striving towards achieving the same goal, i.e., progress of the country, it would surely be the beginning of a new era in the field of development.

Development has been a constant striving for all societies and nations. There are many questions associated with various issues and aspects of development:

- Who is responsible for development?
- Who should benefit from development?
- Who should decide about resource allocation?
- Who should 'pay' for development?

Collectively taken together, many of the above questions are subsumed under, "who should play what role in the development process." This think-piece attempts to answer this question in a dynamic temporal framework; particularly in the context of three major players-Government, Non-government Organizations (NGOs) and Corporates (or business enterprises).

Government

Government, in the modern sense, emerged in our country during the days of the British rule. In that era, the connotation of development was quite different. Foreigners were ruling the country. Their main interest was in Administration-maintaining law and order, collecting taxes, etc.

No doubt, lot of development took place, particularly in infrastructure (railways, postal system, etc.). But the main objective was to facilitate the ruling

of the country-the continued well-being of the rulers was the aim of development. In the process, if the people of the country benefited, it was just by the way.

Once the country became independent and we had a government, "by the people, of the people, and for the people", government became a central, and in many ways, the only player in the development field. Ideologically, the government believed in a planned economy and a socialist, Nehruvian model of development. The paradigm of development related to models and activities like: the five-year plans; setting up of public sector undertaking to command the heights of the economy; licenses and permits to control investments and resources allocations; etc.

Over the last two decades, the paradigm of governance has changed – first gradually and then at an accelerated rate. Under the influence of national and international forces, the economy is moving towards liberalization, privatization, and globalization. Government wants to become a facilitator and regulator rather than an active player in development. The process has just started and is being implemented cautiously under a close watch and rigorous monitoring, so that there is net social gain and also that vulnerable sections of the society are not unduly hurt.

It would not be an exaggeration to say that in some ways government is withdrawing from certain fields of development, and that is leaving a vacuum. To a certain extent, this has been necessitated by severe constraint on (democratically garnered) resources and the need to allocate these to relatively higher priority areas.

Non-government Organisations

Non-government Organizations more or less did not exist during the British Raj. The then paradigm of governance did not allow for that (other than as anti-rule forces!!)

After independence also, it took a while for NGOs to emerge. It should be possible to say that immediately post-independence, individuals who comprised the government were themselves of the NGO mindset – at least in terms of their proximity to the 'common man.' And therefore, there was no felt need for any intermediary for articulating collective desires of the people relating to different aspects of development.

In due course, the primary functionaries of government-namely politicians and bureaucrats-became rather distant from the people. In that context, the NGOs emerged as a link – both for expressing people's point of view and for providing a channel for resources meant for development activities.

Government also realized that there were lot of advantages to enrolling NGOs in the development process : NGOs are motivated and enthusiastic; they have flexibility in operations; they are close to the people; they provide additional manpower to conduct developmental activities.

In today's context, NGOs have become an integral part of the process of development and are shouldering more and more responsibilities in diverse fields. In recent years, the number of NGOs, their geographic extent, their resource channelisation and, in the ultimate analysis, their impact have all increased.

Corporates

In the early 20th century – to continue the time parity – the business world was more or less insulated from the concept of development (though business did participate in the economic processes). Around the time of Independence, Mahatma Gandhi proposed the concept of trusteeship, allocating a larger role to business in managing social resources for social development (and not only for business per se). And this responsibility was ably taken up by many business houses like the Tatas, the Bajajs, etc., who began to allocate funds and other resources to development.

Many eminent economic thinkers–like Milton Friedman–have very categorically proposed that corporates should stick to making profits and not get involved in development. Fortunately, in many experts' opinion, this viewpoint has not made much impact. Increasingly, the corporates are realizing that development is necessary for their own growth. A business enterprise is also an integral part of the society and therefore must address the same concerns regarding poverty, environment, education, energy, health, etc., as other constituents of the society.

Whether out of enlightened self-interest or out of pure

goodness-of-heart, corporates are dedicating more and more resources – in cash and kind – to development. Many business enterprises have created organizational units – in the form of charitable foundations – which have the sole mandate to get involved in development.

Some Possible Trends

There is a convergence and complementarity emerging in the roles of government, NGOs, and corporates, vis-a-vis development. Government is strapped for resources (managerial as well as economic) and is now realizing its limitations.

NGOs have become more articulate, more knowledgeable, more experienced, and, hopefully, more impactful in development but realize the need for using concepts and techniques from the discipline of Management to improve efficiency and effectiveness. Corporates have surely realized their responsibility, have a keen desire to contribute, and also have the requisite material resources and managerial expertise but are somewhat inexperienced in the field of development.

In this scenario, it would be optimal for corporates to pitch-in with resources, and equally valuably, bring an attitude of higher accountability and efficiency, as well as a penchant for monitoring and results.

The NGOs could be the delivery arm-carrying out the actual fieldwork in a manner responsive to the people's needs.

The government could play the role of a facilitator by providing a conducive policy and regulatory framework (for example, through appropriate taxation laws.)

Of course, for this new paradigm to work effectively, each of the three entity-groups will have to recognize one another's role, trust one another, and accept the supra-ordinate goal that all of them are striving for a common objective-i.e. development of our country.

References

1. Grayson, D. and Hodges, A. (2004) *Corporate Social Opportunity! Seven Steps to Make Corporate Social Responsibility Work for your Business.*
2. Williams, Cynthia A.; Ruth V. Aguilera (2008). "Corporate Social Responsibility in a Comparative Perspective", in Crane, A., et.al.: *The Oxford Handbook of Corporate Social Responsibility* (PDF), Oxford: Oxford University Press. ISBN 0199211590. Retrieved on 2008-03-06.
3. Habisch, André; Jan Jonker, Martina Wegner, R. Schmidpeter (eds.) (2005). *Corporate Social Responsibility across Europe.* Heidelberg: Springer. ISBN 978-3-540-23251-3.
4. R.H. Gray, D.L.Owen & K.T.Maunders, *Corporate Social Reporting: Accounting and accountability* (Hemel Hempstead: Prentice Hall, 1987) p. IX.
5. Orlitzky, Marc; Frank L. Schmidt, Sara L. Rynes (2003). "Corporate Social and Financial Performance: A Meta-analysis" (PDF). *Organization Studies* 24 (3): 403–441. London: SAGE Publications. doi:10.1177/0170840603024003910. Retrieved on 2008-03-07.
6. "Corporate Social Responsibility and Ethical Careers". University of Edinburgh Careers Service. Retrieved on 2008-03-07.
7. Bhattacharya, C.B., Sankar Sen and Daniel Korschun (2008), "Using Corporate Social Responsibility to Win the War for Talent," MIT Sloan Management Review, 49 (2), 37-44; "The Good Company", *The Economist* (2005-01-20). Retrieved on 2008-03-07.
8. Kytle, Beth; John Gerard Ruggie (2005). "Corporate Social Responsibility as Risk Management: A Model for Multinationals" (PDF). *Social Responsibility Initiative Working Paper No. 10.*. John F. Kennedy School of Government, Harvard University. Retrieved on 2008-03-07.
9. Paluszek, John (April 6-7, 2005). "Ethics and Brand Value: Strategic Differentiation" (PowerPoint). *Business and Organizational Ethics Partnership Meeting.* Markkula Center for Applied Ethics, Santa Clara University. Retrieved on 2008-03-07.
10. Malloy, D.C. (2003). "Understanding the Nature of Ethics, and Purposes of Business Health Care and Law", *The Sport We Want* (PDF), Canadian Centre for Ethics in Sport, pp.59-79. Retrieved on 2008-03-07.
11. Friedman, Milton (1970-09-13). "The Social Responsibility of Business is to Increase its Profits", *The New York Times Magazine.* Retrieved on 2008-03-07.
12. c.f., Aquino, M.P., Nuestro Clamor por la Vida. Teología Latinoamericana desde la Perspectiva de la Mujer (San José, Costa Rica: Departamento Ecuménico de Investigaciones, 1992), et al.
13. Real Leadership Alliance
14. Friends of the Earth (2005-04-28). "British American Tobacco Report Shows Truth Behind Greenwash". Press release. Retrieved on 2008-03-07.
15. McKibben, Bill (November/December 2006). "Hope vs. Hype", *Mother Jones.* Retrieved on 2008-03-07.
16. McDonald's Corporation CSR information
17. [Appeal Judgment p247]
18. [Judgment p264]
19. Corporate Social Responsibility: It's No Longer an Option
20. Cici, Carlos; Federica Ranghieri (2008) *"Recommended Actions to Foster the Adoption of CSR Practices in SMEs"* , Inter-American Development Bank. Report. Retrieved on 2008-07-08.
21. "Multilateral Investment Fund: Corporate Social Responsibility.

Add. : B-313,
Delhi Administration Flat,
Timarpur, Delhi-110054

Child Labour in India: Causes, Governmental Policies and the Role of Education

Dr. Vidya Pati Gautam

The current state of education in India will be examined and compared with other developing countries. Compulsory education policies and their relationship to child labour will be investigated using Sri Lanka and the Indian state of Kerala as examples of where these policies have worked.

The complex issue of child labour is a developmental issue worth investigating. The notion that children are being exploited and forced into labour, while not receiving education crucial to development, concerns many people. India is the largest example of a nation plagued by the problem of child labour. Estimates cite figures of between 60 and 115 million working children in India — the highest number in the world (Human Rights Watch 1996, 1).

What are the causes of child labour in India? How do governmental policies affect it? What role does education play in regard to child labour in India? A critical analysis of the answers to these questions may lead in the direction of a possible solution. These questions will be answered through an analysis of the problem of child labour as it is now, investigating how prevalent it is and what types of child labour exist. The necessity of child labour to poor families, and the role of poverty as a determinant will be examined. Governmental policies concerning child labour will be investigated. The current state of education in India will be examined and compared with other developing countries. Compulsory education policies and their relationship to child labour will be investigated using Sri Lanka and the Indian state of Kerala as examples of where these policies have worked. Finally, India's policies concerning compulsory education will be assessed.

The Problem of Child Labour in India

How many Children are Involved?

It is difficult to cite a current figure for the number of children engaged in child labour. This difficulty is attributed to the fact that the Indian Government "has been negligent in its refusal to collect and analyse current and relevant data regarding the incidence of child labour. As of 1996, official figures continue to be based on 1981 census figures" (Human Rights Watch 1996, 122). The 1981 Indian census reports that there were 13.6 million child labourers in India (Census of India 1981 cited in Weiner 1991, 20). Indian government extrapolations of this 1981 data place the current number of child labourers at between seventeen and twenty million (Human Rights Watch 1996, 122). This extrapolation seems highly unlikely as "The Official National Sample Survey of 1983 [of India] reports 17.4 million child labourers, while a study . . . sponsored by the Labour Ministry, concluded that the child-labour force was 44 million" (Weiner 1991, 20-21). UNICEF "cites figures ranging from seventy-five to ninety million child labourers under the age of fourteen" (Human Rights Watch 1996, 122). A universal difficulty in

obtaining accurate data may be that individuals fail to report child labour participation during surveys, for fear of persecution.

Although the figure for the number of child labourers varies, they are all significantly high when considering that the Child Economic Activity rate for 1980-1991 was 13.5% for males and 10.3% for females (International Labour Organization, 1995, 113). In comparison, other developing countries such as Sri Lanka and Malaysia (where data is available), have lower activity rates: 5.3% for males and 4.6% for females in Sri Lanka, and 8.8% for males and 6.5% for females in Malaysia (International Labour Organization, 1995, 113). Historical census data shows an overall child work participation rate of 12.69% in 1961 and 7.13% in 1971 (Census of India 1971 cited in Devi 1985, 50). This data is misleading because the definitions of child labour are different in the two censuses (unpaid workers are not included in the 1971 census), thus a comparison cannot be completely valid (Devi 1985, 37). The data shows that in a span of twenty years (1961-1981), the proportion of children who are working has not changed significantly, but since comparisons with this data are not valid, this conclusion is questionable.

What are Children doing in Terms of Work?

The 1981 Census of India divided child labour into nine industrial divisions: I. Cultivation, II. Agricultural Labour, III. Livestock, Forestry, Fishing, Plantation, IV. Mining and Quarrying, V. Manufacturing, Processing, Servicing and Repairs, VI. Construction, VII. Trade and Commerce, VIII. Transport, Storage and Communication, and IX. Other Services (Census of India 1981 cited in Nangia 1987, 72). Table 1.1 shows the percentage distribution of child workers by these industrial divisions in 1981. From this table it is observed that the majority of rural child workers (84.29%) are employed in cultivation and agricultural labour (divisions I and II). Urban child labourers are distributed differently, as table 1.1 shows 39.16% of them are involved in manufacturing, processing, servicing and repairs. Although more children are involved in agriculturally related jobs (table 1.1 shows a total of 78.67% for divisions I and II), human rights organizations tend to focus on the manufacturing types of child labour because most children in these situations are bonded labourers. Bonded labour "refers to the phenomenon of children working in conditions of servitude in order to pay off a debt" (Human Rights Watch 1996, 2). Estimates place the number of bonded child labourers in India at close to one million (International Labour Organisation 1992, 15).

Bonded labour "refers to the phenomenon of children working in conditions of servitude in order to pay off a debt" (Human Rights Watch 1996, 2). Estimates place the number of bonded child labourers in India at close to one million (International Labour Organisation 1992, 15). Child labour is a source of income for poor families. A study conducted by the ILO Bureau of Statistics found that "Children's work was considered essential to maintaining the economic level of households, either in the form of work for wages, of help in household enterprises or of household chores in order to free adult household members for economic activity elsewhere" (Mehra-Kerpelman 1996, 8).

Causes of Child Labour in India and Governmental Policy dealing with It

How Necessary is Child Labour to Families in India?

Child labour is a source of income for poor families. A study conducted by the ILO Bureau of Statistics found that "Children's work was considered essential to maintaining the economic level of households, either in the form of work for wages, of help in

household enterprises or of household chores in order to free adult household members for economic activity elsewhere" (Mehra-Kerpelman 1996, 8). In some cases, the study found that a child's income accounted for between 34 and 37 percent of the total household income. This study concludes that a child labourer's income is important to the livelihood of a poor family. There is a questionable aspect of this study. It was conducted in the form of a survey, and the responses were given by the parents of the child labourers. Parents would be biased into being compelled to support their decision to send their children to work, by saying that it is essential. They are probably right: for most poor families in India, alternative sources of income are close to non-existent. There are no social welfare systems such as those in the West, nor is there easy access to loans, which will be discussed.

What is apparent is the fact that child labourers are being exploited, shown by the pay that they receive. For the same type of work, studies show that children are paid less than their adult counterparts. Table 2.1 shows a comparison of child wages to adult wages obtained by a study of child workers in the Delhi region of India. Although 39.5% of employers said that child workers earn wages equal to adults, if the percentage of employers admitting that wages are lower for children are added up, a figure of 35.9% is found. This figure is significant when taking the bias of employers into account. Employers would have been likely to defend their wages for child workers, by saying that children earn the same wages as adults. The fact that no employers stated children earned more than adults, should be also be noted. Other studies have also concluded that "children's earnings are consistently lower than those of adults, even where there two groups are engaged in the same tasks" (Bequele and Boyden cited in Grootaert and Kanbur 1995, 195).

What Role does Poverty Play?

The percentage of the population of India living in poverty is high. In 1990, 37% of the urban population and 39% of the rural population was living in poverty (International Labour Organization 1995, 107). Poverty has an obvious relationship with child labour, and studies have "revealed a positive correlation-in some instances a strong one-between child labour and such factors as poverty" (Mehra-Kerpelman 1996, 8). Families need money to survive, and children are a source of additional income. Poverty itself has underlying determinants, one such determinant being caste. When analysing the caste composition of child labourers Nangia (1987) observes that, "if these figures are compared with the caste structure of the country, it would be realised that a comparatively higher proportion of scheduled caste children work at a younger age for their own and their families' economic support" (p. 116). Scheduled caste (lower caste) children tend to be pushed into child labour because of their family's poverty. Nangia (1987) goes on to state that in his study 63.74% of child labourers said that poverty was the reason they worked (p. 174).

The combination of poverty and the lack of a social security network form the basis of the even harsher type of child labour — bonded child labour. For the poor, there are few sources of bank loans, governmental loans or other credit sources, and even if there are sources available, few Indians living in poverty qualify. Here enters the local moneylender; for an average of two thousand rupees, parents exchange their child's labour to local moneylenders (Human Rights Watch 1996, 17). Since the earnings of bonded child labourers are less than the interest on the loans, these bonded children are forced to

Scheduled caste (lower caste) children tend to be pushed into child labour because of their family's poverty. Nangia (1987) goes on to state that in his study 63.74% of child labourers said that poverty was the reason they worked.

work, while interest on their loans accumulates. A bonded child can only be released after his/her parents makes a lump sum payment, which is extremely difficult for the poor (Human Rights Watch 1996, 17). Even if bonded child labourers are released, "the same conditions of poverty that caused the initial debt can cause people to slip back into bondage" (International Labour Organization 1993, 12).

Even though poverty is cited as the major cause of child labour, it is not the only determinant. Inadequate schools, a lack of schools, or even the expense of schooling leaves some children with little else to do but work. The attitudes of parents also contribute to child labour; some parents feel that children should work in order to develop skills useful in the job market, instead of taking advantage of a formal education.

Indian Government Policy on Child Labour

From the time of its independence, India has committed itself to be against child labour. Article 24 of the Indian constitution clearly states that "No child below the age of fourteen years shall be employed to work in any factory or mine or employed in any hazardous employment" (Constitution of India cited in Jain 1985, 218). Article 39 (e) directs State policy such "that the health and strength of workers . . . and the tender age of children are not abused and that citizens are not forced by economic necessity to enter avocations unsuited to their age or strength" (Constitution of India cited in Human Rights Watch 1996, 29). These two articles show that India has always had the goal of taking care of its children and ensuring the safety of workers. The Bonded Labour System Act of 1976 fulfils the Indian Constitution's directive of ending forced labour. The Act "frees all bonded labourers, cancels any outstanding debts against them, prohibits the creation of new bondage agreements, and orders the economic rehabilitation of freed bonded labourers by the state" (Human Rights Watch 1996, 30). In regard to child labour, the Indian government implemented the Child Labour Act in 1986. The purpose of this act is to "prohibit the employment of children who have not completed their 14th year in specified hazardous occupations and processes" (Narayan 1988, 146). ILO convention No. 138 suggests that the minimum age for employment should not be less than fifteen years, and thus the Child Labour Act of 1986 does not meet this target (Subrahmanya 1987, 105).

> ***All of the policies that the Indian government has in place are in accordance with the Constitution of India, and all support the eradication of Child Labour.***

A recent advance in government policy occurred in August of 1994, when then-Prime Minister Narasimha Rao announced his proposal of an Elimination of Child Labour Programme. This program pledges to end child labour for two million children in hazardous industries as defined in the Child Labour Act of 1986, by the year 2000. The program revolves around an incentive for children to quit their work and enter non-formal schooling: a one hundred rupee payment as well as one meal a day for attending school (Human Rights Watch 1996, 119-120). Where the funds for this program will come from is unknown. The government needs eight and a half billion dollars for the program over five years, and yet "about 4 percent of the five-year estimated cost was allocated for child labour elimination programs in 1995-1996" (Human Rights Watch 1996, 120).

All of the policies that the Indian government has in place are in accordance with the Constitution of India, and all support the eradication of Child Labour. The problem of child labour still remains even though all of these policies are existent. Enforcement is the key aspect that is lacking in the government's efforts. No enforcement data for child labour laws are available: "A glaring sign of neglect of their duties by officials charged with enforcing child labour laws is the failure to collect, maintain, and disseminate accurate statistics regarding enforcement efforts" (Human Rights Watch 1996, 131). Although the lack of data does not mean enforcement is nonexistent, the number of child labourers and their work participation rates show

that enforcement, if existent, is ineffective.

Education and its Effects on Child Labour

What is the Current State of Education in India in Comparison to Other Developing Countries?

India's state of education lacks effectiveness in yielding basic literacy in the population. It has been observed that "the overall condition of the education system can be a powerful influence on the supply of child labour" (Grootaert and Kanbur 1995, 193). The 1991 Census of India shows that 64% of males and 39% of females are literate (The World Bank 1995, 113) — an increase of 17% and 14% respectively from the 1981 census (Census of India 1981 cited in Weiner 1991, 11). These increases seem significant, but India's overall literacy rate of 40.8% lags behind other developing countries such as China (72.6%), Sri Lanka (86.1%), and Indonesia (74.1%), all of which have Per Capita Incomes comparable to India's (Weiner 1991, 161). India's primary-school survival rate of 38.0% is also lower than China's rate of 70.0% and Sri Lanka's rate of 90.8% (United Nations Educational, Scientific, and Cultural Organization cited in Weiner 1991, 159). This indicates that few students are reaching fifth or sixth grade, and dropout rates support this conclusion. Dropout rates measured by the Department of Education show that 35% of males and 39% of females dropout (Government of India cited in The World Bank 1995, 113). What is the reason for these high dropout rates and poor school survival rates? One possible argument given by Nangia (1987) is that "the pressing need for the child's earnings as well as low perceived advantages of school" cause parents to withdraw children from school and deposit them in the labour force (p.182). In this case, poverty and the inadequacy of the school system play significant roles in causing child labour, but also affect each other. Poverty forces high dropout rates, and thus no matter how good schools are, school survival rates and literacy rates will still remain low.

In this case, poverty and the inadequacy of the school system play significant roles in causing child labour, but also affect each other.

Compulsory Education

The concept of compulsory education, where all school aged children are required to attend school, combats the force of poverty that pulls children out of school. Policies relating to compulsory education not only force children to attend school, but also contribute appropriate funds to the primary education system, instead of higher education.

An example of a country where compulsory education has worked to reduce child labour is Sri Lanka. The Sri Lankan government decided to enforce compulsory education in the 1920's and 1930's (Weiner 1991, 173). With this compulsory education policy, school participation rates rose from 58 percent in 1946 to 74 percent in 1963 (Weiner 1991, 173). The literacy rate also increased from 58 percent in 1946 to 86 percent in 1984 (Weiner 1991, 172). The corresponding result has been that the employment rate of children in the ten to fourteen age group has shown a substantial decline from 13 percent in 1946 to 6.2 percent in 1963 (Weiner 1991, 174), and currently stands at 5.3% for males and 4.6% for females (International Labour Organization 1995, 113). These trends lead Weiner (1991) to the conclusion that "Sri Lanka has achieved a remarkably high enrolment rate, high retention rate, and a corresponding decline in child labour" (p.175).

The Indian state of Kerala distinguishes itself from the rest of India with its educational system. The government of Kerala allocates more funds to education than any other state, with a per capita expenditure of 11.5 rupees compared to the Indian average of 7.8 rupees (Weiner 1991, 175). It is not only the expenditure of more funds, but where the funds are used that make the difference. Kerala spends more money on "mass

education than colleges and universities" (Weiner 1991, 176). No correlation exists between expenditure on education and literacy when comparing different countries because some countries, such as India, spend more funds on higher education than primary education (Weiner 1991, 160). Kerala's emphasis on primary education has lead to a dropout rate of close to 0%, a literacy rate of 94% for males and 86% for females (The World Bank 1995, 113), and a low child work participation rate of 1.9% (in 1971) compared to the Indian average of 7.1% in 1971 (Weiner 1991, 175). Weiner (1991) points out that "The Kerala government has made no special effort to end child labour. It is the expansion of the school system rather than the enforcement of labour legislation that has reduced the amount of child labour" (p. 177).

Article 45 of the Constitution of India states that "The State shall endeavour to provide within a period of ten years from the commencement of this Constitution for free and compulsory education for all children until they complete the age of fourteen years" (Jain 1985, 219). It is obvious that "the State" has not achieved this goal, shown by the literacy, dropout, and child work participation rates discussed previously. A National Policy on Education was adopted in 1986, and it addresses the need to "expand and improve basic education" (The World Bank 1995, 124). Recently, the central government implemented The District Primary Education Program (DPEP), in an attempt to act on the recommendations of the National Policy on Education. The program involves the subsidizing of approved investments, by the Government of India. The central government will provide a grant of 85% on expenditures by the states (The World Bank 1995, 123). Since these measures have been implemented very recently, results cannot be obtained and the effectiveness of the DPEP cannot be commented on at this time.

Conclusion

Child labour is a significant problem in India. The prevalence of it is shown by the child work participation rates which are higher in Indian than in other developing countries.

The major determinant of child labour is poverty. Even though children are paid less than adults, whatever income they earn is of benefit to poor families. In addition to poverty, the lack of adequate and accessible souces of credit forces poor parents to engage their children in the harsher form of child labour — bonded child labour. Some parents also feel that a formal education is not beneficial, and that children learn work skills through labour at a young age. These views are narrow and do not take the long term developmental benefits of education into account. Another determinant is access to education. In some areas, education is not affordable, or is found to be inadequate. With no other alternatives, children spend their time working.

The Constitution of India clearly states that child labour is wrong and that measures should be taken to end it. The government of India has implemented the Child Labour Act in 1986 that outlaws child labour in certain areas and sets the minimum age of employment at fourteen. This Act falls short of making all child labour illegal, and fails to meet the ILO guideline concerning the minimum age of employment set at fifteen years of age. Though policies are in place that could potentially reduce the incidence of child labour, enforcement is a problem. If child labour is to be eradicated in India, the government and those responsible for enforcement need to start doing their jobs. Policies can and will be developed concerning child labour, but without enforcement they are all useless.

The state of education in India also needs to be improved. High illiteracy and dropout rates are reflective of the inadequacy of the educational system. Poverty plays a role in the ineffectiveness of the educational system. Dropout rates are high because children are forced to work in order to support their families. The attitudes of the people also contribute to the lack of enrolment — parents feel that work develops skills that can be used to earn an income, while education does not help in this matter. Compulsory education may help in regard to these attitudes.

The Constitution of India clearly states that child labour is wrong and that measures should be taken to end it.

The examples of Sri Lanka and Kerala show that compulsory education has worked in those areas. There are differences between Sri Lanka, Kerala and the rest of India. What types of social welfare structures do these places have? What are the attitudes of the people? Is there some other reason why the labour market for child labourers is poor in these areas? These are some questions that need to be answered before applying the concept of compulsory education to India? India is making progress in terms of educational policy. The DPEP has been implemented only four years ago, and so results are not apparent at this time. Hopefully the future will show that this program has made progress towards universal education, and eradicating child labour.

Child labour cannot be eliminated by focusing on one determinant, for example education, or by brute enforcement of child labour laws. The government of India must ensure that the needs of the poor are filled before attacking child labour. If poverty is addressed, the need for child labour will automatically diminish. No matter how hard India tries, child labour always will exist until the need for it is removed. The development of India as a nation is being hampered by child labour. Children are growing up illiterate because they have been working and not attending school. A cycle of poverty is formed and the need for child labour is reborn after every generation. India needs to address the situation by tackling the underlying causes of child labour through governmental policies and the enforcement of these policies. Only then will India succeed in the fight against child labour.

Table 1.1-Percentage distribution of child workers (in India) by industrial divisions in 1981 (Census of India 1981 cited in Nangia 1987, 72).

Type of Worker	Industrial Divisions (refer to text for explanation of divisions)								
	I	II	III	IV	V	VI	VII	VIII	IX
Urban	5.32	14.73	3.07	0.20	39.16	3.27	15.03	2.45	16.77
Rural	38.87	45.42	6.61	0.25	5.72	0.47	0.96	0.10	1.60
Total	35.93	42.74	6.30	0.24	8.65	0.72	2.19	0.30	2.93

Table 2.1-Comparison of child wages and adult wages for the same type of job. (Child workers of Delhi region — sample study, 1983 cited in Nangia 1987, 198).

	Child wages compared to adult wages					
	Equal	Equal to Half	Half to One-third	One-third to One-quarter	Less than One-quarter	Uncertain
Percent according to employers' response	39.5	19.1	7.0	3.7	6.1	24.7

References

- Devi, R. 1985. Prevalence of Child Labour in India: A Secondary Data Analysis. In Child Labour and Health: Problems & Prospects, edited by U. Naidu and K. Kapadia. Bombay: Tata Institute of Social Sciences.
- Grootaert, C., and R. Kanbur. 1995. Child labour: An economic perspective. International Labour Review 134:187-201.
- Human Rights Watch. 1996. The Small Hands of Slavery-Bonded Child Labour in India. New York: Human Rights Watch.
- International Labour Organisation. 1992. World Labour Report. Geneva: International Labour Organisation.
- International Labour Organization. 1993. World Labour Report. Geneva: International Labour Organization.
- International Labour Organization. 1995. World Labour Report. Geneva: International Labour Organization.
- Jain, S. N. 1985. Legislation and Government Policy in Child Labour. In Child Labour and Health: Problems & Prospects, edited by U. Naidu and K. Kapadia. Bombay: Tata Institute of Social Sciences.
- Mehra-Kerpelman, K. 1996. Children at work: How many and where? World of Work 15:8-9.
- Nangia, P. 1987. Child Labour: cause-effect syndrome. New Delhi: Janak Publishers.
- Narayan, A. 1988. Child labour policies and programmes: The Indian experience. In Combating Child Labour, edited by A. Bequele and J. Boyden. Geneva: International Labour Organisation.
- Subrahmanya, R.K.A. 1987. Can the Child Labour Act of 1986 Effectively Control Child Labour? In Young Hands at Work-Child Labour in India, edited by M. Gupta and K. Voll. Delhi: Atma Ram & Sons.
- The World Bank. 1995. Economic Developments in India: Achievements and Challenges. Washington: The World Bank.
- Weiner, M. 1991. The Child and the State in India. Princeton: Princeton University Press.

Add. : B-313,
Delhi Administration Flat,
Timarpur, Delhi-110054

Sociology

Islam, Modernity and Justice for Women

Dr. Ashok Kumar

Linguistically speaking, Islam has a very fundamental concern for peace, justice, and well-being. These values should be inwardly internalized by each and every Muslim in the first place. The feeling of being secure and safe in the mind of every Muslim individual is a basic capital for transcending the same feeling to others, making them sensitized to society's needs and interests.

Understanding Islam

To understand the relationship between Islam and modernity, it is important to begin with an understanding of the religion itself. Generically, Islam is a religion which brings the mission of liberation and salvation. Islam came to the world in order to bring a set of new morality because of its metaphysical and humanitarian characters. It brings not only vertical dimension teachings, but also horizontal aspects for humanity. It is a teaching deriving from God and oriented toward humanity (Imarah 1998).

Thus, Islam highly respects the dimension of humanity. The presence of Islam as a moral source can be observed in its achievement in transforming pre-Islamic Arabic nomads into civilized communities with values and morality. With the presence of Islam, these communities, being used to living in open deserts and highly susceptible to inter-tribal wars and conflicts, achieved success becoming sensitized to elevated values and morality. Inter-tribal wars and conflict occurred because of their lack of values and morality, which terminated after Islam spread its teachings. The Koran, Muslims' holy book and reference, has manifested itself in a language laden with aesthetics, which has the power to influence the nomads' emotions and awareness in shaping society's humanitarian vision.

Linguistically, Islam derives from the root words implying the meaning of peace, salvation, *maslahah* (well-being) and justice. Islam is a metamorphosis of a three-letter root word (*tsulatsi),* i.e. *salima-yaslamu-salaaman,* meaning safe and peaceful. The four-letter root word (*ruba'i)* namely *aslama-yuslimu-islaman* means to save and to bring peace.

Linguistically speaking, Islam has a very fundamental concern for peace, justice, and well-being. These values should be inwardly internalized by each and every Muslim in the first place. The feeling of being secure and safe in the mind of every Muslim individual is a basic capital for transcending the same feeling to others, making them sensitized to society's needs and interests. This feeling generally grows along with the process of ritualism and ritual practices, which will strengthen one's commitment and vision on the equality of all human beings. Islam teaches that there is no hierarchical structure among Muslims, all are equal before God. The combination of spiritual and ritual practices will produce Muslims who have balanced personalities, inwardly and outwardly, vertically and horizontally.

Islam, Modernity and Modernization

Is Islam compatible with modernity? How do Muslims respond to the continuous change of the world which has grown at a rapid and unprecedented rate in the last century? How do we resolve the problem of maintaining the legacy of the past in our

religious tradition and integrate change into society and our lives? How do we introduce change smoothly, which is rare and difficult, without disrupting societies and dislocating values? These are some questions that may trigger a discussion on the relations between Islam and modernity. There are various responses to this problem, depending on our point of view. An economist has one kind of answer, a sociologist perhaps another. A secularist has a certain type of answer, which may be different from a fundamentalist's.

Modernity and modernization are words that are continuously contested in contemporary Islamic discourse. Modernization, the introduction into society of the artifacts of contemporary life such as communications, technology, or household equipment, has permeated into virtually all societies including Muslims. But modernity, a way of thought and of living in the contemporary world and of accepting change, as part of political and cultural processes by integrating new ideas into society, may not always be present. One may be using modern technologies and modern communication system, but maintains a past-oriented closed mindset and resists new ideas of modernity such as democracy or pluralism. The opposite can be true; one may lack modern facilities and live traditionally but adopt the attitudes of modernity. These people assume an attitude of enquiry into how people make choices, be they moral, personal, economic, or political. This problem of rational choice is central to modern people. Choice, query and doubt—which imply rationality, debate, discussion and disagreement—are part and parcel of modern mindset.[1]

Muslims' Responses to Modernity

How do Muslims react to modernity? There are several forms of reactions, but for simplicity purpose they will be grouped into two: the reformist/ modernist and the fundamentalist. The modernists are devout, knowledgeable Muslims whose mission is threefold: first, to define Islam by bringing out the fundamentals in a rational and liberal manner; second, to emphasize, among others, the basic ideals of Islamic brotherhood, tolerance, and social justice; and third, to interpret the teaching of Islam in such a way as to bring out its dynamic character in the context of the intellectual and scientific progress of the modern world.[2] The modernists sincerely endeavour to reconcile differences between traditional religious doctrine and secular scientific rationalism, between unquestioning faith and reasoned logic, and between continuity of Islamic tradition and modernity.

Reformists/modernists

Many consider Jamal al-Din al-Afghani (1838-1897) as the father of Islamic modernism. He was foremost a belief in the transcendence of God and in reason. Independent judgment and interpretation, the so-called *ijtihad,* is a necessity and the duty of man is to apply the principles of the Qur'an afresh to the problems of the time. He extremely critical of traditional *ulama* (religious scholars) who discouraged any new and creative thought and convinced that this type of medieval mentality was primarily responsible for the decline of Muslim power and influence in the world.

Islam must be active and energetic. Al-Afghani supported this principle by quoting the Qur'an that "God changes not what is in a people until they change what is in themselves.' He argued that Europeans had integrated change, and Muslims must do it in their own way by becoming better Muslims. He thought that Europeans had modernized because they were no longer really Christian; and Muslims, conversely, were weak because they were not really Muslims.[3]

He questioned the division of knowledge into two categories: Muslim knowledge and European knowledge. He argued that knowledge, which is a noble thing, has no connection with any particular group. Islam is the closest religion to knowledge and learning and there is no contradiction between (modern) knowledge and the basic principles of Islam. Al-Afghani strongly recommended acquiring Western knowledge, technology, and services, as long as borrowing from the West was selective and served the basic needs and aspirations of the Muslim people. In this undertaking, which he believed would raise the standard of living of all Muslims, al-Afghani struggled to initiate an Islamic reformation similar to the

successful Christian Reformation sparked by Martin Luther.[4]

The seeds for *ijtihad* (logical reasoning) planted by al-Afghani were sustained by his most prominent Egyptian student and ardent follower, Muhammad Abduh (1849-1905), who insisted that Muslims could improve their lives and their society only by carefully studying the Qur'an in the light of reason and rationality. He taught that the Qur'an gives all Muslims the right to differ even with the *ulama,* if the latter were unreasonable or irrational. Abduh constantly encouraged Muslims to approach problems in the true spirit of Islam: through analysis, reason and logic. Because of his emphasis on reason and rationality, he considered Islam and constructive science twin offspring of reason, which "God gave to guide us in the right path."[5]

The reformers of Islamic thought and practice such as al-Afghan, Abduh, or the more contemporary like Mahmud Muhammad Taha of Sudan, Muhammad Abed Al-Jabri, Ali Shariati of Iran or Abdurrahman Wahid of Indonesia, are knowledgeable not only about Islam but also about modern non-Islamic Western ideas. They believe in the convergence of Islamic and universal ethics and eager to introduce them into their own societies. Hence, unlike the fundamentalists, modernists do not fear or dislike Western ideas and practices. On the contrary, they welcome non-Islamic ideas and practices that they consider beneficial to the progress and prosperity of Muslim societies. They imaginatively synthesize Islamic and Western ideas to produce a reasonable and relevant reinterpretation of Islamic thought with enlightened cosmopolitan, liberal, and realistic perspectives. Modernists believe that this tolerance for diversity and willingness to adjust rapidly to a changing environment contributes to the emancipation of the individual Muslim and to the progress of Muslim societies.[6]

Fundamentalism

Firstly referred to in the U.S. in the early 1920's in connection with the battles of leading evangelical Protestants against liberal and progressive spirits of the age, fundamentalism is now observed to exist in all religions. The term has recently been used reluctantly and apologetically to describe new radical Islamic movements, or to offer substitute terms such as 'revivalists,' 'religious nationalists,' 'Islamic radicals,' 'political Islam,' 'Islamists,' or 'extremists.'

For all the controversy, it is clear that fundamentalism can lead to superficiality and reductionism in one's understanding of the religion. Deeper spiritual dimension of the religion cannot be captured and reflected because fundamentalisms tend to refer to religious texts rigidly and literally. Fundamentalist thinking is no more relevant in the currently fast changing world because human problems are so complex and diverse. Religious texts need to be reinterpreted by putting at the forefront the goal of the religion (*maqasid al-syari'ah*)..

Two tasks are relevant in understanding fundamentalism: to ascertain why it has emerged in the larger cultural-historical sense—what is the common cause with which fundamentalism is associated; and to explain the particularities of its emergence—why here and not there, why now and not then, why among these groups and not those, and so on (Almond 2003).[7] Almond et all categorize fundamentalist movements into four: 1) world conqueror, 2) world transformer, 3) world creator, and 4) world renouncer. To the first group they classify, on top, Al-Qaeda. Others include, *inter alia,* the Revolutionary Shi'ism in Iran, the Sunni radical movements in Egypt (Muslim Brotherhood), the Ulster Protestants (sparked by the entrenched ethnic conflict between Scot and English-derived Protestants and Irish Catholics), the Sikh militants, and the Sri Lankan Buddhist extremists. Meanwhile, the world transformer group comprises among others of the U.S. Protestant fundamentalism and the Pentecostalism in Guatemala.

Ideologically, fundamentalism is marked by several characteristics.[8] First, it reacts against marginalization of the religion. Fundamentalist movements form in reaction to, and in defense against, the processes and consequences of secularization and modernization that have penetrated the larger religious community. Protestants, Catholics, Muslim, Jews, Hindus, Sikhs and Buddhists are losing their members to the secular world outright or to relativism—the assumption that any given religion is culture-bound and thus relatively

true or false. Second, fundamentalists demonstrate moral Manichaeanism, a dualistic worldview which uncompromisingly divides the world into two: the light (the world of the spirit and of the good) and the darkness (the evil). Third, they are selective. For example, they accept much of the modern science and modern technology such as radio, television, computer, and so on but refuse the concepts arising out of modernity such as democracy. Fourth, fundamentalists are absolutist and inerrant. They steadfastly believe in the infallibility of certain religious interpretation and oppose hermeneutical methods developed by secularized philosophers or critics.

Modernity is the common denominator of the outside forces, which is often viewed as an external threat by the fundamentalists. Failure of modernizing secular state is evident by political decay, the decline of politics into authoritarianism, patrimonialism, corruption, and the dissatisfaction with the project of the post colonial secular states. The growing saliency of religion in the politics of countries throughout the world is a struggle for cultural liberation in search for authentic identity, political representation, and more equitable development in third world countries.

The unbalanced pace of modernization and development has led many Muslim countries into developmental crises. The rapid changes through a process of technological, economic, political, social, and cultural innovation, however, have not been followed by the development of their people. In contrast to modernization, development denotes the relative welfare of a nation's population. In most Muslim countries, appropriate development has not happened because it is neither holistic nor healthy. Modernization and development have become paradoxical. Modernization has occurred rapidly, while appropriate development has not. In the West, modernization accompanied the growth of a middle class. Because of its relative success in the West, modernization has become identified with Westernization and secularization.

The unhappy predicament of the nation-building, modernizing, and secularizing Muslim world has given rise to a number of crises, afflicting the fragile nation states of developing world.[9] Of the five developmental crises—identity, legitimacy, penetration, distribution, participation—the identity crises is often the precipitating crisis, triggering political chaos and national catastrophe. Rapid modernization has broken the familiarity of traditional society, uprooting people from their traditional communities and moving them to new social environments where they oft become victims of the development. These conditions are fertile grounds for the breeding of fundamentalism.

Needs to Focus on Women

During the last three decades the world has witnessed a growing process of Islamization or re-Islamization, the application of Islamic principles and values to personal and public life. Along with greater religious observance among many individuals of their prayer, fasting, dress code and so on, there grows as well as the creation of new institution such as Islamic banking, insurance companies, and finance houses. Although many speak of the failure of political Islam, a more widespread and significant reality exists. Islam is becoming a more visible and dynamic force in Muslim life and societies.

While this growing Islamization has had an impact on states, societies, and communities, women seem to be impacted the most. More than anything else, gender-related issues present some of the most difficult and complicated challenges to contemporary Islamic law. Islamic legal system regulating women-related issues, the family law *(al-akhwal al-syakhsyiyyah),* has remained static and immutable since its codification a thousand years ago. Time and space have changed, and Muslims are currently living in a completely different socio-cultural and political context, but the conventional *shari'a* on gender and women remain unchanged. This same law has been used as a reference on issues like gender relations, polygamy, divorce, inheritance, women's leadership role, etc. which, unsurprisingly, reaffirms the already patriarchal attitudes of many Muslim males. Under the guise of uplifting Islamic law, the war against women is launched demonstrating the misuse and abuse of God's authority in order

to impose a suffocating patriarchy among Muslim society. It is imperative that Muslim legal specialists develop critical ways of dealing with these issues.

The resurgence of Islamic fundamentalism in the last decades has been signified most obviously by its perseverance in reviving Islamic doctrines on women's status. Fundamentalists appear to share a common sense of threat from changes in gender relations, triggered by the spread of capitalism and modern concepts of feminism. They believe in the doctrines that put restrictions on women. On the basis of *shari'a* and *kodrat* (nature) women have to be controlled, subjugated and live in the domestic sphere. Hasan al-Bana, founder of Muslim Brotherhood in Egypt, expresses his fear of women's liberation and equality by saying that women's place is the home, and their primary roles are mother, wife, and housekeeper. Social mixing between men and women is prohibited. Another fundamentalist Muslim, Abul A'la al-Mawdudi, founder of Jamiat-I Islami from Pakistan, says that one of the basic human rights is respect for women's chastity. To preserve chastity women must be kept household and in *purdah*.

Cases of discrimination and violence against women in the name of Islam can be documented from worldwide. Experiences of formalization of *shari'a* in Muslim countries like Saudi Arabia, Afghanistan, Sudan, Iran, and other gulf countries show that women are systematically marginalized, forced to veil themselves, may not go out without a guardian, or work in public places. Women are made to become detainees in their husbands' homes.

In Pursuit of Islamic Feminism

"Feminism" is a contested term even in their birthplace, the West. Historical literature is filled with different types of feminists who would certainly find difficulties identifying common ground. Likewise is the notion "Islamic feminism." Scholars and activists are divided in terms of acceptance of this term. Some consider it problematic as they find it impossible to reconcile between Islam and feminism. They believe that the power structure in Muslim societies is so male dominated that the epistemology of Islam is contrary to women's rights. Some activists who truly work to promote women's rights in Islam refuse to be called Islamic feminists because of their reluctance to be identified with Western feminism.

Increasing pressures on women following the Islamist movement have induced the birth of Islamic feminism. Contrary to secular feminists, Muslim feminists keep the faith in the religion and religious teachings while trying to promote egalitarian ethics of Islam by using the female supportive verses of the Qur'an in their fights for women's rights, especially for women's access to education. In Iran the failures of the Islamic Republic of Iran (IRI) to deliver its promise to honour and protect women has led to the emergence of the Islamic challenge, or what the Iranian Muslim feminist Ziba Mir-Hosseini calls "an indigenous locally, produced, feminist consciousness."[10]

In Indonesia, the emergence of Islamic feminism has been triggered by the growing conservatism in the last decades along with the growing Islamism that has threatened women's relatively good position and status in society. This movement neither adopts Western feminism nor follows Middle Eastern model of gender relations, refuses both secularism and Islamism, and is purely based on values and tradition of Islam prevalent in Indonesia. The ultimate goal of the movement is to pursue justice for women, justice that is promised by Islam to all humankind.

References

1. John Cooper, et al. (eds.) *Islam and Modernity: Muslim Intellectuals Respond,* London: I.B. Tauris, 2000, pp. 2-3.
2. Mir Zohair Husain, *Global Islamic Politic,* New York: HarperCollins College Publishers, 1995, p. 95.
3. Derek Hopwood, "The Culture of Modernity in Islam and the Middle East," in Cooper et al (eds.), *Islam and Modernity,* pp. 1-2.
4. Nikki R. Keddie, *Sayyid Jamal al-Din al-Afghani: A Political Biography,* Berkeley, CA: University of California Press, 1972, p. 141.
5. Husain, *Global Islamic Politic,* p. 99.
6. Ibid, p. 110.
7. For further information, please refer to Gabriel A. Almond, R. Scott Appleby, and Emmanuel Sivan, *Strong Religion: The Rise of Fundamentalisms around the World,* Chicago: The University of Chicago Press, 2003.
8. Ibid, pp. 93-97.
9. Mir Zohair Husain, ibid. pp. 162-177.
10. Ziba Mir-Hosseini, "Women and Politics in Post-Khomeini Iran: Divorce, Veiling, and Emerging Feminist Voice," in Haleh Afshar (ed.) *Women and Politics in the Third World,* London: Routledge, 1996, pp. 142-69.

Add. : North Dahiyawan, Chapra (Bihar)

Political Science

A Model of Contests for Power

Dr. Anand Bhushan
Lecturer, Deptt. of Pol. Science,
Z.A. Islamia College,
Siwan (Bihar)

Now consider a leader who is supported by n captains, each of whom is promised some income y as long as the leader retains power in this island. For simplicity, let us consider stationary scenarios where all rivals are expected to have support from m captains.

Let us consider an island in which political power yields some income R, a flow of taxes and rents per unit time, which can be consumed or allocated in any way by the ruler of the island. To become the ruler of the island, a leader must first defeat the previous ruler in battle.

Then, to stay in power, the ruler must defeat similar challengers who arrive as a Poisson process with an expected rate λ. (So in any time interval of length *t*, the expected number of challenges is l*t*. In any short time interval of length e, the probability of a challenger arriving is $1 - e^{-\lambda\varepsilon} \approx \lambda\varepsilon$.)

A leader needs active supporters to defeat any rival or challenger. We may think of these supporters as captains who bring military units into battle (or as precinct captains who deliver votes in a district). Let $p(n|m)$ denote a leader's probability of winning when he is supported by *n* captains and his rival is supported by *m* captains. Adopting a standard assumption for such contests (Skaperdas 1990), let us suppose that there is some positive constant *s* such that:

$p(n|m) = n^s/(n^s + m^s)$.

We will see that the most interesting cases occur when *s* is between 1 and 2, representing situations where competitive forces have some moderately increasing returns to scale. Although our interpretation of force sizes may suggest restricting *n* and *m* to be integers, the mathematical analysis here will be simplified by allowing such force sizes to be any non-negative real numbers.

Let *c* denote the cost for each captain to support the leader in battle against a rival or challenger. The leaders and captains are all risk neutral and discount future pay at some rate δ .

In the analysis of this model, we will use a few basic facts about the Poisson arrival of challengers which are summarized by the following lemma.

Lemma. *Given any point of time when there is no immediate challenge confronting the ruler, let T denote the waiting time until the next challenger arrives. Then T is an exponential random variable with mean* 1/λ, *the expected discount factor for payoffs delayed by T is*

$$E\left(e^{-\delta T}\right) = \int_0^\infty e^{-\delta t} \lambda e^{-\lambda t} dt = \lambda/(\delta+\lambda),$$

and a stream of income y from now until the next challenger arrives is worth

$$e\left(\int_0^T E^{-\delta t} y dt\right) = E[y(1-e^{-\delta t})/\delta] = y/(\delta+\lambda).$$

Now consider a leader who is supported by n captains, each of whom is promised some income y as long as the leader retains power in this island. For simplicity, let us consider stationary scenarios where all rivals are expected to have support from m captains. In such an environment, let $U(n, y|m)$ denote the expected discounted value of a captain's payoff, at any point in time when there is no challenger. By the lemma, $U(n,y|m)$ satisfies the recursive equation

$$U(n, y|m) = y/(\delta+\lambda) + [\lambda/(\delta+\lambda)]\, p(n|m)\, [U(n, y|m) - c),$$

and so

$$U(n, y|m) = (y - \lambda c)/[\delta + \lambda - \lambda p\,(n|m)].$$

When a challenger arrives, just before battle, the captain faces an immediate cost of c, which will be followed rewards worth $U(n,y|m)$ only in the $p(n|m)$-probability event that his leader wins. Thus, the captain's expected payoff before going into battle is

$$-c+p(n|m)\, U(n, y|m) = [(n|my - c(\lambda + \delta)]/[\lambda + \delta - \lambda p(n|m)].$$

We assume that the captain has the alternative to avoid battle and get payoff 0, and so the captain is only willing to fight if this expected payoff is non-negative, which holds iff

$$y \geq Y\,(n|m) = c\,(\delta + \lambda)/p(n\,|\,m).$$

That is, $Y(n|m)$ is the smallest income stream that the leader can promise to his n captains, when all rivals are expected to have the support of m captains. In this scenario, the leader will get personal use of the residual income R”ny as long as he remains in power. So the expected discounted value of the leader's payoffs, at any point of time when he is ruler of the island and faces no immediate challenger, is the quantity $V(n,y|m)$that satisfies the recursive equation

$$V(n, y|m) = (R - ny)/(\delta + \lambda) + [\lambda/(\delta+\lambda)]\, p(n|m)\, V\,(n, y|m),$$

and so

$$V(n, y|m) = (R - ny)/[\delta + \lambda - \lambda p(n|m)].$$

On the eve of battle against such a rival, the leader's expected discounted value of payoffs is

$$W(n, y|m) = p\,(n|m)\, V(n, y|m) = p(n|m)\, (R - ny)/[\delta + \lambda - \lambda p(n\,|\,m)].$$

Now the critical question is whether the leader's promises to pay his captains are credible. When we are considering the foundations of the state itself, we cannot assume any outside agency to enforce contracts between the leader and his captains. But as the leader's power is derived from his captains' support in battle, the leader could be punished by his captains withdrawing their support in the future. So the constraints on what a leader can credibly promise to pay his supporters must depend on the structure of his relationships with his supporters. In our analysis, we consider four different kinds of structures for the relationship between the leader and his active supporters. These structures effectively constitute four kinds of simple political systems, which we call *absolute monarchy*, *monarchy with a weak court*, *monarchy with a strong court*, and *oligarchy*. We formally define each in turn.

References

Acemoglu, Daron, and Robinson, James. 2006. Economic Origins of Dictatorship and Democracy Cambridge, MA: Cambridge University Press.

Basu, Kaushik. 2000. Prelude to Political Economy. Oxford, UK: Oxford U Press.

Baye, Michael R., Kovenock, Dan, and de Vries, Casper G.. 1994. "The solutions to the Tullock rent-seeking game when $R > 2$: mixed-strategy equilibria and mean dissipation rates." Public Choice 81 (December): 363–80.

Becker, Gary, and Stigler, George. 1974. "Law enforcement, malfeasance, and compensation of enforcers." J. Legal Studies 3 (January): 1–18.

Bol, Peter. 1998. "Government, society, and state: on the political visions of Ssu-ma Kuang and Wang An-shih." In Ordering the World: Approaches to State and Society in Sung Dynasty China, ed. Hymes, R. and Schirokauer, C.. Berkeley, CA: U. California Press, 128–92.

Bueno de Mesquita, Bruce, Smith, Alastair, Siverson, Randolph M., and Morrow, James D.. 2003. The Logic of Political Survival. Cambridge, MA: MIT Press.

Egorov, Georgy, and Sonin, Konstantin. 2005. "The killing game: reputation and knowledge in the politics of succession." CEPR discussion paper.

Egorov, Georgy, and Sonin, Konstantin. 2006. "Dictators and their viziers: endogenizing the loyalty-competence trade-off." CEPR discussion paper.

Finer, Samuel E. 1997. The History of Government from the Earliest Times. Oxford, UK: Oxford U Press.

Hardin, Russell. 1989. "Why a Constitution." In The Federalist Papers and the New Institutionalism, ed. Grofman, B. and Wittman, D.. New York: Agathon Press, 100–20.

Hume, David. 1748. "Of the Original Contract." Reprinted in Political Essays, ed. Haakonssen, K.. Cambridge U. Press (1994), 186–201.

Vote Buying or Turnout Buying? Machine Politics and the Secret Ballot with Special Reference to Argentina

Dr. Usha Vidyarthi,
Lecturer, Deptt. of Pol. Science,
T.P.S. College, Patna (Bihar)

With the goal of developing this argument, a straightforward potential objection to this line of explanation must first be addressed.

During elections in many world regions, political parties distribute particularistic benefits to individuals. The standard depiction of this practice as "vote buying" presents an intriguing puzzle: how can vote buying coexist with the secret ballot? Scholars typically understand vote buying as offering rewards in exchange for vote choices (e.g., Hicken 2002, 2–3; Lehoucq 2007, 33; Stokes 2005, 315). But if parties are unable to monitor voting decisions, why can't individuals accept rewards and then vote for their preferred candidates anyway?

Susan Stokes's (2005) insightful article, "Perverse Accountability: A Formal Model of Machine Politics with Evidence from Argentina," greatly advances scholarly research on vote buying by highlighting this commitment problem and offering a plausible solution. Stokes (2005, 315) argues that the Argentine Peronist party uses its "deep insertion in voters' social networks" to violate the secret ballot, and is therefore able to enforce compliance when it rewards weakly opposed voters for switching their votes.

However, the assumption that parties can monitor actions within the voting booth is often too stringent. An alternative explanation, focused on what I term "turnout buying," provides insight into why parties might offer electoral rewards even if they do not compromise ballot secrecy. By rewarding unmobilized supporters for showing up at the polls, parties can activate their own passive constituencies. Turnout buying offers a solution to the secret ballot puzzle, because the strategy does not require monitoring of specific vote choices. Instead, turnout buying requires monitoring *whether* rewarded individuals vote.

Recent elections in the United States provide examples of turnout buying. During the 2004 election, five Democratic Party operatives in East St. Louis were convicted in federal court for offering cigarettes, beer, medicine and $5 to $10 rewards to increase turnout of the poor. One party official pleaded guilty and testified that operatives offered individuals rewards "because if you didn't give them anything, then they wouldn't come out." A local election in Oakland provides another example: campaign workers handed out thousands of coupons for free chicken dinners in an explicit and targeted effort to draw voters to the polls. More broadly, observers in various US cities have complained that some politicians use "street money"—small, unreported cash payments ostensibly used for legal get-out-the-vote efforts such as canvassing and transporting voters—as direct payments for turnout. For example, one journalist examining the use of "street money" in Chicago reports that "members of large families are

still 'hired' by precinct captains on Election Day for $30 to $50 to make sure voters get to the polls." Overall, such examples suggest that turnout buying deserves further investigation.

Unfortunately, the vote-buying literature rarely considers whether particularistic benefits are distributed to mobilize supporters. In general, scholars implicitly assume that parties offer rewards to influence the vote choices of opposing or indifferent voters, and therefore ignore turnout buying. Unlike some broader research on clientelism, most studies of vote buying, including Stokes's (2005) influential paper, never mention mobilization or turnout. There are a few exceptions: Schaffer and Schedler's (2007, 25) excellent conceptual overview of vote buying briefly mentions "participation buying"; Cox and Kousser (1981) note that US parties in the late 1800s rewarded some farmers for showing up at the polls; and legal scholars discuss normative implications of payments for turnout. But most studies fail to distinguish whether rewards are used to influence vote choice or induce electoral participation. And if researchers overlook the role of mobilization, serious analytical mistakes can arise. Thus, much of what scholars interpret as vote buying (exchanging rewards for vote choices) may actually be turnout buying (exchanging rewards for turnout).

This study advances research on electoral rewards by specifying and testing a mechanism by which parties can distribute particularistic benefits to mobilize supporters. Neither of these analytical tasks has been addressed by the existing literature. Formal modelling suggests that turnout buying is incentive-compatible, and also provides several testable predictions: (1) machines will focus rewards on strong supporters, (2) they will target the poor, and (3) they will offer rewards where they can most effectively monitor turnout. The turnout-buying model thus contrasts starkly with Stokes's (2005, 321) vote-buying model, which predicts that machines target weak opposers. Although in reality both strategies coexist, empirical tests suggest that Argentine survey data in Stokes (2005) are more consistent with turnout buying.

The findings of this study also have implications extending beyond research on electoral rewards. Scholars have long debated the logic, mechanisms, and motivations behind parties' distribution of targetable goods (e.g., infrastructure projects and particularistic benefits). Two major formal studies offer conflicting predictions: whereas Cox and McCubbins (1986) argue that parties will distribute targetable goods to core supporters, Lindbeck and Weibull (1987) contend they will target swing voters. Although most of this literature overlooks mobilization, as in the more narrow discussion of vote buying, an important new research agenda motivated by the work of Gary Cox promises to put mobilization at the heart of the debate. In an incisive conceptual paper, Cox (2006) argues that studies focus too narrowly on *persuasion* (changing voters' preferences); when strategies such as *mobilization* (affecting whether citizens vote) are considered, the core-supporter hypothesis is substantially strengthened. The present paper is one of the first formal and empirical studies to tackle the mobilization agenda and thus lays the groundwork for future research.

In order to clarify the distinction between turnout buying and vote buying, Figure 1 provides a typology of electoral mobilization strategies using rewards. Each strategy targets different types of individuals and requires distinct monitoring assumptions. "Vote buying," the exclusive focus of most researchers, targets opposing or indifferent voters and requires monitoring of specific voting decisions. By contrast, "turnout buying" targets nonvoting supporters and requires monitoring turnout. Two other strategies are presented, but not examined thoroughly in this study. By "rewarding loyalists," political parties can offer rewards to supporters who would vote anyway; this strategy does not require monitoring. For example, Diaz-Cayeros, Estévez, and Magaloni argue that parties may offer particularistic benefits to core supporters during elections to sustain electoral coalitions over time. Parties may also engage in "double persuasion," a strategy that rewards opposing or indifferent nonvoters for both turning out and for their vote choices. This strategy requires monitoring both turnout and voting decisions.

Of course, parties may in fact engage in a combination of these

strategies, complicating both formal and empirical analyses. This paper focuses on distinguishing the understudied strategy of turnout buying from vote buying, and thus the formal model makes simplifying assumptions to illuminate this distinction. The Discussion section at the end of the paper returns to this issue, considering how parties may combine strategies.

Turnout Buying in Argentina

In her influential study, Stokes (2005) argues that the Peronist party pays weakly opposed voters to switch their votes. She provides a cogent rational choice model and analyzes one of the most extensive quantitative surveys ever collected on the topic. The present paper, by contrast, argues that turnout buying offers an alternative explanation for observed patterns in Stokes's data.

With the goal of developing this argument, a straightforward potential objection to this line of explanation must first be addressed. Given that voting has been compulsory in Argentina since 1914, it might be hard to see how turnout buying would be relevant in this context. However, as Canton and Jorrat (2003, 199) argue in their study on abstention in Argentine elections, "compulsory voting is not particularly enforced any more." The International Institute for Democracy and Electoral Assistance (IDEA 2006) codes Argentina's enforcement of compulsory voting as "weak" in its international comparison of electoral systems. Although turnout in Argentina is high by international standards, electoral participation reached lows of 78.2% of registered voters in the most recent presidential election of 2003, and 70.9% in the most recent legislative election of 2005 (IDEA; Ministerio del Interior 2006). These levels of electoral participation suggest that compulsory voting does not impose a binding constraint on turnout buying. After all, only 7.4% of respondents in Stokes's (2005) survey reported receiving electoral rewards. Furthermore, rewards predominantly target the poor, who are significantly less likely to vote in Argentina.

The present analysis of turnout buying relaxes Stokes's (2005, 318) assumption that the Peronist party is able to monitor voting decisions effectively. Voting procedures in Argentina make it far easier for the Peronists to monitor *whether* individuals vote. Party delegates are permitted within polling places (*mesas*) and are actually expected to supervise electoral officials as they record who shows up at their designated location. As Canton and Jorrat (2003, 190) explain, "the mesa authorities, under supervision of the party delegates, write on the register list, beside the surname of the person who has just voted, in a special column, the word 'cast.'" Individuals' identity documents are signed and sealed to provide proof of voting, offering yet another way to monitor turnout.

Turnout buying addresses an unresolved puzzle acknowledged by Stokes (2005, 323). A re-examination of the Argentine survey data she analyzes shows that rewards predominantly target machine supporters. This crucial point is consistent with turnout buying, but directly contradicts Stokes's argument that "the machine should not waste rewards" on supporters (317). Vote buying fails to explain why the Peronist "machine"—by far the most active distributor of rewards in Argentina (Stokes, 322)—overwhelmingly targets its own supporters.

References

Auyero, Javier. 2000. "The Logic of Clientelism in Argentina: An Ethnographic Account." Latin American Research Review 35 (October): 55–81.

Brusco, Valeria, Nazareno, Marcelo, and Stokes, Susan C.. 2004. "Vote Buying in Argentina." Latin American Research Review 39 (2): 66–88.

Canton, Darío, and Jorrat, Jorge Raúl. 2003. "Abstention in Argentine Presidential Elections, 1983–1999." Latin American Research Review 38 (February): 187–201.

Cox, Gary W. 2006. *Swing Voters, Core Voters and Distributive Politics*. Paper presented at the Conference on Representation and Popular Rule, Yale University.

Cox, Gary W., and Kousser, J. Morgan. 1981. "Turnout and Rural Corruption—New York as a Test Case." American Journal of Political Science 25 (November): 646–63.

Cox, Gary W., and McCubbins, Mathew D.. 1986. "Electoral Politics as a Redistributive Game." Journal of Politics 48 (May): 370–89.

Diaz-Cayeros, Alberto, Estévez, Federico, and Magaloni, Beatriz. Forthcoming. *Poverty, Vote-Buying and Democracy*.

Dixit, Avinash, and Londregan, John. 1996. "The Determinants of Success of Special Interests in Redistributive Politics." Journal of Politics 58 (November): 1132–55.

Frederic, C. Schaffer, ed. 2007. Elections for Sale: The Causes and Consequences of Vote Buying. Boulder, CO: Lynne Rienner Publishers.

Gerber, Alan S., Green, Donald P., and Shachar, Ron. 2003. "Voting May be Habit Forming: Evidence from a Randomized Field Experiment." American Journal of Political Science 47 (August): 540–50.

Plato's Critique of Hedonism in the Philebus

Dr. Asha Kumari
Head, Deptt. of Pol. Science
R.P. College, Datiyana,
Patna (Bihar)

It is true that the moral character of the critique of hedonism in the Philebus is not immediately apparent, least of all where it is very much in play, in the dialogue's opening, and notoriously abstract, discussions.

The question that unites Plato's Philebus is that of the best way of life for a human being or, more precisely, whether the best human life consists in the enjoyment of pleasure or the possession of knowledge. As the dialogue opens, we learn that Socrates and Philebus have just brought their argument about this question to a halt. Plato thus declines to present that argument to us directly, but he makes perfectly clear its result: it has done nothing whatever to prompt Philebus to abandon his opinion of the superior goodness of pleasure.

In that prior conversation, we now learn, Socrates had contended that prudence, understanding, memory, and their kin are, for all those capable of possessing them, better than and superior to enjoyment, pleasure, delight, and the like—things that Philebus had maintained were good "for all animals". We learn too that Socrates does not object to Philebus' contention that pleasure is good or a good. Socrates, then, is no ascetic or (as he insists later on) he is not one of the "enemies" of Philebus, who have conceived an excessive hatred of pleasure ultimately on what appear to be moral grounds. Rather, he contends and Philebus denies that understanding (to phronein), thinking (to noein), and the like are superior to pleasure, superior in goodness, which here means in the profit or advantage they bestow on those possessing them.

It is striking that Socrates' opening recapitulation, which meets with the complete approval of Philebus, avoids mentioning "the" good in summarizing the two competing positions; Socrates and Philebus, it appears, have been debating simply the relative merits of pleasure and phronçsis or the question of which is the better thing to possess. Socrates' most emphatic statement here, according to which the capacity to share in phronçsis and the like is "the most advantageous thing of all" for all who are or will be so capable, need mean only that these intellectual abilities are particularly useful to us in satisfying our most important needs, not that they satisfy them all completely or permanently, for example, let alone for everyone. He surely does not mean by "good" here some transcendent "good in itself" that is other and higher than what is advantageous to the one possessing the good thing, as a refreshing drink, for example, is good for a thirsty human being. However much Socrates' presentation of what is good will change, in an attempt both to satisfy and to improve Protarchus, he does not explicitly mention "the idea of the good" anywhere in the dialogue. There is also no reason, in the opening sections, to attribute such a transcendent view of "the good" to Philebus.

Protarchus is a different story. Protarchus proves to hope for precisely "the good" so understood, and he is the first in the

dialogue to speak explicitly of it. He is encouraged to do so, it is true, by Socrates' introduction of a crucial question that is a supplement to and hence separate from the summary of the Socrates–Philebus conversation he had just given: "in addition to these points, let us agree also to the following: each of us now will undertake to present a characteristic [hexis] and disposition [diathesis] of soul that is capable of supplying to all human beings the life that's happy". The good thing now on the table, then, is happiness or the good (consider Aristotle, Nicomachean Ethics), and whatever it may be it must be available to all human beings.

To be sure, Philebus himself had asserted that pleasure is good "for all animals", as we noted, whereas Socrates had carefully limited his own case in favor of phronçsis by speaking only of those capable of it. But Philebus probably intended by this phrase nothing other than an emphatic statement of the universality of the goodness of pleasure: that all animals necessarily seek out pleasure is a clear sign of its natural goodness (consider the comparable argument of Eudoxus as reported by Aristotle, Nicomachean Ethics); Philebus surely did not mean to equate the experience of pleasure with "happiness," for we do not properly speak of the happiness of animals. But, to repeat, the good proves to have a very different meaning for Protarchus.

After Protarchus takes over the argument in favor of pleasure, now in the form of the proposition that pleasure is "the" good "for all," for all human beings and animals and even plants, it gradually becomes clear that this qualification amounts in him to the hope that there is a way of life capable of making all human beings happy; Protarchus has some concern for the welfare of all human beings.

Yet this concern would seem to have a root other than hedonism, the most obvious focus of which is the pleasure experienced by the hedonist himself or herself. Protarchus, then, has not faced the most important implication of the most basic premise of hedonism, for he proves to have jumped too quickly to the view that pleasure is "the good"—at one point he claims merely to be repeating what he has heard from others—without having faced squarely the prior and more fundamental question of whose good most concerns him or deserves to concern him, his own good or the good of others.

Accordingly, in order to rid Protarchus of his hedonistic inclination, Socrates simply makes use of Protarchus' own, half-hidden moral opinions; he both elicits Protarchus' latent moralism and encourages it to have its necessary effect on his hedonism. That effect in the course of the Philebus is easy enough to track: having begun from the assertion that the distinction "bad pleasures/ good pleasures" makes no sense because all pleasures are good, Protarchus subsequently admits or contends not merely that there are indeed bad pleasures—which a philosophic hedonist would readily admit on the ground that some immediate pleasures lead to greater pains later on—but that there are unseemly, depraved or wicked, unjust, and shameful pleasures, all of which are of course to be shunned. One might note in this context too Protarchus' remarkable inability to take a stand or at least to keep to one: by means of a very dubious argument Socrates leads Protarchus to abandon early on the view that pleasure is the good, as distinguished from being merely one of at least two goods, and he will for a time agree that pleasure is not good at all—only to accept Socrates' final argument that includes the revelation that the best life will indeed contain certain "pure" pleasures, not in the first or second rank but in (exactly!) the fifth.

It is true that the moral character of the critique of hedonism in the Philebus is not immediately apparent, least of all where it is very much in play, in the dialogue's opening, and notoriously abstract, discussions. The character of those discussions is determined in part by the fact that Protarchus is a "sophisticate." For Protarchus has been exposed to just the kind of rhetorical–sophistic education that Socrates had warned Hippocrates away from in the Protagoras. At the beginning of the dialogue, to repeat, Protarchus wrongly believes that he believes "the good" with which he is concerned to be his own pleasure,

and after considerable exertions Socrates succeeds merely in bringing him back to the necessary beginning point of any serious reflection on the good life, namely, the decent opinion that what we care about most is not our own good (be it pleasure or something else) but virtue in general and justice in particular—to say nothing of "purity."

As laudable as Socrates' accomplishment here is in demolishing Protarchus' confused understanding of hedonism, this very confusion means that Socrates fails to encounter, let alone conquer, hedonism in its full vigor. His manifest success with Protarchus, then, must be judged unsatisfying by anyone who seeks the truth about the matter in order to know how to live. But Protarchus is of course not Socrates' only interlocutor here, and the dialogue's strange title serves to remind us of the presence throughout of Philebus. In fact Socrates himself repeatedly indicates that he remains interested in Philebus and his opinion: he tries early on, with only limited success, to draw Philebus into the conversation with Protarchus, and he continues to speak of and to both young men—even long after Philebus has sunk into a determined silence.

What is one to make of Philebus? As has been indicated, Philebus clearly remains devoted to the goodness of pleasure at the conclusion of his conversation with Socrates. Plato's title, then, by reminding one of the (mostly) silent presence of an obstinate objector, points also to a Socratic failure. It is true that Philebus might appear to be merely a dogmatic hedonist not open to a true conversation with Socrates, let alone a conversion, and some commentators argue, for this or other reasons, that the transition from Philebus to Protarchus as interlocutor constitutes a clear ascent. That Philebus is not an ideal interlocutor seems beyond dispute. If, however, we compare Socrates' summary of his conversation with Philebus to the argument that he insists on in the remainder of the dialogue, we must conclude that he had not put all his cards on the table when speaking with Philebus: the good life is the life of thought and pleasure correctly combined and not, as he had argued before, that of thought as distinguished from pleasure. (Although his summarized argument with Philebus is compatible with pleasure's being a secondary good, Socrates presents as a wholly new turn in the argument, new to Protarchus and hence to Philebus, the proposition that the good life is thought and pleasure combined, a certain "third" thing).

If Philebus remains unpersuaded by a position that Socrates himself abandons, because it turns out not to be his true one, is this not a point in Philebus' favor? Further, it is Philebus who originally took the lead in disputing with Socrates, it is Philebus who interrupts Socrates' remarks on One and Many with a sober and sobering doubt about their relevance, and it is Philebus who evidently enjoys supremacy among the assembled youths, whom he, as their leader, is wont to address as "boys". What is more, in his "worship" of Aphrodite, Philebus is surely a more erotic fellow than Protarchus, whose journey from defender of hedonism to rather priggish marm is amazingly quick; and Socrates himself points out, in a crucial passage, the connection between the soul's eros and (Socratic) dialectic.

References

Bartlett, Robert C. 2003. "Political Philosophy and Sophistry: An Introduction to Plato's Protagoras." American Journal of Political Science 47 (4): 612–24.

Benardete, Seth. 1993. The Tragedy and Comedy of Life: Plato's Philebus. Chicago: University of Chicago Press.

Bolotin, David. 1985. "Socrates' Critique of Hedonism: A Reading of the Philebus." Interpretation 13 (1): 1–13.

Bruell, Christopher. 1993. "Gadamer on Plato: The Art of Interpretation." Review of Politics 55: 1 (Winter 1993), 167–70.

Burnet, John. 1986 [originally published 1901]. Platonis Opera Volume II. Oxford: Oxford University Press.

Bury, R. G. 1973 [originally published 1897]. The Philebus of Plato. New York: Arno Press.

Crisp, Roger. 1997. Mill on Utilitarianism. London: Routledge.

Feldman, Fred. 2001. "Hedonism." In The Encyclopedia of Ethics. 2nd Edition. Lawrence Becker and Charlotte Becker. New York: Routledge.

Feldman, Fred. 2004. Pleasure and the Good Life: Concerning the Nature, Varieties, and Plausibility of Hedonism. Oxford: Oxford University Press.

Frede, Dorothea. 1993. Philebus. ed. and Trans. Indianapolis, IN: Hackett.

Gadamer, Hans-Georg. 1991. Plato's Dialectical Ethics: Phenomenological Interpretations Relating to the Philebus. Trans. Wallace, Robert M.. New Haven and London: Yale University Press.

Gosling, J. C. B. 1975. Philebus. ed and trans. Oxford: Clarendon Press.

Gandhian Ideas in Philosophy

Arati Modak
Lecturer, Department of Philosophy, Rama Devi Bajla Mahila College, Deoghar

> *I do not claim to have originated any new principle or doctrine. I have simply tried in my own way to apply the eternal truths to our daily life and problems...The opinions I have formed and the conclusions I have arrived at are not final. I may change them tomorrow. I have nothing new to teach the world. Truth and non-violence are as old as the hills.*

Gandhism is the collection of inspirations, principles, beliefs and philosophy of Mohandas Karamchand Gandhi (known as Mahatma Gandhi), who was a major political and spiritual leader of India and the Indian Independence Movement. It is a body of ideas and principles that describes the inspiration, vision and the life work of Gandhi. It is particularly associated with his contributions to the idea and practice of nonviolent resistance, sometimes also called civil resistance.

The term "Gandhism" also encompasses what Gandhi's ideas, words and actions mean to people around the world, and how they used them for guidance in building their own future. Gandhism also permeates into the realm of the individual human being, non-political and non-social. A Gandhian can mean either an individual who follows, or a specific philosophy which is attributed to, Gandhism. Eminent scholar, Professor Ramjee Singh has called Mahatma Gandhi the Bodhisattva of the twentieth century.

However Gandhi did not approve of "Gandhism", as for example Leo Tolstoy did in regards to "Tolstoyism," Gandhi explained: There is no such thing as "Gandhism," and I do not want to leave any sect after me. I do not claim to have originated any new principle or doctrine.

I have simply tried in my own way to apply the eternal truths to our daily life and problems...The opinions I have formed and the conclusions I have arrived at are not final. I may change them tomorrow. I have nothing new to teach the world. Truth and non-violence are as old as the hills.

Satyagraha

Satyagraha is formed by two Sanskrit words Satya (truth) and Agraha (holding firmly to). The term was popularized during the Indian Independence Movement, and is used in many Indian languages including Hindi.

Satya

The pivotal and defining element of Gandhism is satya, a Sanskrit word usually translated into English as truth, whose literal meaning is 'what actually is' (deriving from the root verb *as* meaning 'to be'). The principle of Satya as espoused by Gandhi needed that Truth must pervade all considerations of politics, ego, society and convention. Gandhi did not consider himself to be a pacifist, socialist or on any definable spectrum of politics. He professed to adhere to the pure, existing facts of life to make his decisions.

Gandhi's commitments to non-violence, human freedom, equality and justice arose from his personal examination.

Truth is interpreted subjectively. Gandhism does not demand that its adherents agree to Gandhi's own principles to the letter, but in spirit. If one honestly believes that violence is sometimes necessary, it is *truthful* to believe in it. When Gandhi returned to India in the middle of World War I, he said he would have supported the British in the war. It would have been wrong, according to Gandhi, to demand equal rights for Indians in the Empire, and not contribute to its defence. On the other hand, by the time of the advance of the Japanese in World War II, Gandhi had given up notions of fighting alongside the British and argued for nonviolence instead. Gandhiji the father of the nation was a propounder of Ahimsa.

Gandhi developed a way of life by his constant "experimenting with truth" — a phrase that formed the subtitle to his autobiography. He was prepared to learn through trial and error, often admitting to mistakes and changing his behaviour accordingly. This was particularly notable when Gandhi stopped all nationwide civil resistance in 1922 after the Chauri Chaura incident. He would forsake political independence for truth — believing that Indians should not become murderers and commit the very evils they were accusing the British of perpetrating in India.

Gandhism is more about the spirit of Gandhi's journey to discover the truth, than what he finally considered to be the truth. It is the foundation of Gandhi's teachings, and the spirit of his whole life to examine and understand for oneself, and not take anybody or any ideology for granted.

Gandhi said: "The Truth is far more powerful than any weapon of mass destruction."

Gandhi's philosophy encompassed ontology and its association with truth. For Gandhi, "to be" did not mean to exist within the realm of time, as it has in the past with the Greek philosophers. But rather, "to exist" meant to exist within the realm of truth, or to use the term Gandhi did, satya. Gandhi summarised his beliefs first when he said "God is Truth", which his experimenting later prompted him to change to "Truth is God". The first statement seemed insufficient to Gandhi, as the mistake could be made that Gandhi was using truth as a description of God, as opposed to God as an aspect of satya. Satya (truth) in Gandhi's philosophy is God. It shares all the characteristics of the Hindu concept of God, or Brahman, and is believed by Gandhians to live within each person as their conscience while at the same time guiding the universe.

Brahmacharya and Ahinsa

The concept of nonviolence (ahimsa) and nonresistance has a long history in Indian religious thought and has had many revivals in Hindu, Buddhist, Jain and Christian contexts. Gandhi explains his philosophy and way of life in his autobiography, *The Story of My Experiments with Truth*. He was quoted saying:

"What difference does it make to the dead, the orphans, and the homeless, whether the mad destruction is wrought under the name of totalitarianism or the holy name of liberty and democracy?"

"An eye for an eye makes the whole world blind".

"It has always been easier to destroy than to create".

"There are many causes that I am prepared to die for but no causes that I am prepared to kill for".

At the age of 36, Gandhi adopted the vow of brahmacharya, or celibacy. He committed himself to the control of the senses, thoughts and actions. Celibacy was important to Gandhi for not only purifying himself of any lust and sexual urges, but also to purify his love for his wife as genuine and not an outlet for any turmoil or aggression within his mind. Ahimsa, or non-violence, was another key tenet of Gandhi's beliefs. He held that total non-violence would rid a person of anger, obsession and destructive impulses. While his vegetarianism was inspired by his rearing in the Hindu-Jain culture of Gujarat, it was also an extension of ahimsa.

On July 6, 1940, Gandhi published an article in *Harijan* which applied these philosophies to the question of British involvement in World War II. Homer Jack notes in his reprint of this article, "To Every Briton" (*The Gandhi Reader*) that, "to Gandhi, all war was wrong, and suddenly it 'came to him like a flash' to appeal to the British to adopt the method of non-violence." In this article, Gandhi stated,

I appeal to every Briton, wherever he may be now, to accept the method of non-violence instead of that of war, for the adjustment of relations between nations and other matters [...] I do not want Briton to be defeated, nor do I want her to be victorious in a trial of brute strength [...] I venture to present you with a nobler and braver way worthier of the bravest soldier. I want you to fight Nazism

without arms, or, if I am to maintain military terminology, with non-violent arms. I would like you to lay down the arms you have as being useless for saving you or humanity. You will invite Herr Hitler and Signor Mussolini to take what they want of the countries you call your possessions. Let them take possession of your beautiful island, with your many beautiful buildings. You will give all these but neither your souls, nor your minds. If these gentlemen choose to occupy your homes, you will vacate them. If they do not give you free passage out, you will allow yourself, man, woman, and child, to be slaughtered, but you will refuse to owe allegiance to them [...] my non-violence demands universal love, and you are not a small part of it. It is that love which has prompted my appeal to you.

Economics

Gandhi espoused an economic theory of simple living and self-sufficiency/import substitution, rather than generating exports like Japan and South Korea did. He envisioned a more agrarian India upon independence that would focus on meeting the material needs of its citizenry prior to generating wealth and industrializing.

Khadi

Gandhi also adopted the clothing style of most Indians in the early 20th century. His adoption of khadi, or homespun cloth, was intended to help eradicate the evils of poverty, social and economic discrimination.

It was also aimed as a challenge to the contrast that he saw between most Indians, who were poor and traditional, and the richer classes of educated, liberal-minded Indians who had adopted Western mannerisms, clothing and practices.

The clothing policy was designed to protest against the violence of British economic policies in India. Millions of poor Indian workers had been left unemployed and entrenched in poverty, owing to the industrialisation of cotton processing in Britain. Gandhi promoted khadi as a direct boycott of the Lancashire cotton industry, linking British imperialism to Indian poverty.

He focused on persuading all members of the Indian National Congress to spend some time each day hand-spinning on the charkha (spinning wheel). In addition to its point as an economic campaign, the drive for hand-spinning was an attempt to connect the privileged Indian brahmins and lawyers of Congress to connect with the mass of Indian peasantry.

Many prominent figures of the Indian independence movement, including Motilal Nehru, were persuaded by Gandhi to renounce their smart London-made clothes in favour of khadi.

Fasting

To Gandhi, fasting was an important method of exerting mental control over base desires. In his autobiography, Gandhi analyzes the need to fast to eradicate his desire for delicious, spicy food. He believed that abstention would diminish his sensual faculties, bringing the body increasingly under the mind's absolute control.

Gandhi was opposed to the partaking of meat, alcohol, stimulants, salt and most spices, and also eliminated different types of cooking from the food he ate.

Fasting would also put the body through unusual hardship, which Gandhi believed would cleanse the spirit by stimulating the courage to withstand all impulses and pain. Gandhi undertook a "Fast Unto Death" on three notable occasions:

- when he wanted to stop all revolutionary activities after the Chauri Chaura incident of 1922;
- when he feared that the 1934 communal award giving separate electorates to Untouchable Hindus would politically divide the Hindu people;
- and in 1947, when he wanted to stop the bloodshed between Hindus and Muslims in Bengal and Delhi.

In all three cases, Gandhi was able to abandon his fast before death. There was some controversy over the 1934 fast, which brought him into conflict with the Untouchable leader B.R. Ambedkar. In the end, Gandhi and Ambedkar both made some concessions to negotiate the Poona Pact, which abandoned the call for separate electorates in turn for voluntary representation and a commitment to abolish untouchability.

Gandhi also used the fasts as a penance, blaming himself for inciting Chauri Chaura and the divisive communal politics of both 1934 and 1947, especially the Partition of India. Gandhi sought to purify his soul and expiate his sins, in what he saw as his role in allowing terrible tragedies to happen. It took a heavy toll on his physical health and often brought him close to death.

Religion

Hindu Universalism denotes the ideology that all religions are true and therefore worthy of toleration and respect. It was articulated by Gandhi:

"After long study and experience, I have come to the conclusion that [1] all religions are true; [2] all religions have some error in them; [3] all religions are almost as dear to me as my own Hinduism, in as much as all human beings should be as dear to one as one's own close relatives. My own veneration for other faiths is the same as that for my own faith; therefore no thought of conversion is possible." Gandhi believed that at the core of every religion was truth (satya), non-violence (ahimsa) and the Golden Rule. He was deeply influenced by the Christian teaching of "turning the other cheek", once stating that if Christianity practised the Sermon on the Mount, he would indeed be a Christian. Gandhi felt that one should be aware of worshipping the symbols and idols of the religion and not its teachings, such as worshipping the crucifix whilst ignoring its significance as a symbol for self-sacrifice.

Although Gandhi was raised as a Hindu he was critical of most religions, including Hinduism. He wrote in his autobiography:

"Thus if I could not accept Christianity either as a perfect, or the greatest religion, neither was I then convinced of Hinduism being such. Hindu defects were pressingly visible to me. If untouchability could be a part of Hinduism, it could but be a rotten part or an excrescence. I could not understand the raison d'etre of a multitude of sects and castes. What was the meaning of saying that the Vedas were the inspired Word of God? If they were inspired, why not also the Bible and the Koran? As Christian friends were endeavouring to convert me, so were Muslim friends. Abdullah Sheth had kept on inducing me to study Islam, and of course he had always something to say regarding its beauty".

He then went on to say:

"As soon as we lose the moral basis, we cease to be religious. There is no such thing as religion over-riding morality. Man, for instance, cannot be untruthful, cruel or incontinent and claim to have God on his side". Gandhi was critical of the hypocrisy in organised religion, rather than the principles on which they were based. He also said the following about Hinduism:

"Hinduism as I know it entirely satisfies my soul, fills my whole being... When doubts haunt me, when disappointments stare me in the face, and when I see not one ray of light on the horizon, I turn to the Bhagavad Gita, and find a verse to comfort me; and I immediately begin to smile in the midst of overwhelming sorrow. My life has been full of tragedies and if they have not left any visible and indelible effect on me, I owe it to the teachings of the Bhagavad Gita".

The concept of Islamic jihad can also be taken to mean a nonviolent struggle or satyagraha, in the way Gandhi practiced it. On Islam he said:

"The sayings of Muhammad are a treasure of wisdom, not only for Muslims but for all of mankind". Later in his life when he was asked whether he was a Hindu, he replied:

"Yes I am. I am also a Christian, a Muslim, a Buddhist and a Jew".

Gandhi's religious views are reflected in the hymns his group often sang:

- Vaishnav jan to Call them Vishnava, those who understand the sufferings of others...
- Raghupati Raghava Raja Ram Call him Rama or God or Allah...

References

Avalon, Arthur and Ellen : *Hymns to the Goddess*, Ganesh and Co., Madras, 1964.

Bagchi, P. C.: *Studies in Tantras*, University of Calcutta Press, Calcutta, 1939.

Basham, A.L.: *A Cultural History of India*, Clarendon Press, New York, 1975.

Caputo, John D. : *Demythologizing Heidegger*, Indiana University Press, Bloomington, 1993.

Perotti, J.L. : *Heidegger on the Divine: The Thinker, the Poet and God*, Ohio University Press, Athens, 1974.

Ranade. R. D.: *A Constructive Survey of the Upanisadic Philosophy,* Saraswati Press, Poona, 1984.

Schmitt, Richard : *Martin Heidegger: On Being Human: An Introduction to 'Sein und Zeit'*, Random House Inc., New York, 1976.

Comedy of Humours

English

Sumit Kumar Dey
Lecturer, Department of English, J.N. College, Dhurwa, Ranchi

Critics have written about humours comedy as an important phase and aspect of Jonson's dramatic output. Jonson's development of the form, they have argued, showed him immediately as a writer and dramatic theorist of originality and power, and the adoption of the genre by others is evidence of Jonson's influence among his contemporaries.

At the end of the sixteenth century, as part of the general trend toward formal satire, a new form of comedy, known as "humours comedy," began to appear on the Elizabethan stage. The chief practitioner of this new form was Ben Jonson. Drawing upon a view of human nature that dated back to the fifth century, b.c., Jonson wrote plays and developed a comic theory based on a character's predominating trait or "humor," which was adopted by other dramatists of his time, including William Shakespeare, John Marston, and Nathaniel Field. The characteristics of humours comedy are also seen to a lesser extent in works by European writers, most notably the French dramatist Molière.

The idea of humours was first introduced by the Greek physician Hippocrates and later extended by Galen in the second century. "Humours" referred to the four chief fluids of the body—blood, phlegm, yellow bile, and black bile—and it was thought that when these fluids or "vapors" were in proper proportion, they maintained good health in a person. When they were out of balance, they caused disease. The humours also determined a person's basic mental qualities and disposition, and an excess or deficiency of one of the four fluids manifested itself in particular character traits. The theory of humours was popularized in Renaissance England by writers such as Thomas Linacre, Thomas Elyot, and Robert Burton. Jonson drew upon this tradition when he developed his humours comedies. In his plays of this genre, characters are dominated by certain overriding preoccupations that upset their psychological balance, just as an excess in one of the four fluids would upset their bodily health. The emphasis on these comedies, then, is on characters rather than plots. Jonson describes the humours in one of the most important works of humours comedy, *Every Man out of His Humour* (1599): "As when some one peculiar quality/Doth so possess a man, that it doth draw/All his effects, his spirits, and his powers,/ In their conflctions, all to run one way,/This may truly be said to be a humour." Jonson's humor comedies marked a new development in English theater, as his works moved away from the glamour of Renaissance high culture and introduced peculiarly English attitudes and values. Contemporary life and situations were often portrayed in humours comedies. However, the genre's characteristic emphasis on character types and allegorical figures also has its roots in classical sources and earlier English morality plays. There is a strong ethical component to the works, as they denounce certain types of vice and folly. Because of Jonson's influence in theater circles, other dramatists were drawn to his new form of satire, and evidence of his influence was soon seen in their works. Although it is difficult to determine to what extent Shakespeare was influenced by Jonson's theory, his use of the

idea of humours is clear in several of his comedies, most notably *The Merry Wives of Windsor* (1597), *All's Well that Ends Well* (1598), and *Twelfth Night* (1600). Other, younger, writers such as Field and Richard Brome more consciously followed Jonson's lead, and humours characters are seen in a number of their works. Although Jonson's disciples and other dramatists continued to write humours comedies until the 1650s, Jonson himself quickly moved on to more complex forms of satire. Indeed, only four of his plays, *The Case is Altered* (1597), *Every Man in His Humour* (1598), *Every Man out of His Humour,* and *Cynthia's Revels* (1601) are considered true humours comedies. However, the emphasis on character and other characteristics of humours comedy are apparent even in his later works.

Critics have written about humours comedy as an important phase and aspect of Jonson's dramatic output. Jonson's development of the form, they have argued, showed him immediately as a writer and dramatic theorist of originality and power, and the adoption of the genre by others is evidence of Jonson's influence among his contemporaries. Some scholars have claimed that too much is made of humours comedy in discussions of Jonson, and that it was not as significant an aspect of his career as an artist as has been suggested. Critics have also been interested in humours comedy because of its classical roots and the insights it offers into Elizabethan notions of physiology, psychology, and morality.

William Hoffman 1925

American novelist and short story writer.

The following entry presents an overview of Hoffman's career through 2001.

Hoffman is known for composing gritty, realistic works which advocate stable, transcendent values, continual self-discovery, and personal sacrifice as a means to spiritual redemption in a fallen world. Though a regional writer, his works transcend the concerns of the American South through the essential humanity of their characters and themes, which together mirror much of the turmoil of the last half of the twentieth century. The dehumanizing effects of war are clearly delineated in *The Trumpet Unblown* (1957), while the impact of economics on personal lives is central in *The Dark Mountains* (1963). *Tidewater Blood* (1998) exemplifies Hoffman's many narrative strengths, and his four short story collections reflect his philosophical beliefs and agrarian bent.

Biographical Information

Born in 1925 in Charleston, West Virginia, the son of a coal miner, Hoffman was raised by his grandmother, and a strict Presbyterian upbringing strongly influenced his later fiction. Hoffman graduated from high school at the Kentucky Military Institute in Lyndon, Kentucky. At age eighteen he was drafted into the U.S. Army, where he served in the medical corps from 1943 to 1946. His experiences in the Normandy invasion and the Battle of the Bulge shaped three of his novels, *The Trumpet Unblown, Days in the Yellow Leaf* (1958), and *Yancey's War* (1966). Upon his return to the United States, Hoffman enrolled in Hampden-Sydney College, from which he graduated in 1949. Intending to become a lawyer, Hoffman attended Washington and Lee University during 1949-50, where he took a creative writing course. He so enjoyed writing that he decided to make it his life's work; accordingly, he participated in the University of Iowa's Writers' Workshop from 1950 to 1951. He worked briefly as a journalist in Washington, D.C., and then went to New York City, where he held a minor post at the Chase National Bank. Hoffman returned to Virginia in 1952 in response to an offer from Hampden-Sydney College to become an assistant professor of English. When he returned to Virginia, he began writing fiction and adopted the schedule to which he still adheres, writing from five until nine in the morning, teaching, and then writing again in the afternoon.

The discipline this schedule imposed resulted in the completion of two novels, *The Trumpet Unblown* and *Days in the Yellow Leaf.* He continued teaching at Hampden-Sydney through 1959, when he resigned to devote himself to writing full-time. During his time away from academic duties he published two more novels, *A Place for My Head* (1960) and *The Dark Mountains.*

In 1964 he returned to Hampden-Sydney as a writer-in-residence, a post he held for the next seven years. Also in 1964, he purchased a pre-Civil War farmhouse on fifty acres of land near Charlotte Court House for his family, a wife and two daughters. Over the next several years he developed his small farm into a model of self-sufficiency and harmony with the environment of Southside Virginia. *Yancey's War,* another novel, appeared in 1966,

and in 1967 he published a drama, *The Love Touch.* Two novels, *A Walk to the River* (1970) and *A Death of Dreams* (1973), as well as his first short story collection, *Virginia Reels* (1978), were published in the next decade.

Hoffman retired from Hampden-Sydney in 1983 but continues to write. His work has won several prestigious literary prizes, including best story of 1988 from the *Virginia Quarterly Review* for "Sweet Armageddon," the Andrew Lytle Prize from the *Sewanee Review* for "Dancer," and the Jean Charpiot Goodheart Prize for Fiction, awarded by *Shenandoah.* He received a National Endowment for the Arts Creative Writing Fellowship in 1976 and was inducted as a Virginia Cultural Laureate in 1986. Hoffman was awarded the John Dos Passos Prize for Literature in 1992 and the O. Henry Prize in 1996. He was elected to the Fellowship of Southern Writers in 1998, and was a recipient of their Hillsdale Prize for fiction in the same year. *Tidewater Blood* won the Dashiell Hammett award in 1999. Hoffman has received two honorary D. Litt. degrees, one from Hampden-Sydney College in 1980 and another from Washington and Lee University in 1995.

Major Works

Hoffman's sense of place is paramount in his works; almost all of them are set in West Virginia, Virginia, or the Chesapeake Bay area. His work shares much of the outlook and many idiosyncrasies of other Southern Agrarian authors, yet his themes are universal and strongly influenced by the circumstances of his own life. Critics divide his novels into three categories, those concerned mostly with the following: war, the culture of Virginia and West Virginia, and spirituality. In both his novels and his short stories, Hoffman's characters attempt to define themselves, search for distant or unknown fathers, cope with random violence, examine the devastating effects of war, or question the rampant materialism of the last half of the twentieth century.

The Trumpet Unblown tells the story of a young Virginian, Tyree Jefferson Shelby, who altruistically volunteers for service, but in the course of observing unspeakable brutality and venality on both sides loses all faith in humanity. *Days in the Yellow Leaf* recalls the inevitability of Aristotelian tragedy in the unfolding story of the protagonist, Tod Young. A conscientious objector during World War II, his father considers him a traitor and coward, yet Tod remains in the town of his childhood. In his determination to be his own man and to avoid hurting others, he loses everything except, in the end, reconciliation and mutual understanding with his father.

Yancy's War depicts the life of an inept man whose incompetence takes not only his own life but the lives of the men under his command. Hoffman recalls his own West Virginia heritage in *The Dark Mountains,* a rich novel about the coal mining industry during the rise of the labour union movement. Hoffman traces three generations of a family, showing their rise, decline, and ultimate accommodation to circumstances. In *A Walk to the River,* a minister stands falsely accused of committing adultery with the wife of the town's leading citizen. Jackson LeJohn, the chair of the church's board, is charged with overseeing the investigation and congregational meetings that result in the conviction of an innocent man and in the course of discharging his duties, he discovers important things about himself.

Hoffman writes repeatedly about moral decay and rampant materialism in modern American society, a concern that led to three novels sometimes categorized as philosophical or religious in theme—*The Land that Drank the Rain* (1982), *Godfires* (1985), and *Furors Die* (1990). *The Land That Drank the Rain* is a modern day retelling of the tribulations of Job. The protagonist, Claytor Carson, has been living a dissolute life in California but returns to his roots in the Cumberland Mountains seeking spiritual renewal. A character named Vestil Skank, alternately sympathetic and repugnant, is Carson's tormentor and ultimate savior. As Carson attempts to redeem Skank from a life of squalor and degradation, he learns that only through self-sacrifice, personal courage, and interaction with others can he experience redemption. *Furors Die* traces the maturation and relationship of two boys who come from different socioeconomic circumstances but whose lives are irrevocably intertwined. Wylie, born wealthy and given a Southern gentleman's pedigree, and Amos, poor but talented, experience a reversal of fortunes. As the transformation in their lots occurs, their true characters are revealed, permitting self-understanding and growth. *Tidewater Blood,* covers Hoffman's entire fictional geography. Several

members of an aristocratic Virginia family are murdered at a family reunion. Suspicion falls immediately on Charles LeBlanc, the black sheep of the family. A disgraced Vietnam veteran, dishonorably discharged from the armed forces, LeBlanc has been living hermit-like in a swamp. As law enforcement officers attempt to capture him, he embarks on a quest to his family's roots in West Virginia, where he must come to terms with his family's past in order to prove his innocence. Conflicting cultural values and the power of the past over events in the present, themes that Hoffman explores repeatedly in his works, are strong elements of *Tidewater Blood*. Hoffman's spare prose, setting, and central themes are evident in his four short story collections. The stories in *Virginia Reels* are deeply pessimistic and reflective of Hoffman's Calvinist heritage. The stories in *By Land, By Sea* (1988) and *Follow Me Home* (1994) are less dark than those in the first collection, but describe characters caught in fateful forces that have moved beyond their ability to either recognize or control. In contrast to the first two volumes of short stories, *Follow Me Home* contains protagonists with strong values—admirable human beings who have attained innocence through experience. *Doors* (1999) contains ten linked stories that illustrate the fictional town of Tobaccoton, Virginia, which some critics have compared to William Faulkner's Yoknapatawpha County.

Critical Reception

Although long favoured by critics, Hoffman's works have languished among readers, except for a small following of devoted fans. Though the nationally esteemed *Sewanee Review* has, as of 1991, published more short stories by William Hoffman than by any other author, his literary reputation has been slow to extend beyond his home state and Southern vicinity. His supporters note that the range and richness of his work, while confined in setting, is universal in exploring the psychological processes of self-discovery, maintenance of ethical values, and the means to redemption. *The Trumpet Unblown* has been favourably compared to Ernest Hemingway's great war novels and Stephen Crane's *The Red Badge of Courage,* and the characters of *The Dark Mountains* have been favourably compared to those in Robert Penn Warren's *All the King's Men* and F. Scott Fitzgerald's *The Great Gatsby.* While some critics see profundity, even mythic power, in the sparse quality of his narrative style, Hoffman's terse diction has been faulted by some as overly simplistic. Despite such criticism and a long career of relative under-recognition, Hoffman's two recent mystery novels, *Tidewater Blood* and *Blood and Guile* (2000), have earned him a wider popular readership. His thematic concerns, reiterated in all his works, link him to the tradition instituted by such important Southern authors as Warren, Eudora Welty, and Flannery O'Connor.

References

Armstrong, S. : *Using Large Corpora.* Cambridge, MA: The MIT Press, 1994.

Baker, P., Hardie, A., & McEnery, T.: *A Glossary of Corpus Linguistics.* Edinburgh University Press, 2006.

Crystal, David: *English as a Global Language*, Cambridge University Press, Cambridge, 1997.

Dirven, René and Verspoor, Marjolijn. : *Cognitive Exploration of Language and Linguistics*. Amsterdam: Benjamins, 1998.

Eddleman, Floyd Eugene: *American drama criticism ; interpretations, 1890-1977,* Hamden, CT: Shoestring Press, 1979.

Fletcher, Angus: *Allegory: The Theory of a Symbolic Mode,* Cornell University Press, Ithaca, N.Y., 1964.

Frye, Northrop: *Anatomy of Criticism: Four Essays,* Princeton University Press, Princeton, N.J., 1957.

Goldberg, David Theo: *Multiculturalism: A Critical Reader,* Blackwell, Oxford, U.K., 1994.